'द पॉवर ऑफ़ नाउ' न्यू यॉर्क टाइम्स नं. १ सर्वाधिक बिकनेवाली पुस्तक
अंग्रेजी आवृत्ति की ५० लाख से अधिक प्रतियां बिक गईं।

शक्तिमान वर्तमान

आत्मज्ञान प्राप्त करने का एक सरल साधन

अब!
नये, सरल
अनुवाद
में!

एक्हार्ट टॉल्ल

द्वारा रचित

द पॉवर ऑफ नॉउ

का हिन्दी संस्करण

"वर्षों बाद रोचक एक उल्लूट कृति—हर वाक्य विश्वास और शक्ति से लबालब।"
—दीपक चोपड़ा, लकवाग्रस्त के लाल अध्यात्मिक विषय के लेखक

VISIT…

‘द पॉवर ऑफ़ नाउ’

के लिए विश्वभर से प्राप्त प्रशस्तियों में से कुछ प्रशस्तियां

भारतीय

“यह जान कर मुझे सचमुच बहुत अच्छा लगा कि भारत के तथा बाहर के जिन मित्रों ने *द पॉवर ऑफ़ नाउ* को पढ़ा उनके अंत:करण को इसने छुआ है, और हर किसी को एक अलग ही अनुभूति हुई है। यानी, यह एक अत्यंत प्रज्ञापूर्ण और उपयोगी निदानकारी किताब है-इसके जो-जो पैराग्राफ़ आपको सबसे अधिक प्रभावित करते हैं वे यह भी बताते हैं कि आप कौन हैं। एक्हार्ट टॉल्ल यह सब कहीं ऐसी जगह से कह रहे हैं जो कि उनके तन व तंत्रिकाओं से बिल्कुल पार और परे है।”

-फादर लैंसी परेरा एस.जे., *द एन्चान्टेड डार्कनेस* के लेखक,
और सेंट ज़ेवियर कॉलेज मुंबई के पूर्व प्रधानाचार्य

“मैं अपने जीवन को साफ़ तौर पर दो हिस्सों में बांट सकती हूं-एक्हार्ट टॉल्ल को पढ़ने से पहले और एक्हार्ट टॉल्ल को पढ़ने के बाद। एक अत्यंत आध्यात्मिक आर्यसमाजी परिवार में जन्मी और एक फ्रांसीसी कॉन्वेन्ट स्कूल में पढ़ी-बढ़ी मैं आध्यात्मिक किताबों में डूबी रहती थी, गुरुओं और प्रवचनकर्ताओं को खूब सुना करती थी, आध्यात्मिक शिविरों में हफ़्तों बिताया करती थी, लेकिन यह एक्हार्ट टॉल्ल ही हैं जिनमें प्राचीन आध्यात्मिक सत्यों को छान कर उसे समकालीनता में उपयोगी और व्यावहारिक मार्गदर्शक पुस्तक के रूप में प्रस्तुत करने की अद्भुत क्षमता मैंने देखी है।”

-रश्मि उदय सिंह, लेखिका तथा
भोजन व स्वास्थ्य की स्तंभकार

“इस किताब में उन लोगों के जीवन में आशा और प्रकाश लाने की असाधारण क्षमता है जो यह मान बैठे हैं कि उनके जीवन में अब कुछ नहीं बचा है। मैंने इसे पढ़ने की बार-बार सिफ़ारिश की है और जिन्होंने इसे पढ़ा है उनमें आती हुई चमक भी मैंने देखी है। टैरो-काउंसलर के रूप में अपने 13 वर्ष के अनुभव में मैंने पाया है कि जो लोग सहायता की बेहद ज़रूरत में थे उन्हें कोई दूसरी किताब इतनी सहायता नही कर पाई।”

-रोहित आर्य,
द मनी टैरो बुक के लेखक

“आज के युग में प्रकाशित होने वाली यह एक सबसे अद्भुत पुस्तक है-एक ऐसी पुस्तक जो मानव चेतना में एक क्रांतिकारी बदलाव ला सकती है। इसे पढ़िए, लेकिन अपने दिमाग़ से नहीं। अपने अंतरतम तक इसकी आध्यात्मिक सुगंध को पहुंचने दीजिए।”

-देवदास मेनन,
स्टॉप स्लीप वॉकिंग थ्रो लाइफ़ के लेखक

"मैंने अब तक जितनी भी आध्यात्मिक पुस्तकें पढ़ी है, उनमें से इस पुस्तक ने मुझ पर सबसे अधिक प्रभाव डाला है... आज अगर कोई मेरा आध्यात्मिक मार्गदर्शक है तो वह यह पुस्तक ही है... इसे अवश्य पढ़ें। यह आपके जीवन को बदल सकती है।"

-सुमा वर्गीज़,
संपादक *लाइफ़ पॉज़िटिव* पत्रिका

"अपनी शिक्षाओं में, एक्हार्ट प्राचीन आध्यात्मिक मनीषियों की कालजयी व स्पष्ट व्याख्या के साथ-साथ एक एक-सूत्रीय गहरा संदेश देते हैं-'वर्तमान की शक्ति के रूपांतरणकारी अनुभव के लिए खुद के द्वार खोल देना' ही मानवी दुख से बाहर निकलने का मार्ग है'।"

-मीना कपूर, साइकोथेरेपिस्ट तथा
आध्यात्मिक संगीत एल्बमों की रचयिता

अंतर्राष्ट्रीय

"*द पॉवर ऑफ़ नाउ* में संत-लेखक एक्हार्ट टॉल्ल पाठकों का मार्गदर्शन करने के लिए शब्दों का कुछ इस तरह प्रयोग करते हैं कि वे उन्हें शब्दों के पार ले जाते हैं। सदा-सर्वदा प्रेज़ैंट रहने के लिए, प्रवेश द्वारों की ओर इंगित करते हुए व्यावहारिक, आध्यात्मिक, आधुनिक शुभ संदेश वाली यह पुस्तक अंतर्ज्ञान के ऐसे सत्यों के दर्शन कराती है जो हमें मुक्त कर देते हैं।"

-डैन मिलमैन, *एव्रीडे एन्लाइटेनमैन्ट* तथा
द लॉज़ ऑफ़ स्पिरिट के लेखक

"अध्यात्म को प्रश्नोत्तरी के रूप में बोधगम्य बना दी गई इस पुस्तक में, एक्हार्ट टॉल्ल द्वारा ज्ञान के एकत्रित दानों को एक 'रोज़ की रोटी' की तरह प्रस्तुत किया गया है। सत्य के खोजियों के इस युग में, चैतन्य सजगता को प्रज्वलित करने वाली यह पुस्तक अवश्य ही पढ़ी जानी चाहिए।"

-डेविड एल. जोन्स,
ए वारियर इन द लैंड ऑफ़ डिज़ीज़ के लेखक

"मैं आज के सभी आध्यात्मिक जिज्ञासुओं से इस अत्यंत प्रेरणाप्रद पुस्तक को पढने के लिए पूरी गंभीरता के साथ संस्तुति करता हूं।"

-लामा सूर्य दास,
अवेकनिंग द बुद्ध विदिन के लेखक

"एक्हार्ट के शब्दों के पीछे एक ऐसी शक्ति है जो केवल किसी सर्वोच्च प्रतिष्ठित आध्यात्मिक शिक्षक में ही हो सकती है। अपनी इस विशाल उत्कृष्टता की गहराई में से जीते हुए, एक्हार्ट दूसरों को अपने साथ लेने के लिए उनका मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं।"

-रसल ई. डिकार्लो,
टुवॉर्ड्स् ए न्यू वर्ल्ड व्यू: कन्वर्सेशंस एट द लीडिंग ऐज के लेखक

"मेरे एक ग्राहक ने मुझे *पॉवर ऑफ़ नाउ* पढ़ने के लिए कहा था। मैंने इसका एक पेज ही पढ़ा था कि मैं मान गया कि वह सही कह रहा था। यह स्पष्टता व अंतर्दृष्टि का एक नगीना है। किताबों की हमारी दुकान 'ईस्ट वैस्ट ' पर तो यह अघोषित बैस्ट सैलर हो ही गई है।"

-नॉर्मन स्निटकिन,
सीटल में 'ईस्ट वैस्ट ' बुक शॉप के सह प्रबंधक

"एक्हार्ट टॉल्ल की इस कमाल की किताब को पढ़ने की मैं खुल कर सिफ़ारिश किया करता हूं। मैं जानता हूं कि जिसने भी इस किताब को उठा कर देखा है वह इसे लेकर ही गया है। *द पॉवर ऑफ़ नाउ* अपनी ही खूबियों के बल पर और एक दूसरे से सुनते-सुनाते हुए ही खूब बिक रही है।"

-स्टी फ़ेन गावत्री,
प्रबंधक वाट्किन्स बुक्स लि. लंदन

"गत दशक में लिखी गई आध्यात्मिक जीवन पर सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक।"

-थंडरबर्ड बुक शॉप, कारमेल, कैलिफ़ोर्निया

"*द पॉवर ऑफ़ नाउ* बिना किसी प्रचार के हमारे यहां आई और जल्द ही बैस्ट-सैलर बन गई। बहुत से लोगों को आज के समय में यह 'सही किताब' लग रही है। इसका लेखन घंटे की आवाज़ की तरह स्पष्ट है, इसके शब्दों में सत्य की गूंज है। वास्तव में यह एक अद्भुत व अनोखी पुस्तक है जो लोगों के जीवन में वाक़ई एक बदलाव लाने का आश्वासन देती है।"

-टॉम ओकले, बेनाइन बुक्स, वैंक्यूवर,
ब्रिटिश कोलंबिया

"एक ऐसे व्यक्ति द्वारा लिखित आध्यात्मिक जागरण की पुस्तक जो कि इस विषय पर इस पीढ़ी के सबसे स्पष्ट शिक्षक के रूप में उभर रहा है।"

-ट्रांज़िशंस बुकप्लेस, शिकागो

"ताज़ी, रहस्योद्घाटन करती, सामयिक नई प्रेरणा है यह। मेरे सामने से गुज़रने वाली अनेकों आध्यात्मिक पुस्तकों में से यह पुस्तक सबसे अलग है... अगर आप अपनी आत्मा से वापस जुड़ना चाहते हैं तो यह पुस्तक आपके लिए सही साथी सिद्ध होगी।"

-जोसेफ़ रॉबर्ट्स,
कॉमन ग्राउंड, वैंक्यूवर, ब्रिटिश कोलंबिया

"टॉल्ल दो मोर्चों पर कामयाब रहे हैं: आध्यात्मिक चैतन्यता प्राप्त करने के लिए जीसस और बुद्ध जैसे प्रबुद्ध जनों की शिक्षाओं का समन्वय करके उन्हें सरल व सुबोध बनाने में, और यह प्रबल दावा करने में कि इस संसार में दुख का मूल कारण है इंसान का खुद को अपने मन के प्रभुत्व से मुक्त कर पाने और वर्तमान में जीने में असमर्थ होना... वैयक्तिक

शांति तथा वैश्विक कल्याण दोनों के ही लिए *एन्लाइटेनमैन्ट* को प्राप्त करना आवश्यक बताने के साथ-साथ वह उसे प्राप्त करना सुगम भी बनाते हैं।"

-*फ़ोरवर्ड* पत्रिका

"एक घनी तथा असरदार स्पष्टता के साथ, टॉल्ल का मार्गदर्शन हमें अपने भीतर के सर्वोत्तम तथा उच्चतम स्थान तक ले जाने का, सच्चे रूपांतरण की ऊर्जा को प्रतिबिंबित करने का वादा निभाता है।"

-*स्पिरिट ऑफ़ चेंज* पत्रिका

"इस पुस्तक ने मुझे राहत दी है, अत्यंत प्रेरणा दी है, और मेरी निजी यात्रा के लिए एक अंतर्दृष्टि के बाद दूसरी अंतर्दृष्टि दी हैं। इसे पढ़ना एक आनंद था, दिव्य ज्ञान प्राप्त होना था।"

-अल्बर्ट कूपमैन,
बिज़नेस एक्सी क्यूटि व

"यह पुस्तक हमें एक अदभुत उपहार देती है लेकिन उस उपहार को ग्रहण करने की हिम्मत हममें होनी चाहिए। इस उपहार को ग्रहण करने के लिए मैं आपको प्रोत्साहित करता हूं। मेरा मानना है कि इस धरती पर हमारा वजूद उस आंतरिक यात्रा पर ही निर्भर करेगा जिस पर चलने का आग्रह एक्हार्ट टॉल्ल हमसे कर रहे हैं।।"

-बिल कारपेंटर,
व्यवसायी और आध्यात्मिक जिज्ञासु

"मुझे लगता है कि यह पुस्तक मुझ जैसे उन सभी लोगों के लिए एक कमाल का परिप्रेक्ष्य है जो ए कोर्स इन मिरेकिल्स द्वारा और दीपक चोपड़ा की सफलता के सात आध्यात्मिक सिद्धांत द्वारा बड़ी वाक्पटुता से दिए गए संदेश का समाकलन करना चाहते हैं। जब कभी भी मैं इस पुस्तक के किसी पेज का पुनः अवलोकन करता हूं तो पिछली बार की अपेक्षा उसका एक नया व गहरा अर्थ प्रकट होते देख कर चकित रह जाता हूं।"

-जीन पियरे, सी ई ओ सेज
(प्राकृतिक स्वास्थ्य सामग्री के उत्पादक तथा विक्रेता)

"मैं जीवन, उसके अर्थ, उसके कल्याण व स्वास्थ्य की तलाश करता रहा लेकिन दुर्भाग्यवश इस सब को मैं अपने से बाहर ही तलाशता रहा। *द पॉवर ऑफ़ नाउ* ने ही मुझे दिखाया कि जीवन के उन ख़जानों को अपने ही अंदर कैसे तलाशा जाए।"

-जॉन कुचेंथल,
ऑर्ग नाइज़ेशनल डवलपमैंट कंसल्टैंट

"पढ़ने के लिए अगर मुझे केवल एक ही किताब दी जाए तो मैं एक्हार्ट टॉल्ल की *द पॉवर ऑफ़ नाउ* को ही चुनना पसंद करूंगी। क्यों? क्योंकि इस किताब में से प्रेम झलकता है-केवल इसके शब्दों में से ही नहीं बल्कि शब्दों के बीच के रिक्त स्थानों में से भी। जितना इस किताब ने मेरे अंतर्मन को, मेरे परिवेश को सहज किया है, उतना किसी और किताब ने नहीं किया।"

-पैट्रीशिया गॉर्डन,
कैलगरी, एल्बर्टा

शक्तिमान

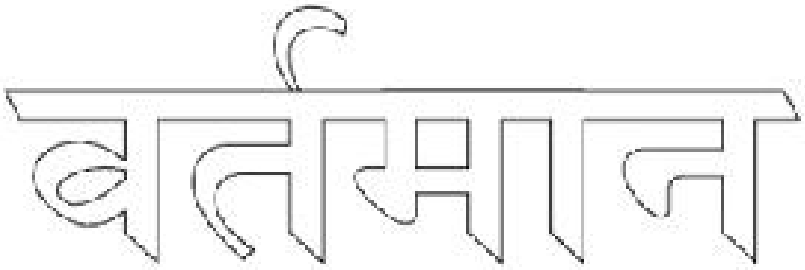

आत्मज्ञान प्राप्त करने का एक सरल साधन

एक्हार्ट टॉल्ले

अनुवाद
अचलेश चंद्र शर्मा

Yogi Impressions®

YogiImpressions®

Yogi Impressions LLP

1711, Centre 1, World Trade Centre,
Cuffe Parade, Mumbai 400 005, India.
Website: www.yogiimpressions.com

Copyright © 2001 by Eckhart Tolle

Hindi translation by: Achalesh Chandra Sharma
Edited by: Shiv Sharma

Photograph of Author: Colin Low

All rights reserved. This book may not be reproduced in whole or in part, or transmitted in any form, without written permission from the publisher, except by a reviewer who may quote brief passages in a review; nor may any part of this book be reproduced, stored in a retrieval system, or transmitted in any form or by any means electronic, mechanical, photocopying, recording, or other, without written permission from the publisher.

Originally published in Canada by
Namaste Publishing Inc., 1997
and in the United States by
New World Library, 1999

First India printing (English): March 2001
Thirty-eighth reprint: February 2016
First Hindi printing: December 2003
Revised edition: May 2018

ISBN 978-81-88479-55-9

ब्रह्मांड के दिव्य प्रयोजन का रहस्यो द्घाटन करने के लिए ही आप यहां हैं। इसी से विदित होता है कि आप कित ने महत्वपूर्ण हैं!

-एक्हार्ट टॉल्ल

विषय सूची

अनुवादक की ओर से

प्रस्तावना

आभार

विषय परिचय

- इस पुस्तक का अवतरण
- वह सत्य जो आपके भीतर ही विराजमान है

अध्याय एक: अपना मन नहीं हैं आप

- आत्मज्ञान में सबसे बड़ी बाधा
- खुद को अपने मन से मुक्त कीजिए
- *एन्लाइटेनमैन्ट* : विचार के स्तर से ऊपर उठना
- भावना: आपके मन के प्रति आपके तन की प्रतिक्रिया

अध्याय दो: चैतन्यता-दुख से बाहर निकलने का मार्ग है

वर्तमान में अब और दुख पैदा मत कीजिए

अतीत का संचित दुख: इस संचित दुख का अंत करना

संचित-दुख के साथ अहं का तादात्म्य हो जाना

भय का स्रोत

अहं को पूर्णत्व की तलाश रहती है

अध्याय तीन: 'अब' में गहरे उतरिए

खुद को मन में तलाश मत कीजिए

समय के भ्रम को तोड़ डालिए

'अब' से बाहर कुछ नहीं है

आध्यात्मिक आयाम का मूल सिद्धांत

'अब' की शक्ति में प्रवेश करना

मानसिक समय को अलविदा कीजिए

मानसिक समय का पागलपन

नकारात्मकता व दुख की जड़ें तो समय में समाई हुई हैं

अपनी जीवन-परिस्थितियों के तले जीवन की तलाश

जितनी भी समस्याएं हैं वे सब मन की ही भ्रांतियां हैं

चेतना के विकास में बड़ी छलांग

बीइंग का आनंद

अध्याय चार: 'अब' से दूर रहना मन की ही एक रणनीति है

'अब' का लोप होना: सबसे बड़ी ग़लतफ़हमी

सामान्य अचैतन्यता और असामान्य चैतन्यता

उन्हें तलाश क्या है?

सामान्य अचैतन्यता का अंत करना

अप्रसन्नता से मुक्ति

आप जहां भी हों, पूर्णतया वहां ही हों

आपकी जीवन यात्रा का आंतरिक प्रयोजन

अतीत आपके वर्तमान में कभी जीवित नहीं रह सकता

अध्याय पांच: वर्तमान में विद्यमान रहने की अवस्था

जो आप समझ रहे हैं, यह वह नहीं है

'इंतज़ार करने' का गूढ़ अर्थ

आपकी विद्यमानता की नीरवता व निश्चलता में ही प्रस्फुटित होता है सुन्दरम्

विशुद्ध चेतना की पहचान

क्राइस्ट : आपकी दिव्य विद्यमानता की वास्तविकता

अध्याय छः आंतरिक शरीर

आपका अंतरतम स्व ही *बीइंग* है

शब्दों के पार देखिए

अपनी अदृश्य और अविनाशी वास्तविकता की पहचान

अपने आंतरिक शरीर के साथ जुड़ना

अपना रूपांतरण कीजिए अपने शरीर के माध्यम से

शरीर पर प्रवचन

आपकी जड़ें आपके अंतरतम में गहरे तक रहें

पहले क्षमा करें, फिर मंदिर जाएं

अव्यक्त के साथ आपका संबंध

आयु की प्रक्रिया के प्रभाव को मंद करना

रोग प्रतिरोध प्रणाली को मज़बूत करना

अपने श्वास-प्रश्वास द्वारा अपने शरीर में प्रवेश करना

अपने मन का रचनात्मक प्रयोग करना

सुनने की कला

अध्याय सात: अव्यक्त में प्रवेश करने के द्वार

अपने शरीर में गहरे उतरना

'ची' का स्रोत

स्वप्नरहित निद्रा

अन्य द्वार

निःशब्दता: नीरवता

आकाश: रिक्त स्थान

आकाश और समय का वास्तविक स्वभाव

चैतन्य मृत्यु

अध्याय आठ: आत्मज्ञान से परिपूर्ण संबंध

जहां भी आप हैं वहीं से 'अब' में प्रवेश कीजिए

प्रेम/अप्रेम के संबंध

चस्का और पूर्णत्व की तलाश

लत जैसे संबंध से *एन्लाइटेन्ड* संबंध की ओर

संबंध-आध्यात्मिक साधना के रूप में

महिलाएं *एन्लाइटेनमैन्ट* के निकटतर क्यों हैं

महिलाओं के संचित-दुख का अंत करना

ख़ुद के साथ संबंध को ख़त्म कर दीजिए

अध्याय नौ: सुख-दुख के पार है शांति

भले-बुरे के पार है उच्चतर भलाई

अपने जीवन में नाटकों का अंत करना

अस्थायित्व और जीवन चक्र

नकारत्मकता का इस्तेमाल करना और त्यागना

करुणा का स्वभाव

वास्तविकता की एक भिन्न व्यवस्था की ओर

अध्याय दस: समर्पण का अर्थ

'अब' को स्वीकार करना

मानसिक शक्ति से आध्यात्मिक शक्ति की ओर

निजी संबंधों में समर्पण

अपनी रुग्णता को *एन्लाइटेनमैन्ट* में रूपांतरित कर दीजिए

जब कोई आपदा आ पड़े

दुख को शांति में बदलना

सलीब वाला तरीका

चयन करने की शक्ति

नोट्स

लेखक के बारे में

अनुवादक की ओर से

'योगी इंप्रैशन्स' का मैं सचमुच आभारी हूं कि उन्होंने एक्हार्ट टॉल्ल की किताब *द पॉवर ऑफ़ नाउ* का अनुवाद करने के लिए मुझे दिया क्योंकि इसका अनुवाद करते-करते ही इसने तो जैसे मेरा रूपांतरण ही कर दिया है। अनुवाद करने के दौरान इसके शब्द, इसके वाक्य और इसकी विषय-वस्तु मुझे भीतर तक इतनी प्रभावित करती चली गई कि मेरे अंदर बहुत कुछ बदलता चला गया, मेरे अंदर रहने वाली उद्विग्नता, व्यग्रता, अधीरता और दुख सदा के लिए विदा हो गए लगते हैं, लगता है कि जैसे मेरा जीवन समस्यारहित हो गया है। आध्यात्मिक रूचि रखने वाले अपने कुछ मित्रों के साथ बैठे हुए एक दिन जब मैंने अपनी इस अवस्था का ज़िक्र किया तो उनमें से एक ने शायद मजाक में कहा, "इसका मतलब तो यह हुआ कि आप *एन्लाइटेन्ड* हो गए।" इस पर मेरे अंदर से जो स्वतः स्फुरित उत्तर आया वह था-"मैं नहीं जानता कि *एन्लाइटेनमैंन्ट* क्या होता है लेकिन लगता है कि जैसे मुझमें अब कोई उद्विग्नता, कोई दुख नहीं रहा है, कोई समस्या नहीं रही है।"

वाक़ई, इतनी प्रभावशाली है एक्हार्ट टॉल्ल की वह किताब जिसका अनुवाद इस समय आपके हाथों में है। आध्यात्मिक विषय का अनुवाद करना काफ़ी कठिन होता है, कठिन इस अर्थ में कि ऐसे विषय में एक भाषा के शब्दों के उसी वज़न तथा उसी *विज़न* के शब्द दूसरी भाषा में मिल पाना कठिन होता है-चाहे वह अनुवाद किसी भी भाषा से किसी भी भाषा में किया जा रहा हो। इस किताब का अनुवाद भी इस बात का कोई अपवाद नहीं रहा। इसलिए, इस किताब में प्रयुक्त कुछ मुख्य व महत्वपूर्ण शब्दों का उल्लेख कर देना मैं आवश्यक समझ रहा हूं ताकि यह किताब हर हिंदी पाठक के भीतर भी उसी तरह उतर सके जैसे मुझमें उतरी है।

मूल पुस्तक *द पॉवर ऑफ़ नाउ* में जो शब्द विशेष महत्व रखते हैं उनमें सबसे पहला है-Being, इस शब्द की व्याख्या स्वयं एक्हार्ट ने इस किताब में कई जगहों पर की है, इसलिए इस किताब को पढ़ते समय इस शब्द का गहन व गूढ़ अर्थ तो आपको स्वयं एक्हार्ट ही बता देंगे। हिंदी में इस शब्द के लिए कई शब्दों को प्रयोग किया जाता रहा है, जैसे अस्तित्व, वजूद, सत्व, आत्मा, अंतरात्मा इत्यादि, लेकिन इनमें से किसी का भी प्रयोग करने जो समस्या सामने आती है वह यह कि ये सभी शब्द हमारे हिंदी परिवेश में

अपना एक अलग ही अर्थ रखते हैं और उसी अर्थ में वे हमारे मानस में रूढ़ भी हो गए हैं। इसलिए इनका प्रयोग करना हमें Being तक पहुंचने में सहायक सिद्ध न होकर बाधक सिद्ध होगा। इसके अलावा, अधिकांशतः ये शब्द Being के अर्थ को पूरी-पूरी तरह अभिव्यक्त भी नहीं कर पाते हैं। इसलिए, 'जो पढ़ा जाए वही समझा जाए' वाले सिद्धांत के अनुसार मैंने इसे रोमन हिंदी में बीइंग ही लिखने का निश्चय किया है ताकि लेखक की बात और बीइंग का भाव आपकी समझ में सीधा-सीधा उतर सके। दूसरा शब्द है-Enlightenment इसके लिए आत्मज्ञान या ज्ञानप्राप्ति शब्दों को प्रयोग किया जाता है। काफ़ी हद तक सटीक होने के बावजूद, ये शब्द भी Enlightenment की अपनी व्यापकता को पूरी तरह प्रकट नहीं कर पाते हैं, इसलिए लेखक की बात को आपके हृदय में सीधे व स्पष्ट रूप से उतारने के लिए मैंने इसे भी हिंदी रोमन में ही एन्लाइटेन्मैंट लिखने का निश्चय किया है। तीसरा शब्द है-Presence या Present, इसके लिए आमतौर पर 'उपस्थिति' या 'विद्यमानता' का प्रयोग किया जाता है, लेकिन 'उपस्थिति' तथा 'विद्यमानता' में शारीरिक रूप से उपस्थित रहने की झलक अधिक रहती है जब कि इस किताब में लेखक ने Presence को एक ऐसे व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया है जिसमें कि आप अपने शरीर के साथ-साथ अपने ध्यान से, अवधान से, अपने पूरे वजूद से वहीं होते हैं जहां कि आप हैं। अतः इस शब्द के लिए मैंने आवश्यकता के अनुसार उपस्थिति, विद्यमानता के अलावा प्रेज़ैंस का भी प्रयोग किया है। इस किताब में अनेक स्थानों पर प्रयुक्त किया गया एक हिंदी शब्द है-तादात्म्यता (जिसे अंग्रेज़ी के शब्द identification के लिए प्रयुक्त किया गया है)। तादात्म्यता उस अवस्था को कहते हैं जब आप अपना अस्तित्व को भूल कर खुद को किसी दूसरे के साथ इतना मिला देते हैं कि आप पूरी तरह उसके साथ अभिन्न, एकाकार और एकजान हो जाएं, घुल जाएं, और खुद को वही समझने लगें क्योंकि तब उसकी सोच ही आपकी सोच हो जाती है-चाहे वह कोई व्यक्ति हो, पंथ हो, दल हो, या आपका अपना ही मन हो। इस किताब को पढ़ने के लिए इस शब्द को समझना बहुत महत्वपूर्ण है।

अनुवाद को काफ़ी सरल करने का प्रयास किया गया है लेकिन जिस विषय पर यह किताब लिखी गई है चूंकि वह एक गंभीर विषय है इसलिए कहीं-कहीं इसे एकदम तरल जैसा सरल नहीं किया जा सकता था। वहां, जैसा कि लेखक ने भी कहा है, अटक मत जाइयेगा, बल्कि पढ़ते जाइयेगा, क्योंकि आगे चल कर वह बात स्वयं स्पष्ट होती चली जायेगी।

इस किताब में लेखक ने बुद्ध द्वारा दी गई एन्लाइटेनमैन्ट की परिभाषा का उल्लेख किया है: 'दुख का अंत हो जाना'। उसी एन्लाइटेनमैन्ट की आपकी यात्रा का शुभारंभ है यह किताब!

-अचलेश शर्मा, मेरठ
acsharma.trans@gmail.com

प्रस्तावना

यह मेरा सौभाग्य ही था कि सितंबर 2000 में, कनाडा के वैंकुवर से ठीक बाहर कोर्ट्स आइलैंड के हॉलीहॉक में एक्हार्ट के एक आध्यात्मिक शिविर (रिट्रीट) में भाग लेने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ। जिस पुस्तक का अनुवाद इस समय आपके हाथों में है, उसे पढ़ने के बाद, दुनिया के विभिन्न भागों से लगभग 120 लोग वहां एकत्र हुए थे। इस पुस्तक ने उनको इतनी गहराई तक प्रभावित किया था कि इस महान आध्यात्मिक शिक्षक को सुनने और उसकी संगत में कुछ दिन बिताने के लिए वे विभिन्न महाद्वीपों से यात्रा करके वहां आए थे।

एक्हार्ट की शिक्षाओं के सारतत्व को अगर मुझे एक सूत्र में समेटना पड़े तो मैं उसे 'वर्तमान पल के प्रति सजग रहना' ही कहूंगा। उनकी पुस्तक *'द पॉवर ऑफ़ नाउ'* (जिसका अनुवाद आपके हाथों में है) का भी सारतत्व यही है। उनके शब्दों को पढ़ते हुए, इसे आप अपने अंदर गहराई तक महसूस भी करेंगे। अतीत में रमे रहने या भविष्य के बारे में चिंता करते रहने के बजाय, एक्हार्ट हमें वर्तमान पर फ़ोकस करने का रास्ता दिखाते हैं- जो कि चैतन्यता की एक अवस्था है, जो कि समय की बोझिल बेड़ियों से मुक्त होना है। उन्हीं के शब्दों में: "भूतकाल में कभी कुछ घटित नहीं हुआ, जो कुछ घटित हुआ है वह 'अब' में हुआ है। भविष्य में भी कभी कुछ घटित नहीं होगा, जो कुछ होगा वह 'अब' में होगा।"

इस पुस्तक को प्रश्नोत्तरी वाले सरल स्वरूप में प्रस्तुत किया गया है ताकि हमारे सामने हमारा सहज स्वभाव बना रहे। इससे, यह पुस्तक पढ़ने में सरल और समझने में सुगम हो गई है। एक दिन में इसके कुछ ही पन्ने पढ़ना इस पुस्तक को पढ़ने का सबसे अच्छा तरीका होगा ताकि पढ़े गए शब्दों पर आप मनन-मंथन व चिंतन कर सकें, और जो पढ़ा गया है उसके सत्य को अनुभूत भी कर सकें। एक्हार्ट एक मार्गदर्शक देवदूत की तरह जैसे आपका हाथ थाम लेते हैं और आपको साथ लेकर कदम-दर-कदम एक ऐसे जीवन की ओर आगे बढ़ रहे होते हैं जो दुखरहित है, चिंतारहित है। यह पुस्तक सविस्तार यह बताती है कि किस तरह अपने दुख हम खुद ही रच रहे हैं और खुद को अपने मन के साथ तादात्म्य कर लेने की, यानी खुद को अपने मन के साथ एकाकार व एकजान कर लेने की

गलती हम लगातार करते रहते हैं। हम यह सोचने की गलती करते रहे हैं कि हम अपना मन ही हैं, या यह मन ही हम हैं।। लेकिन, इस पुस्तक की विशेषता यह है कि जब भी हम इसे पढ़ते हैं तो अपने किसी प्रश्न के या अपने जीवन की किसी परिस्थिति के उत्तर स्वरूप हमें हर बार इसमें एक नया ही अर्थ मिल जाया करता है।

इस पुस्तक की एक चमत्कारी विशेषता यह भी है कि एक्हार्ट हमें ऐसी जगह ले जाने के लिए शब्दों का प्रयोग कर रहे होते हैं जो कि शब्दों से परे है, जहां मौन बसता है। और, तब हम उस मौन में, उस आंतरिक शांतता में, यानी 'अब' में पहुचं जाते हैं। इस 'अब' में, इस वर्तमान पल में, समस्याओं का कोई वजूद ही नहीं रहता, क्योंकि उसमें तो सर्वत्र केवल वर्तमान ही वर्तमान विराजमान रहता है।

वास्तव में, अनेक परंपराओं के गुरुओं द्वारा-और विशेष रूप से भारतीय दर्शन द्वारा-मौन को, शांतता को ही आध्यात्मिक पहलू का असल मार्ग माना गया है, और मौन की प्रज्ञा का महत्व सदा-सर्वदा निस्संदेह प्रतिबिंबित भी होता आया है। बुद्ध पर एक वार्ता देने के दौरान श्री श्री रविशंकर ने कहा था, "शब्द जीवन को नहीं ग्रहण कर सकते, शांतता कर सकती है।" अद्वैत के समकालीन सुप्रसिद्ध विद्वान रमेश एस. बालसेकर के शब्दों में, "मौन की शक्ति, दरअसल, विचारों के बीच के अंतराल में ही विद्यमान रहा करती है... इसलिए, जाग्रत होने के लिए हमें केवल इतना करने की ज़रूरत है कि अपने विचारों की निरंतर दौड़ को तनिक रोक दिया जाए।"

एक्हार्ट ताज़ा बयार के एक झोके की तरह हैं क्योंकि वह किसी ख़ास परंपरा की या किसी ख़ास गुरू की लीक पर नहीं चल रहे हैं, लेकिन फिर भी कमाल की बात यह है कि अपनी पहली किताब लिख कर ही उन्होंने न जाने कितने लोगों के जीवन को बदल दिया है। प्रभावोत्पादकता में तो इस किताब का संदेश अद्वितीय है। कनाडा में प्रहली बार प्रकाशित होने से लेकर आज तक, *द पॉवर ऑफ़ नाउ* की बीस लाख से अधिक प्रतियां बिक चुकी हैं और तीस भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। मैं ऐसे अनेक ऐसे लोगों से मिल चुका हूं जो यह दावा करते हैं कि इस किताब ने उनके जीवन का कायाकल्प कर दिया है, उनके संबंधों का कायाकल्प कर दिया है-खुद के साथ भी और दूसरों के साथ भी। शुद्ध हृदय से मेरी कामना है कि यह किताब आपके जीवन का व आपके संबंधों का भी कायाकल्प कर देगी।

यह बात वाकई अचंभित करने वाली है कि इस पुस्तक को प्राप्त करने का सौभाग्य हमें तब मिल रहा है कि जब मानव जाति एक नई सहस्राब्दि में प्रवेश कर रही है और मानवता चैतन्यता के एक उच्चतर स्तर पर आरूढ़ हो रही है। आध्यात्मिकता के मार्ग पर उमड़ कर आ रहे ऐसे लोगों की संख्या में लगातार बढ़ोतरी हो रही है जो अपने जीवन की गुणवत्ता को बेहतर करना चाहते हैं और जो इस संसार को एक बेहतर स्थान बनाने के लिए प्रयासरत हो रहे हैं। दरअसल, हम सभी मनुष्य आध्यात्मिक ही हैं, और इसी बात

का बोध कराने में यह पुस्तक हमारी मदद करती है। एक्हार्ट के ही शब्दों में, "मैं आपको ऐसा कोई आध्यात्मिक सत्य नहीं बता सकता जो कि आपके अंत:करण की गहराई में पहले से ही विद्यमान न हो और जिसे आप पहले से ही जानते न हों। मैं तो आपको बस वह याद दिला सकता हूं जिसे कि आप भूल गए हैं।"

उस शिविर के अंतिम दिन विदा होने से पहले जब हम अपना सामान पैक कर रहे थे तब एक्हार्ट के विदाई शब्द थे, "याद रखिए कि आप कहीं जा नहीं रहे हैं। सभी चीज़े आनी-जानी होती हैं। लेकिन जो घटित होता है आप वह नहीं हैं। आप तो वह शांत आकाश हैं जिसमें सब कुछ घटित हुआ करता है।" और यही वह बात है जो यह पुस्तक आपको सविस्तार बताती है। यह वह सत्य है जो शब्दों में प्रकट हो गया है-यह सत्य कि जीवन क्या है-'अब'! यह केवल एक पुस्तक नहीं है, बल्कि उससे भी बढ़ कर बहुत कुछ है। यह आपके जीवन भर की संगी-साथी है, सहयात्री है।

प्रसन्नतामय व शांतिमय,

गौतम सचदेवा
मुंबई, भारत
मार्च 2001

आभार

इस पुस्तक की सामग्री को इस प्रकाशन के रूप में रूपान्तरित करने और उसे इस जगत के लिए उपलब्ध कराने में मिले उनके प्रेमपूर्ण हार्दिक सहयोग के लिए मैं कोनी कॅलौघ का हृदय से आभारी हूँ। उनके साथ कार्य करने में बहुत आनंद आया।

मैं कोरिआ लेण्डर व उन अन्य सभी लोगों का आभारी हूँ जिन्होंने मुझे इस पुस्तक को लिखने के लिए उचित स्थान उपलब्ध कराके अपना अमूल्य योगदान दिया। वेंक्यूवर में एड्रिनी ब्रेडली, लण्दन में मार्गरिट मिलर ग्लैस्टनबरी इंगलैंड में एंजी फ्रांसिस्को, कैलिफोर्निया के मेनलो पार्क में रिचर्ड और सौसालिटो में रैनी फ्रूमकिन-आप सभी का धन्यवाद।

मैं शिर्ले स्पैक्समैन और होवार्ड कॅलौघ का आभारी हूँ, जिन्होंने आरम्भिक दिनों में लेखों की समिक्षा की तथा अनेक महत्वपूर्ण सुझाव भी दिये; तथा अन्य लोगों के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने बाद में पुस्तक की समीक्षा के साथ-साथ अन्तर्दृष्टियाँ प्रदान कीं। सुश्री रोज़ डेण्डेविच का भी शुक्रगुज़ार हूँ, जिन्होंने बड़े प्रेम से और सुन्दर रीति से इस पुस्तक की टाइप सैटिंग की।

अन्त में, मैं अपने माता-पिता के प्रति, अपने सभी आध्यात्मिक शिक्षकों, गुरुओं और सभी गुरुओं के परम गुरु-इस जीवन के प्रति अपना प्रेम व कृतज्ञता अर्पित करना चाहता हूँ, क्योंकि इन सबके बिना इस पुस्तक का प्रादुर्भाव सम्भव नहीं था।

विषय परिचय

इस पुस्तक का अवतरण

अतीत को मैं कोई ख़ास महत्व नहीं दिया करता हूं और न ही उसके बारे में शायद कभी सोचता हूं, फिर भी, संक्षेप में मैं यह बताना चाहता हूं कि किस तरह से मैं एक आध्यात्मिक शिक्षक बना और किस तरह से यह किताब वजूद में आई।

अपनी उम्र के तीसवें साल तक, मैं लगभग लगातार ही व्यग्रता, चिंता और मनस्ताप की अवस्था में रहता आया था जिसके बीच में कभी-कभी आत्मघाती अवसाद का दौर भी आ जाया करता था। यह बताते हुए अब तो मुझे ऐसा लग रहा है जैसे कि मैं अपने पूर्वजन्म की या किसी और के जीवन की बात आपको बता रहा हूं।

मेरे उन्तीसवें जन्मदिन के कुछ ही दिनों बाद की बात है कि एक सुबह जब मेरी नींद काफ़ी जल्दी खुल गई थी, तब एक अजीब सी घबराहट का एहसास मुझ पर हावी था। इससे पहले भी कई बार मैं ऐसी अवस्था में जाग चुका था लेकिन पिछली किसी भी बार की अपेक्षा इस बार यह एहसास कुछ अधिक ही सघन था। रात का सन्नाटा, अंधेरे कमरे में फर्नीचर की धुंधली आकृतियां, कहीं दूर से गुज़रती रेल की आवाज़-वह सब कुछ मुझे इतना ग़ैर, इतना ख़राब, इतना बेमानी लग रहा था कि उसने मेरे अंदर संसार के प्रति एक गहरी विरक्ति, अरुचि व अनिच्छा पैदा कर दी। लेकिन सबसे बड़ी अनिच्छा व अरुचि तो मेरे अपने अस्तित्व के प्रति थी। दुख के इस बोझ को ढोते-ढोते जिंदा रहने का मतलब क्या है? इस अविराम संघर्ष में जूझते हुए जीना क्या जरूरी है? मैं महसूस कर रहा था कि जिंदा रहने की सहज इच्छा के मुकाबले जीवन को खत्म कर देने की, अपने वजूद को मिटा देने की एक प्रबल इच्छा उस समय अधिक सबल हो गई थी।

"अपने इस जीवन को मैं अब और नहीं खींच सकता।" यही बात मेरे मन में बार-बार आए जा रही थी। और तब, अचानक ही, मैंने ध्यान दिया कि एक अजीब सा विचार मेरे ही अंदर से उठ कर आ रहा है। "मैं एक हूं या दो हूं? अगर मैं अपने जीवन को खींच नही पा रहा हूं तो फिर तो मुझमें दो अस्तित्व मौजूद हैं: 'मैं' और यह 'जीवन' जिसे कि मैं

खींच नहीं पा रहा हूं।" "ऐसा हो सकता है", मैंने सोचा, "लेकिन उनमें से एक ही तो वास्तविक होगा!"

इस अनोखे बोध से मैं इतना चकित था कि मेरा दिमाग एकदम ठहर सा गया था। हालांकि मैं पूरी तरह सचेत था, लेकिन मन एकदम विचाररहित था। फिर मुझे लगा जैसे मैं किसी शक्ति के एक भंवर में घूमता हुआ नीचे की ओर जा रहा हूं। आरंभ में तो इसकी गति धीमी थी लेकिन फिर तेज़ होती गई। एक प्रचंड भय ने मुझे दबोच लिया था, और मेरा सारा शरीर कांपने लगा था। तब मुझे ये शब्द सुनाई पड़े "किसी भी चीज़ का प्रतिरोध न करो", यह ध्वनि जैसे मेरे ही हृदयस्थल से आई थी। मैं खुद को एक शून्य में खिंचता हुआ महसूस कर रहा था। और, मुझे यह भी लग रहा था कि वह शून्य, वह रिक्तता कहीं बाहर नहीं बल्कि मेरे ही भीतर है। और फिर, अचानक ही, मेरा वह भय तिरोहित हो गया और फिर मैंने खुद को उस शून्य में उतर जाने दिया। इसके बाद क्या हुआ वह मुझे याद नहीं है।

मेरी नींद खिड़की के बाहर चिड़ियों के चहकने की आवाज़ से टूटी। ऐसा लग रहा था जैसे ऐसी ध्वनि मैंने पहले कभी नहीं सुनी थी। मेरी आंखें अभी भी बंद थीं, लेकिन मुझे एक कीमती हीरे की छवि दिखाई दी। जी हां, हीरा अगर ध्वनि कर सकता तो उसकी ध्वनि शायद ऐसी ही होती। मैंने अपनी आंखें खोलीं। भोर की पहली किरणें पर्दों से छन-छन कर अंदर आ रही थीं। बिना कोई विचार किए, मैंने महसूस किया, मुझे भान हुआ कि जितना हम जानते हैं उससे कहीं अधिक तो अभी प्रकाश में आना शेष है, और वह असीम है। पर्दों में से झांकता वह सौम्य ज्योतिर्मय प्रकाश साक्षात प्रेम था। मेरी आंखों में आंसू छलक आए थे। मैं उठ गया और कमरे में चहलकदमी करने लगा। वह कमरा मेरा जाना पहचाना था लेकिन मुझे ऐसा लग रहा था जैसे मैंने वह कमरा पहले कभी देखा ही नहीं था। हर चीज़ एकदम नई और पहली बार देखी जा रही लग रही थी, मानों वह अभी-अभी अस्तित्व में आई हो। मैंने कुछ चीज़ों को उठा कर देखा, पेंसिल को, एक खाली बोतल को, और उनकी सुंदरता व सजीवता को मंत्रमुग्ध होकर देखता रह गया था।

उस दिन मैं शहर में घूमता रहा और इस धरती पर जीवन के चमत्कार पर विस्मित व चकित होता रहा, जैसे इस संसार में मैंने अभी-अभी जन्म लिया हो।

अगले पांच महीनों तक मैं एक अनवरत व अविच्छिन्न गहन शांति व आनंद की अवस्था में रहा। उसके बाद उसकी शिद्दत कम होने लगी, या ऐसा शायद इसलिए लगा हो क्योंकि वही अब मेरी स्वाभाविक अवस्था रहने लगी थी। अपने सांसारिक कामकाज मैं तब भी करता रहा था, लेकिन मुझे यह बोध तो हो ही गया था कि जो कुछ भी मैं करूंगा वह शायद ही उसमें कोई इज़ाफ़ा करे जो कि मेरे पास पहले से ही है।

दरअसल, मैं यह तो जान गया था कि मेरे साथ कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण, अर्थपूर्ण व सांकेतिक घटित हुआ है, लेकिन वह क्या है यह मैं नहीं समझ पा रहा था। और, यह बात

मेरी समझ में तब तक नहीं आई जब तक कि कई साल तक आध्यात्मिक ग्रंथों का अध्ययन करने और अनेक आध्यात्मिक गुरूओं की संगत में रहने के बाद मुझे यह भान नहीं हो गया कि लोग जिस चीज़ की तलाश में हैं वह तो मुझे पहले ही प्राप्त हो चुकी है। मैं समझ गया कि उस रात की पीड़ा के सघन दबाव ने दुख और भय से भरे मेरे अहं के साथ की मेरी तादात्म्यता से मेरी चेतना को बलपूर्वक अलग कर दिया है-वह अहं जो कि मूलतः मन द्वारा रचित एक मिथ्या रूप ही हुआ करता है। निश्चित ही, वह अलग व असंग किया जाना इतना ज़ोरदार रहा था कि मिथ्या तथा दुख रूपी वह अहं तत्काल ही पूरी तरह ऐसे ध्वस्त हो गया जैसे हवा से फुलाए गए खिलौने में से डाट को निकाल दिया गया हो। उसके बाद जो कुछ शेष रह गया था वह था मेरा वास्तविक स्वरूप, यानी सदा-सर्वदा विद्यमान रहने वाला जो *मैं हूं* : अर्थात् नाम व रूप के साथ तादात्म्य किए जाने से पहले वाली मेरी चेतना-अपनी विशुद्ध अवस्था में। बाद में, अपने अंदर स्थित उस क्षेत्र में प्रवेश करना भी मैंने सीखा जो कि समय व मृत्यु से परे रहता है, जिसे कि मैंने उस शून्य में, लेकिन पूरी तरह चैतन्य रूप में, अनुभव किया था। मैं इतनी अनिर्वचनीय आनंद तथा पवित्रता की अवस्थाओं में रहा कि जिस आंरभिक अनुभव का वर्णन मैंने अभी ऊपर किया है वह भी इनकी तुलना में फीका पड़ जाता है। एक ऐसा भी समय आया कि जब भौतिक व सांसारिक स्तर पर मेरे पास कुछ नहीं बचा-न कोई संबंध, न रोज़गार, न घर और न ही सामाजिक परिभाषा वाली कोई पहचान। लगभग दो साल मैंने पार्कों की बैंचों पर परम आह्लाद की अवस्था में बैठे-बैठे व्यतीत किए।

वैसे तो ऐसे परम सुंदर अनुभवों का आना-जाना होता रहता है लेकिन किसी भी अनुभव की तुलना में शायद जो सबसे अधिक मौलिक अनुभव रहता है वह है: अपने अंदर शांति के उस अंतःप्रवाह का बना रहना जो कि उस रात से मुझे छोड़ कर फिर नहीं गया है। कभी-कभी तो यह बहुत सबल हो जाता है, इतना सबल कि लगभग स्पर्शगोचर हो जाए और दूसरे भी उसे महसूस कर पाएं। और, कभी-कभी यह पृष्ठभूमि में चला जाता है, कहीं दूर बजती संगीत की किसी स्वर लहरी की तरह हो जाता है।

बाद में, लोग अक्सर मेरे पास आने लगे और कहने लगे, "जो आप को मिला है वह मुझे भी चाहिए। क्या आप मुझे वह दे सकते हैं या उसको पाने का तरीका बता सकते हैं?" और मैं कहता: "वह तो आपके अंदर पहले से ही है। उसे आप बस महसूस नहीं कर पा रहे हैं और वह इसलिए क्योंकि आपका मन बहुत अधिक शोर मचाए रखता है।" मेरा यही उत्तर बाद में एक पुस्तक के रूप में विकसित हो गया जो कि अब आपके हाथों में है।

इससे पहले कि मैं जान पाता, मुझे पुनः एक सांसारिक पहचान दे दी गई थी-मुझे एक आध्यात्मिक शिक्षक कहा जाने लगा था।

वह सत्य जो आपके भीतर विराजमान है

यह पुस्तक, यूरोप और उत्तरी अमेरिका में पिछले दस वर्षों के दौरान, आध्यात्मिक जिज्ञासुओं और छोटे-छोटे समूहों के साथ की गईं वार्तालापों का सार-संक्षेप है। उन प्रतिभासंपन्न लोगों का मैं सादर व सप्रेम धन्यवाद करना चाहता हूं-उनके साहस के लिए, अपने आंतरिक बदलाव के प्रति उनकी स्वेच्छा के लिए, उनके चुनौती सरीखे प्रश्नों के लिए, और सुनने की उनकी उत्सुकता व तत्परता के लिए। उनके बिना यह पुस्तक अस्तित्व में नहीं आ पाती। वे लोग उन आध्यात्मिक अग्रदूतों में से हैं जिनका समुदाय अभी छोटा अवश्य है लेकिन सौभाग्य से वह वृद्धि कर रहा है, ये वे लोग हैं जो उस मुकाम पर पहुंच रहे हैं कि जहां कि वे इतने सक्षम हो जाएं कि विरासत में मिलने वाले उन सामूहिक मानसिक संस्कारों को, उन ढर्रों को तोड़ कर बाहर आ सकें जिन्होंने चिरकाल से मनुष्यों को दुखों के बंधन में डाला हुआ है।

मुझे विश्वास है कि जो लोग इतने आमूल रूपांतरण के लिए तैयार हैं, उन तक पहुंचने का रास्ता यह पुस्तक अपने आप खोज लेगी और उनके लिए यह एक उत्प्रेरक का काम करेगी। मुझे यह भी आशा है कि यह पुस्तक उन अन्य अनेक लोगों तक भी पहुंचेगी जो इसकी विषय-वस्तु को विचारणीय महसूस करेंगे, भले ही इसे पूरी तरह जीने तथा अभ्यास करने के लिए अभी वे पूरी तरह तैयार न हुए हों। संभव है कि इस पुस्तक के अध्ययन के दौरान बोया गया बीज बाद में *एन्लाइटेनमैन्ट* के, यानी आत्मज्ञान के उस बीज के साथ मिल जाए जो कि हर मनुष्य के अंदर हमेशा ही मौजूद रहा करता है; और फिर कभी अचानक ही वह अंकुरित हो जाए और उनके भीतर सजग व सजीव हो उठे।

यह पुस्तक जिस रूप में है, वह सेमिनारों, ध्यान की कक्षाओं और निजी परामर्श वाले सत्रों के दौरान पूछे गए प्रश्नों के उत्तर के रूप में खुद ब खुद बनती चली गई है, और इसलिए मैंने इसे प्रश्नोत्तरी के रूप में ही रहने दिया है। उन कक्षाओं और सेमिनारों में, प्रश्नकर्ताओं ने जितना सीखा व ग्रहण किया है उतना ही मैंने भी किया है। कुछ प्रश्नों व उत्तरों को तो मैंने शब्दशः ज्यों का त्यों लिख लिया था। अन्य प्रश्नोत्तर सामान्य प्रकार के हैं, यानी मैंने कुछ ऐसे प्रश्नों को एक ही प्रश्न में समाहित कर दिया है जो कि अक्सर पूछे जाते हैं, और एक सामान्य उत्तर बनाने के लिए मैंने विभिन्न उत्तरों के सार को उसमें सम्मिलित कर दिया है। इन उत्तरों को लिखने के दौरान कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि कोई नया ही उत्तर उभर कर सामने आ गया है, और वह उत्तर इतना गहन, गंभीर और परिज्ञानपूर्ण रहा है कि उसे मैंने वैसा बोला भी नहीं था। संपादक द्वारा भी कुछ अतिरिक्त प्रश्न पूछे गए हैं ताकि कुछ मुद्दों को और अधिक स्पष्टता दी जा सके।

पहले पन्ने से अंतिम पन्ने तक, आप देखेंगे कि ये संवाद दो विभिन्न स्तरों के बीच लगातार बदलते रहे हैं।

एक स्तर पर तो मैं आपका ध्यान उस चीज़ की ओर आकृष्ट करता हूं कि जो *मिथ्या* आपके अंदर बैठी हुई है। वहां मैं मानवीय अचैतन्यता तथा उसकी विकार-विकृति वाली प्रकृति के बारे में बात करता हूं और उसके सर्वसामान्य रूप से प्रकट होने वाले व्यवहार के बारे में भी-यानी सामान्य संबंधों में होने वाले द्वंद्व व टकराव से लेकर कबीलों और देशों के बीच होने वाली युद्धस्थिति तक। यह ज्ञान होना बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि मिथ्या को मिथ्या के रूप में, असत् को असत् के रूप में, खोट को खोट के रूप में, ग़लत को ग़लत के रूप में देखना-न कि उसे खुद के रूप में देखना-जब तक आप यह नहीं सीख लेते, तब तक कोई स्थाई रूपांतरण आपमें नहीं आ सकता, और इसलिए आप मिथ्या, माया, मोह और भरम में पुनः पुनः फंसते रहेंगे, और इसी कारण दुख के किसी न किसी रूप में भी। इस स्तर पर, मैं आपको यह भी बताता हूं कि जो कुछ भी मिथ्या, असत्, खोट या ग़लत आपके भीतर है उसे कैसे आप अपना स्वरूप न बनाएं, और कैसे उसे अपनी व्यक्तिगत समस्या न बनाएं, न मानें, क्योंकि इसी तरह तो मिथ्या अपने अस्तित्व को स्थायित्व दिया करता है।

दूसरे स्तर पर, मैं मानव चेतना के परम रूपांतरण की बात करता हूं-कभी भविष्य में होने वाली किसी संभावना की तरह नहीं बल्कि अभी, इसी समय उपलब्ध रूपांतरण के रूप में-चाहे आप कोई भी हों और कहीं भी हों। इसमें आपको बताया जाता है कि कैसे आप अपने मन की गुलामी से खुद को मुक्त करें, कैसे आप चैतन्यता वाली इस आत्मज्ञान की अवस्था में प्रवेश करें और कैसे इसे अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन में बनाए रखें।

पुस्तक के इस स्तर पर, शब्दों को हमेशा ही कोई जानकारी देने के प्रयोजन से प्रयोग नहीं किया गया है, बल्कि उन्हें पढ़ने के साथ-साथ आपको नई चेतना में प्रवेश दिलाने के लिए तैयार किया गया है। बार-बार, मैं प्रयास करता हूं कि आपको 'अब' में, अत्यंत चैतन्य विद्यमानता वाली कालनिरपेक्ष (*टाइमलैस*) अवस्था में-यानी अतीत व भविष्य में न भटकने वाली अवस्था में-अपने साथ ले चलूं, ताकि आपको आत्मज्ञान का स्वाद चखा सकूं। जो मैं कह रहा हूं उसे जब तक आप अनुभूत करने योग्य नहीं हो जाते, तब तक वे अंश आपको पुनरावृत्ति जैसे लग सकते हैं। लेकिन, जब आप उसे अनुभूत करने में सक्षम हो जायेंगे तब मेरा विश्वास है कि आप जान जायेंगे कि उनमें बहुत अधिक आध्यात्मिक शक्ति है, और आपके लिए वे इस पुस्तक के सबसे अधिक फलदायी अंशों की तरह हैं। चूंकि हर व्यक्ति के अंदर आत्मज्ञान का बीज मौजूद रहता है, इसलिए अक्सर मैं खुद आपके अंदर बैठे उस ज्ञाता से बात किया करता हूं जो विचारक के पार रहता है, यानी वह अंतरात्मा जो कि आध्यात्मिक सत्य को तुरंत पहचान लिया करती है, उसके साथ प्रतिध्वनित हुआ करती है, और उससे शक्ति ग्रहण किया करती है।

कुछ पैराग्राफ़ों के बाद दिया गया एक विराम प्रतीक 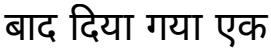 यह सुझाव देता है कि आप चाहें तो कुछ पलों के लिए वहां पढ़ना रोक सकते हैं, शांत बैठ सकते हैं, और अभी-अभी जो कुछ पढ़ा गया है उसे महसूस कर सकते हैं, उसके सत्य को अनुभव कर सकते हैं। इस पुस्तक में अनेक अन्य जगह भी ऐसी आ सकती हैं जहां आप स्वतः और स्वेच्छा से थोड़ा थमना चाहेंगे, तब आप वहां भी थोड़ा ठहर सकते हैं।

जब आप यह पुस्तक पढ़ना शुरू करेंगे तो पहले पहल आपको कुछ शब्दों का अर्थ पूरी तरह स्पष्ट नहीं होगा, जैसे 'बीइंग' (Being) और 'उपस्थिति ' या 'विद्यमानता' (Presence), लेकिन आप पढ़ते जाइयेगा। जब आप पढ़ते जायेंगे तब आपके दिमाग़ में कभी कुछ प्रश्न उठेंगे तो कभी कुछ आपत्तियां उठेंगी। उनका उत्तर आपको इस किताब में शायद कहीं आगे मिल जाए, या यह भी हो सकता है कि जैसे-जैसे आप इन शिक्षाओं में- और अपने अंदर भी-गहरे उतरते जाएंगे वैसे-वैसे वे प्रश्न, वे आपत्तियां आपको अप्रासंगिक ही लगने लगें।

इस किताब को केवल अपने दिमाग़ से न पढ़ें। पढ़ते-पढ़ते अगर आपके अंदर की गहराई से उठती कोई "सद्भाव की अनुक्रिया" दिखाई दे और जो पढ़ा गया है उसके प्रति स्वीकारोक्ति सुनाई दे तो उस पर ध्यान दें। मैं आपको कोई ऐसा आध्यात्मिक सत्य बता ही नहीं सकता जिसे कि आपका अंतरतम पहले से ही न जानता हो। जो कुछ मैं कर सकता हूं वह केवल इतना है कि आपको याद दिला दूं कि आप क्या भूल गए हैं। और, तब जीवंत ज्ञान, वह ज्ञान जो पुरातन होते हुए भी नित नूतन रहता है, जाग जाता है और आपके शरीर के भीतर हर एक कोशिका से प्रस्फुटित होने लगता है।

हमारा मन हमेशा ही वर्गीकरण करना और तुलना करना पसंद किया करता है, लेकिन यह किताब आपको बेहतर परिणाम तब देगी जब आप इसके शब्दों व परिभाषाओं की तुलना अन्य शिक्षाओं के शब्दों व परिभाषाओं से नहीं करेंगे, अन्यथा आप भ्रमित हो जायेंगे। मैं 'मन', 'सुख/प्रसन्नता', और 'चैतन्यता' जैसे शब्दों को जिस तरह से प्रयुक्त करता हूं, आवश्यक नहीं कि वे अन्य शिक्षाओं में भी वैसा ही अर्थ रखते हों। किसी भी शब्द के साथ बंध मत जाइए। शब्द तो केवल वे पायदान हैं जिन पर कदम रखते हुए हमें आगे बढ़ना होता है, और फिर तुरंत ही उन्हें पीछे छोड़ देना होता है।

मैं जब जीसस या बुद्ध की किसी उक्ति का उल्लेख करता हूं, या *'ए कोर्स ऑफ़ मिरेकिल्स'* से या अन्य किसी शिक्षा से किसी उद्धरण का उल्लेख करता हूं, तब मैं कोई तुलना करने के लिए ऐसा नहीं करता हूं, बल्कि आपका ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट करने के लिए करता हूं कि *सारतत्व* के रूप में आध्यात्मिक संदेश एक ही है और एक ही रहा है, भले ही उसे भिन्न-भिन्न प्रकार से अभिव्यक्त किया गया हो। इनमें से कुछ-जैसे कि प्राचीन धर्म-इतने सारे बाहरी और अंसगत आडंबरों से इस क़दर लद चुके हैं कि उनका आध्यात्मिक सार व सच तो लगभग छिप ही गया है। इसलिए, काफ़ी हद तक, उनका

गहरा अर्थ अब पहचानने में ही नहीं आ रहा है, और यही कारण है कि अपनी रूपांतरणकारी शक्ति को उन्होंने खो दिया है। जब मैं प्राचीन धर्मों से या अन्य शिक्षाओं से कोई उद्धरण देता हूं, तब मैं ऐसा उनके गहन अर्थ को प्रकट करने के लिए और इस प्रकार उनकी रूपांतरणकारी शक्ति को पुनः उजागर करने के लिए ही किया करता हूं-ख़ास तौर से उन पाठकों के लिए जो कि उन धर्मों या शिक्षाओं के अनुयायी हैं। उनसे मेरा कहना है: सत्य के लिए कहीं अन्यत्र जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। मैं आपको बताना चाहता हूं कि जो आपमें पहले से ही है, उसमें ही गहराई तक कैसे उतरा जाए।

अधिकतर, मैंने यही प्रयास किया है कि मैं वह शब्दावली प्रयुक्त करूं जो यथासंभव सर्वधर्म-समभाव वाली हो, ताकि अधिक से अधिक लोगों की समझ तक बात पहुंच सके। इस पुस्तक को काल के प्रभाव में न आने वाली एक परम आध्यात्मिक शिक्षा का तथा सभी धर्मों के सारांश का एक आधुनिक संस्करण कहा जा सकता है। इसे किसी बाहरी स्रोत से नहीं लिया गया है, बल्कि भीतर के ही एक सच्चे स्रोत से लिया गया है, इसीलिए इसमें कल्पनाओं, अटकलों और अनुमानों वाला कोई सिद्धांत शामिल नहीं किया गया है। मैं अपने आंतरिक अनुभव में से ही बोलता हूं, और कभी-कभी मैं अगर ज़ोर देकर बोल रहा होता हूं तो ऐसा मैं अवरोध की उन भारी परतों को हटाने के लिए करता हूं जो कि आपके मन पर लदी हुई हैं, और आपको अपने भीतर के उस स्थल पर ले जाने के लिए करता हूं जिसे कि आप पहले से ही *जानते* हैं, वैसे ही जैसे कि मैं जानता हूं-वह स्थल जहां कि सत्य को सुनकर पहचाना जा सकता है। और तब, आपमें उल्लास, प्रसन्नता और उत्थित सजीवता का एक भाव प्रस्फुटित होता है, जैसे आपके अंदर कोई कह रहा हो: "हां, मैं जानता हूं कि यही सत्य है।"

अध्याय एक

अपना मन नहीं हैं आप

आत्मज्ञान में सबसे बड़ी बाधा

आत्मज्ञान या 'एन्लाइटेनमैंन्ट'-क्या होता है यह?

एक भिखारी तीस से भी अधिक वर्षों से एक सड़क के किनारे बैठ कर भीख मांगा करता था। एक दिन एक अजनबी उसके पास से गुज़रा। उसको देख कर भिखारी अपनी आदत के अनुसार गिड़गिड़ाया, "कुछ पैसा दे दे बाबा!" "मेरे पास छुट्टा नहीं है", उस अजनबी ने कहा, और फिर भिखारी से उसने पूछा, "जिस पर तुम बैठे हो वह क्या है?" भिखारी ने लापरवाही से जवाब दिया, "कुछ नहीं, ये तो एक पुराना लकड़ी का बक्सा है। मैं तो न जाने कब से इसी पर बैठता आया हूं।" अजनबी ने पूछा, "इसमें क्या है, कभी देखा?" भिखारी बोला, "नहीं तो। क्या करना है देख कर? क्या होगा इसमें, कुछ नहीं।" अजनबी ने ज़ोर देकर कहा, "अरे भाई, तनिक देखो तो सही!" भिखारी ने बड़ी कोशिश करके और बड़ी मुश्किल से उसका ढक्कन खोला तो आश्चर्य, अविश्वास और खुशी से उसकी आंखें खुली की खुली रह गईं जब उसने देखा कि वह बक्सा तो सोने के सिक्कों से भरा हुआ था।

मैं उसी अजनबी जैसा ही हूं जिसके पास आपको देने के लिए तो कुछ नहीं है लेकिन वह आपको अंदर झांकने के लिए कह रहा है-बाहर रखे किसी बक्से के अंदर नहीं, जैसा कि कहानी में बताया गया है, बल्कि उससे भी बहुत निकट, खुद अपने अंदर झांकने के लिए।

"लेकिन मैं कोई भिखारी तो नहीं हूं," शायद आप ऐसा कहें।

हर वह व्यक्ति जिसे कि अपनी असल दौलत नहीं मिली है, और उस दौलत के साथ आने वाला आत्मा का आनंद और गहरी तथा अविचल शांति भी जिसे नहीं मिली है, वह भिखारी ही तो है, भले ही उसके पास ढेर सारी सांसारिक संपत्ति क्यों न हो। ऐसे लोग

सुख या उपलब्धि के चंद टुकड़ों के लिए, मान्यता, सुरक्षा और प्रेम के लिए बाहर भटकते रहते हैं, जब कि असल ख़जाना तो खुद उनके भीतर ही मौजूद रहता है जिसमें कि ये सब चीज़ें तो शामिल रहती ही हैं साथ ही यह ख़जाना किसी भी ऐसे ख़जाने के मुकाबले असीम रूप से महान होता है जो कि यह संसार उन्हें दे सकता है।

आत्मज्ञान या *एन्लाइटेनमैन्ट* शब्द में एक अति मानवीय उपलब्धि वाले विचार की कल्पना कर ली गई है, और हमारा अहं इसे इसी रूप में रखना पसंद भी करता है, लेकिन आत्मज्ञान का सीधा-सच्चा अर्थ है अपने *बीइंग* के साथ अभिन्नता की अवस्था में होना, यानी खुद को अपने अस्तित्व से भिन्न न समझने की एक स्वाभाविक अवस्था में रहना। यह किसी ऐसी चीज़ के साथ जुड़ने की अवस्था है जो अपरिमेय है, अविनाशी है, जो कि तत्व रूप में तो वह आप ही है लेकिन फिर भी वह आपसे कहीं अधिक महान है। नाम और रूप से परे अपने सच्चे स्वरूप को पहचानना है यह। इस अभिन्नताको, इस ऐक्यता को अनुभव करने में अक्षम होना ही तो पृथकता का व भिन्नता का भ्रम पैदा किया करता है-खुद से भी और अपने चारों तरफ़ के संसार से भी। तब आप स्वयं को जाने-अनजाने एक अलग, विलग खंड के रूप में देखने व महसूस करने लगते हैं। इससे आपमें भय का समावेश हो जाता है और परिणामस्वरूप आपके भीतर-बाहर द्वंद्व का रहना एक सामान्य अवस्था बन जाती है।

आत्मज्ञान के लिए बुद्ध द्वारा दी गई सीधी-सरल परिभाषा मुझे बहुत अच्छी लगती है-"दुख का अंत हो जाना"। इस परिभाषा में अलौकिकता या दिव्यता जैसा कुछ नहीं है। फिर भी, एक परिभाषा के रूप में यह सचमुच अधूरी है। यह तो बस इतना बताती है कि आत्मज्ञान क्या नहीं है: दुख का न होना। लेकिन, जब कोई दुख नहीं रहता तब शेष क्या रह जाता है? बुद्ध इस पर मौन हैं, और उनके मौन में यह संकेत समाहित है कि इसे आपको अपने लिए स्वयं ही खोजना होगा। उन्होंने एक नकारात्मक परिभाषा का प्रयोग इसलिए किया है ताकि मन इसे कोई ऐसी चीज़ न बना डाले जिस पर विश्वास कर लिया जाए, या मन इसे कोई अलौकिक या दिव्य उपलब्धि न बना डाले, यानी वह इसे कोई एक ऐसा लक्ष्य न बना डाले जिसे पाना आपके लिए संभव ही न हो। बुद्ध द्वारा इतना सतर्क कर देने के बावजूद भी, अधिकांश बौद्ध यही मानते हैं कि आत्मज्ञान तो केवल बुद्ध के लिए था, उनके लिए नहीं है, कम से कम इस जीवनकाल में तो नहीं।

आपने 'बीइंग' शब्द का प्रयोग किया है। क्या आप बता सकते हैं कि इससे आपका अभिप्राय क्या है?

बीइंग वह है जो शाश्वत है, अमर है, चिरस्थाई है-यह वह जीवात्मा है जो जन्म-मरण के चक्र में रहने वाले असंख्य रूपों से परे एक समेकित जीवन है। तथापि, यह *बीइंग*, यह

अस्तित्व, केवल पार व परे ही नहीं है बल्कि हर रूप के अंदर अपने अंतरतम अदृश्य तथा अविनाशी तत्व रूप में यह विद्यमान रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि यह आपकी अंतरात्मा के रूप में, आपके वास्तविक स्वरूप में अभी ही उपलब्ध है। लेकिन, अपने मन से इसे पकड़ने का प्रयास मत कीजिएगा। इसे समझने का भी प्रयास मत कीजिएगा। आप इसे केवल तब जान सकते हैं जब अपका मन बिल्कुल निश्चल हो, बिल्कुल शांत हो। जब आपका अवधान पूरी तरह से और नितांत रूप से 'अब' में हो, जब आप 'अब' में विद्यमान हों, तब *बीइंग* को महसूस किया जा सकता है, लेकिन मानसिक स्तर पर उसे कभी नहीं समझा जा सकता। *बीइंग* के प्रति सजगता को पुनः प्राप्त कर लेना और उस सजगता की "बोध-अनुभूति" की अवस्था में अवस्थित रहना-यही है आत्मज्ञान, *एन्लाइटेनमैंन्ट*!

जब आप 'बीइंग' कहते हैं तब क्या आप ईश्वर के बारे में बात कर रहे होते हैं? और अगर ऐसा है तो आप ईश्वर शब्द का ही प्रयोग क्यों नहीं करते?

हज़ारों वर्षों से ईश्वर शब्द का बड़ा दुरुपयोग होता आया है और इसलिए यह शब्द अपना अर्थ खो चुका है, इसका कोई अर्थ नहीं रह गया है। मैं इस शब्द का प्रयोग तो करता हूं लेकिन बस कभी-कभी। दुरुपयोग से यहां मेरा अभिप्राय है कि जिन लोगों ने पवित्रता के इस साम्राज्य की, इस शब्द के पीछे के अनंत विस्तार की एक झलक भी नहीं देखी है, वे लोग इसका प्रयोग इतने दृढ़ विश्वास के साथ करते हैं जैसे कि वे जानते हैं कि वे किस बारे में बात कर रहे हैं। या, ईश्वर के विरुद्ध वे ऐसे बहस करते हैं जैसे कि वे जानते हैं कि वह क्या चीज़ है जिसे वे अस्वीकार कर रहे हैं। ऐसा दुरुपयोग बेतुके विश्वासों, हठधर्मिताओं और अहंकार भरे मिथ्या आभासों को जन्म देता है, जैसे "*मेरा या हमारा* ईश्वर ही एकमात्र वास्तविक ईश्वर है, और *तुम्हारा* ईश्वर मिथ्या है, भ्रम है।" या, नीत्शे की यह प्रसिद्ध उक्ति-"ईश्वर मर चुका है।"

यह ईश्वर शब्द आज एक सीमित व संकुचित अवधारणा बन कर रह गया है। जैसे ही इस शब्द को बोला जाता है, तो तुरंत एक मानसिक छवि उभर कर आती है, हालांकि अब वह एक सफ़ेद दाढ़ी वाले वयोवृद्ध व्यक्ति की छवि तो शायद नहीं बनती, लेकिन ईश्वर शब्द सुनने पर या सोचने पर आप किसी ऐसे व्यक्ति या किसी ऐसी चीज़ का तो मानसिक चित्रण कर ही लेते हैं जो कि आपसे बाहर कहीं है, और हां, वह व्यक्ति या चीज़ प्रायः पुल्लिंग हुआ करती है।

ईश्वर, बीइंग या कोई भी समानार्थी अन्य शब्द, न तो उस शब्द के पीछे की अनिर्वचनीय और अवर्णनीय वास्तविकता को परिभाषित कर सकता है और न ही व्याख्या

कर सकता है। इसलिए, एकमात्र महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि यह शब्द जिस की ओर संकेत करता है क्या *उसे* अनुभव करने में वह आपके लिए सहायक सिद्ध होता है या बाधक बनता है? क्या यह शब्द खुद से परे उस वास्तविकता की ओर संकेत करता है जो कि अत्यंत गूढ़ है, अनुभवातीत है? या, यह खुद को आपके मन में केवल एक ऐसी अवधारणा के रूप में, एक ऐसी मानसिक मूर्ति के रूप में बड़ी आसानी से ढल जाने देता है जिसमें कि आप विश्वास रखते हैं?

बीइंग शब्द कुछ भी बयां नहीं करता, और *ईश्वर* शब्द भी नहीं करता। तथापि, *बीइंग* शब्द के साथ एक अच्छी बात यह है कि यह कोई सीमित व संकुचित अवधारणा नहीं है। यह शब्द उस असीम-अदृश्य को घटा कर एक सीमित अस्तित्व नहीं बना देता। इस शब्द की मानसिक छवि बनाना भी असंभव है। कोई इस पर केवल अपना ही आधिपत्य भी नहीं जमा सकता है। यह तो आप का वास्तविक मूल तत्व है, और आपकी अपनी विद्यमानता की अनुभूति के रूप में, यानी मैं यह हूं या मैं वह हूं के बजाय *मैं हूं* के बोध के रूप में-*बीइंग* के रूप में-यह आपकी तुरंत पहुंच में रहता है। इसलिए, *बीइंग* शब्द और *बीइंग* को अनुभव करने के बीच का फ़ासला केवल एक कदम ही रहता है।

इस सत्य के, इस वास्तविकता के अनुभव करने में सबसे बड़ी बाधा क्या है?

अपने मन के साथ तादात्म्य कर लेना, यानी उसके साथ एकाकार व एकजान हो जाना ही सबसे बड़ी बाधा है, ऐसा करना विचार को अनिवार्य बना देता है। विचार को, सोचने को, रोक पाने में असमर्थ होना एक दुखदायी अवस्था है, एक बड़ा भारी क्लेश है, लेकिन हमें इसका भान इसलिए नहीं हो पाता है क्योंकि लगभग हर कोई इससे पीड़ित रहता है, इसलिए हमने इसे एक आम बात मान लिया है। लगातार होता यह मानसिक शोर आपको आंतरिक शांति के उस प्रदेश में प्रवेश कर पाने से वंचित कर देता है जो कि *बीइंग* के साथ अपृथक्य रूप से रहा करता है। यह एक मिथ्या व मनगढ़ंत अहं भी रच लेता है जो कि भय और दुख का अंधकार फैला देता है। इस पर हम बाद में सविस्तार चर्चा करेंगे।

दार्शनिक डेस्कार्ट्स ऐसा मानता था कि उसने आधारभूत तथा वास्तविक सत्य को पा लिया है और इसीलिए उसने यह वक्तव्य दिया: "चूंकि मैं सोचता हूं, इसलिए मैं हूं।" दरअसल, जिस सबसे बड़ी और बुनियादी ग़लती को उसने अपने शब्दों में प्रकट किया है और वह यह है कि उसने अपनी विचारणा को *बीइंग* के समतुल्य मान लिया है और अपनी पहचान को विचारणा के समतुल्य। आदतन सोचने को मजबूर व्यक्ति, यानी हममें से लगभग हर व्यक्ति, स्पष्टतः एक पृथकता की अवस्था में रहा करता है, एक निरंतर समस्या तथा द्वंद्व वाले पागलपन की जटिलता से भरे संसार में रहा करता है, वह एक ऐसे संसार

में रहा करता है जो कि मन के लगातार बढ़ते विखंडन को दर्शाता है। जब कि, आत्मज्ञान अखंडता की, पूर्णता की अवस्था होती है, 'एकत्व' की अवस्था होती है-जीवन के प्रकट रूप इस संसार के साथ भी एकत्व, और साथ ही जीवन के अप्रकट रूप अपने अंतरतम स्वरूप के साथ भी एकत्व-अर्थात् *बीइंग* के साथ एकत्व, और इसीलिए यह एक शांतिमय अवस्था होती है। केवल दुखों का तथा भीतर-बाहर के द्वंद्व का अंत होना ही आत्मज्ञान हो जाना नहीं है, बल्कि अनवरत और निरंतर रूप से सोचते रहने की इस दुखदायी दासता से मुक्त होना भी है यह।

अपने मन के साथ खुद को तादात्मय कर लेना, उसके साथ खुद को एकरूप व एकजान कर लेना-यह धारणाओं, लेबलों, छवियों, निष्कर्षों और परिभाषाओं का एक ऐसा धुंधला परदा बना देता है जो सभी सच्चे संबंधों में बाधक बन जाता है। यह परदा आप और स्वयं आपके बीच, आप और आपके संगी-साथियों के बीच, आप और प्रकृति के बीच, आप और ईश्वर के बीच आ जाता है। यह विचार का परदा ही है जो पृथकता का, अलगाव का भ्रम पैदा कर देता है, यह भ्रम कि एक आप हैं *और* एक बिल्कुल अलग "कोई और" है। तब, आप यह सारभूत तथ्य भूल जाते हैं कि शारीरिक प्रतीति तथा पृथक रूपों वाले स्तर के नीचे-नीचे, आप जो कुछ भी *है* उसके साथ आप ऐक्य हैं। "भूल जाने" से मेरा अभिप्राय यह है कि फिर आपको यह एकत्व एक स्वयंसिद्ध सत्य जैसा लगता ही नहीं है। आप इसके सत्य होने का विश्वास भले ही कर लें लेकिन फिर भी आप *जान नहीं पाते* हैं कि यह सत्य है। कोई *विश्वास* कितना ही सरल-सुखद लगे, लेकिन खुद अपनी अनुभूति द्वारा ही सत्य आपको बंधन मुक्त कर सकता है।

सोचते रहना तो जैसे एक रोग बन चुका है। कोई रोग तब होता है जब चीज़ें संतुलन से बाहर हो जाती हैं। उदाहरण के लिए, शरीर में कोशिकाओं का विभाजित होना और उनका वृद्धि करना-इसमें कुछ ग़लत नहीं है, लेकिन जब यही प्रक्रिया संघटित शरीर रचना की उपेक्षा करके होती है, तब कोशिकाएं बहुजनन करने लगती हैं और हम रोगी हो जाते हैं।

ध्यान दीजिए: मन एक बहुत ही उत्कृष्ट उपकरण है, बशर्ते कि इसका सही तरह इस्तेमाल किया जाए। ग़लत तरीके से इस्तेमाल किए जाने पर यह बड़ा विनाशकारी हो जाता है। और भी स्पष्ट रूप से कहा जाए तो बात केवल इतनी नहीं है कि आप अपने मन का इस्तेमाल ग़लत तरीके से करते हैं, बल्कि आमतौर तो आप इसका इस्तेमाल करते ही नहीं हैं-दरअसल, वह ही *आपका* इस्तेमाल किया करता है। यही रोग है। आप समझते हैं कि आप अपना मन है। यह एक भ्रांति है, भ्रम है, मिथ्या आभास है। यानी, यह उपकरण आप पर हावी हो चुका है।

मैं बिल्कुल सहमत नहीं हूं। यह सच है कि मैं काफ़ी निरुद्देश्य सोच-विचार किया करता हूं, जैसा कि सभी लोग करते हैं, लेकिन फिर भी मैं चीज़ों को पाने और पूरा करने के लिए अपने मन का इस्तेमाल करना तो चुनता ही हूं, और ऐसा मैं हमेशा करता हूं।

केवल इसलिए कि आप शब्द पहेली भर लेते हों या परमाणु बम बना लेते हों, इसका अर्थ यह नहीं हो जाता कि आप अपने मन का इस्मेताल कर रहे हैं। जैसे कुत्ते हड्डी को चबाना-चूसना पसंद करते हैं, ठीक वैसे ही मन को समस्याओं में अपने दांत गढ़ाना पसंद है। इसीलिए, वह शब्द पहेली भरने बैठ जाता है, परमाणु बम बनाने लगता है। जब कि, *आपको* इन में से किसी में भी दिलचस्पी नहीं है। अच्छा मैं आपसे एक सवाल पूछता हूं: क्या आप जब चाहे तब अपने मन से मुक्त हो सकते हैं? क्या आपको मन का "ऑफ़" बटन मिल गया है?

आपका मतलब है कि सोचने पर पूर्ण विराम? नहीं, मैं ऐसा नहीं कर सकता, सिवाय एक या दो पलों के लिए।

तब तो आपका मन आपका इस्तेमाल कर ही रहा है। अनजाने ही, आप उसके साथ तादात्म्य हो गए हैं, उसके साथ एकाकार व एकजान हो गए हैं, इसलिए आप यह जानते तक नहीं हैं कि आप उसके गुलाम हो गए हैं। यह लगभग ऐसा ही है जैसे आपके दिलोदिमाग पर कोई हावी हो जाए और आप यह बात जानते भी न हों, और फिर उस हावी होने वाले के स्वरूप को आप अपना ही स्वरूप समझने लगे हों। स्वतंत्रता की, आज़ादी की शुरुआत इस बोध से होती है कि जो आप पर हावी है वह आप नहीं हैं, आप उससे अलग हैं-यानी आप विचारकर्ता नहीं हैं, उससे अलग हैं। यह जानना आपको अपने स्वरूप को देखने की क्षमता देगा। ज्यों ही आप *विचारकर्ता को देखना, उसका अवलोकन करना* आरंभ करते हैं, त्यों ही चैतन्यता का एक उच्च स्तर आपमें सक्रिय हो उठता है। तब आपको यह बोध होना आरंभ हो जाता है कि विचार से परे प्रज्ञा का एक विशाल साम्राज्य है, कि विचार तो उस प्रज्ञा का एक क्षुद्र व नगण्य पक्ष है। आपको यह भी बोध हो जाता है कि सचमुच महत्व वाली चीज़ें-जैसे सौंदर्य, प्रेम, रचनात्मकता, हर्ष, भीतरी शांति-ये सब मन से परे ही पैदा होते हैं। यह बोध हो जाने पर आप जागना, चैतन्य होना आरंभ करते हैं।

खुद को अपने मन से मुक्त कीजिए

''विचारकर्ता का अवलोकन'' करने से आपका सही-सही अर्थ क्या है?

कोई अगर किसी डाक्टर के यहां जाए और उससे कहे, ''मुझे अपने सिर में कोई आवाज़ सुनाई देती है'', तो बहुत संभव है कि उसे किसी मनारोग चिकित्सक के पास भेज दिया जायेगा। लेकिन, सच तो यह है कि हर कोई अपने सिर में कोई न कोई आवाज़ या बहुत सारी आवाज़ें वास्तव में हर समय सुना ही करता है: यह वह बेइरादा, बेइख्तियार और खुद-ब-खुद चलने वाली विचार प्रक्रिया है जिसके बारे में आपको यह पता ही नहीं है कि इसे रोकने का सामर्थ्य आपमें है, इस अनवरत चलने वाले स्वगत कथन या कथोपकथन को रोकने का सामर्थ्य सचमुच आपमें है।

आपने सड़क पर आते-जाते ऐसे ''पागल'' को शायद देखा होगा जो अपने आप से ही बतियाते या बड़बड़ाते हुए चलते चले जाते हैं। लेकिन, वह पागल जो कर रहा होता है उसमें और आपमें तथा अन्य ''सामान्य'' लोगों में, कोई ख़ास अंतर नहीं है, सिवाय इसके कि आप उसकी तरह बाआवाज़ नहीं बोला करते हैं। सिर में बोलती यह आवाज़ टीका-टिप्पणी किया करती है, अटकलें लगाती है, निर्णय व निष्कर्ष निकालती है, तुलना करती है, शिकायत करती है, पसंद-नापसंद करती है, वगैरह, वगैरह। यह भी ज़रूरी नहीं है कि आप जहां हों या जिस परिस्थिति में हों, यह आवाज़ उस समय उसी प्रसंग की बात बोल रही हो। हो सकता है कि वह हाल ही में गुज़रे समय को या काफ़ी पहले गुज़रे समय को फिर से जिला रही हो, यानी अतीत के गढ़े मुर्दों में फिर से जान डाल रही हो, या किसी संभावित भावी स्थिति की रिहर्सल कर रही हो या कुछ कल्पना कर रही हो। अक्सर, वह चीज़ों के बिगड़ने की या नकारात्मक परिणाम पाने की कल्पना अधिक किया करती है, इसी को चिंता कहते हैं। कभी-कभी तो इस साउंडट्रैक के साथ दृश्य-कल्पना या ''मानसिक चलचित्र'' भी जुड़ जाया करता है। भले ही वह आवाज़ प्रत्यक्ष परिस्थिति के प्रसंग में हो, लेकिन उसकी व्याख्या वह अतीत के अनुसार ही करेगी इसका कारण यहाँ है कि वह आवाज़ आपके उस पूर्व-प्रभावग्रस्त और पूर्व-संस्कारग्रस्त मन से ही आ रही होती है जो कि आपके विगत इतिहास का तथा उस सामूहिक मानसिकता का परिणाम होता है जो कि आपको वंशानुगत मिला होता है। इस तरह, आप वर्तमान को अतीत के चश्मे से देख रहे होते हैं और उसका वास्तविक अर्थ नहीं बल्कि उसका बिल्कुल उलट-पुलट अर्थ बताने वाला रूप आपको दिखाई दे रहा होता है। इसीलिए, वह आवाज़ अगर खुद उस व्यक्ति की ही बदतरीन दुश्मन बन जाती हो जिसके सिर में वह बोल रही होती है तो इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। कुछ लोग तो अपने सिर में एक अत्याचारी, एक उत्पीड़क, एक ज़ालिम को लिए हुए ही जिया करते हैं जो कि उन पर ही लगातार हमले करता रहता है, उन्हें दंडित करता रहता है और उनकी ही जीवन शक्ति को सोखता रहता है। और, फिर

यही बन जाता है उनके क्लेश, कलह, व्यथा तथा दुख का, और रोग का भी, अनकहा कारण।

अच्छी बात यह है कि आप खुद को अपने मन से आज़ाद *कर सकते हैं,* और यही होती सच्ची मुक्ति। इसका पहला कदम तो आप अभी ही उठा सकते हैं। जब-जब भी हो सके, आप अपने सिर के अंदर बोलती आवाज़ को ध्यान से सुनना शुरू कीजिए। बार-बार आने वाले उन विचारों के ढर्रे पर विशेष ध्यान दीजिए जो पुराने ग्रामोफ़ोन रिकॉर्डों की तरह आपके सिर में शायद सालों से बजते आ रहे हैं। "विचारकर्ता का अवलोकन" करने का मेरा यही अर्थ है, इसका छोटा सा सूत्र यह है: अपने सिर में बोलती आवाज़ को ध्यान से सुनिए, एक साक्षी के रूप में वहां उपस्थित रहिए।

जब भी आप उस आवाज़ को सुनें तो तटस्थ भाव से सुनें, यानी कोई निर्णय-निष्कर्ष न लें। जो आप सुनें उसकी कोई निंदा-आलोचना भी न करें और न ही किसी नतीजे पर पहुंचें, क्योंकि ऐसा करने का अर्थ तो यही होगा कि वही आवाज़ पिछले दरवाज़े से दोबारा अंदर आ गई है। तटस्थ भाव से सुनने पर, आपको प्रत्यक्ष अनुभव होने लगेगा: एक आवाज़ है, और उसे *मैं सुन रहा हूं,* ध्यान से सुन रहा हूं। यह *मैं सुन रहा हूं* वाला बोध, आपके स्वयं वहां उपस्थित होने का यह भाव, यह कोई विचार नहीं है। यह तो मन के पार से आ रहा होता है।

इस प्रकार, जब आप अपना कोई विचार सुनते हैं, तब आप केवल उस विचार के प्रति ही सजग नहीं रहते हैं बल्कि उस विचार के साक्षी के रूप में खुद के प्रति भी सजग रहते हैं। तब चैतन्यता का एक नया ही आयाम आप में आ गया होता है। जब आप उस विचार को सुनते हैं, तो उस विचार के पीछे या उसके नीचे-नीचे आप एक चैतन्य उपस्थिति को-अपने गहन स्वरूप को-अनुभव करते हैं। ऐसे में, वह विचार आप पर हावी होने की अपनी शक्ति खो देता है और शीघ्र ही तिरोहित हो जाता है, क्योंकि तब आप मन के साथ तादात्म्यता न करने के कारण मन को कोई ऊर्जा नहीं दे रहे होते हैं। बेइरादा, बेइख्तियार और खुद-ब-खुद चलने वाली मनोग्रस्त विचार प्रक्रिया के अंत की शुरुआत होती है यह।

विचार जब तिरोहित हो जाता है तब आप अपने मन की धाराप्रवाहता में एक विराम, एक अवकाश महसूस करते हैं-'मन की अनुपस्थिति ' जैसा एक अंतराल-महसूस करते हैं। पहले-पहले तो यह अंतराल छोटे ही होंगे, शायद कुछ पलों के ही हों, लेकिन धीरे-धीरे ये अंतराल लंबे होते चले जायेंगे। जब ये अंतराल आते हैं तब आप अपने भीतर एक तरह का ठहराव और शांति महसूस करते हैं। *बीइंग* के साथ ऐक्य अनुभव करने वाली सहज-स्वाभाविक अवस्था की शुरुआत होती है यह, जिसे कि अभी तक आपके मन द्वारा दुरूह तथा दुर्गम बनाया जाता रहा था। अभ्यास करते-करते, ठहराव, स्थिरता, नीरवता और

शांति का यह अहसास, यह अनुभूति गहन से गहनतर होती जायेगी। दरअसल, इस गहनता की कोई थाह नहीं होती। तब, आप अपने भीतर गहराई से आते हुए आनंद के एक सूक्ष्म आविर्भाव को महसूस करेंगे: *बीइंग* का आनंद होगा यह।

यह कोई मूर्छा जैसी अवस्था नहीं होती है-बिल्कुल भी नहीं। इसमें चैतन्यता जाती नहीं है, बल्कि उसका उल्टा होता है। यदि शांति का मूल्य आपकी चैतन्यता को कमतर करना होता, और स्थिरता व नीरवता का मूल्य आपको सजीवता और सजगता से रहित करना होता, तो वे हासिल करने योग्य ही नहीं होते। भीतरी संबद्धता व जुड़ाव की इस अवस्था में, आप मन के साथ तादात्म्य में रहने की अवस्था की अपेक्षा, कहीं अधिक जागरूक, कहीं अधिक प्रबुद्ध रहते हैं। तब आप पूरी तरह उपस्थित रहते हैं, विद्यमान रहते हैं। यह अवस्था उस ऊर्जा क्षेत्र की स्पंदन आवृत्ति को भी बढ़ा देती है जो हमारे शरीर को जीवन देता है।

'मन की अनुपस्थिति ' वाले इस प्रदेश में जब आप और गहरे में जाते हैं, तब आप विशुद्ध चैतन्यता की अवस्था अनुभव करते हैं। इस अवस्था में, आपको अपनी ही उपस्थिति इतनी सघनता के साथ, इतने आनंद के साथ अनुभूत होती है कि उसकी तुलना में आपकी तमाम विचारणा, तमाम भावनाएं, पंचतत्वों का आपका यह शरीर, और समूचा बाहरी संसार-ये सभी अपेक्षाकृत महत्वहीन और नगण्य हो जाते हैं। लेकिन, तब भी यह कोई स्वार्थपरता वाली अवस्था नहीं होती, बल्कि स्व-रहितता वाली अवस्था रहती है। अभी तक जिसे आप "स्वयं आप" के रूप में देखते-समझते आए थे, यह आपको उससे पार और परे ले जाती है। यह उपस्थिति सारभूत रूप से आप स्वयं होते हैं। साथ ही, अबोध्य और असीम रूप से वह आप से विशाल होती है। जो बात मैं यहां कहने की कोशिश कर रहा हूं, वह परस्पर विरोधाभासी और प्रतिकूल भी लग सकती है, लेकिन इसके अलावा कोई और तरीका भी तो नहीं है जिसके द्वारा मैं उसे बता सकूं।

"विचारकर्ता का अवलोकन" करने के बजाय आप ऐसा भी कर सकते हैं कि अपने अवधान का, अपने ध्यान का फ़ोकस 'अब' की ओर मोड़ कर अपने मन की निरंतर चलायमानता में एक अंतराल पैदा कर दें। और, इसके लिए केवल वर्तमान पल के प्रति अत्यंत चैतन्य हो जाएं, बस। ऐसा करना गहरा संतोष देने वाला होता है। इस तरह से, आप अपनी चैतन्यता को मन की हरकतों से बचा कर दूर ले जा सकते हैं और 'मन की अनुपस्थिति ' का एक अंतराल, एक फ़ासला, एक ऐसा ठहराव बना सकते हैं जिसमें आप अत्यंत सजग व सचेत तो रहते हैं लेकिन विचार नहीं कर रहे होते हैं। यही है ध्यान का सार।

अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन में, इसका अभ्यास आप रोजमर्रा के किसी भी ऐसे काम को करते हुए कर सकते हैं जिसे कि आदतन करना आपकी दिनचर्या का एक भाग बना हुआ है-उस काम को आदतन करने के बजाय आप उसे अपना पूरा अवधान, अपनी पूरी तवज्जो देकर करें, जिससे कि वह काम भी अपने आपमें एक लक्ष्य बन जाए। उदाहरण के लिए, अपने घर में या अपने कार्यस्थल पर, जब भी आप सीढ़ियां चढ़ें या उतरें, तब अपने हर कदम पर, अपनी हर गतिविधि पर, यहां तक कि अपने सांस पर भी, आप अपना पूरा-पूरा ध्यान बनाए रखें। पूरी तरह वर्तमान में रहें। या, जब भी आप अपने हाथ धोएं तब हाथ धोने के दौरान अपने अंगों को महसूस होने वाली सभी अनुभूतियों पर ध्यान दें-पानी की आवाज़, हाथों पर उसकी छुअन, आपके हाथों का संचालन, साबुन की सुगंध, वगैरह, वगैरह। या, जब आप अपनी कार में बैठें तब दरवाज़ा बंद कर लेने के बाद, कुछ पल ठहरें और अपने श्वास-प्रश्वास की गति पर ध्यान दें। वहां अपनी उपस्थिति की नीरव, शांत लेकिन ऊर्जस्वी अनुभूति को महसूस करें। एक ऐसा पैमाना है जिस पर आप इस अभ्यास की सफलता को माप भी सकते हैं और वह है शांति की वह मात्रा जो आप अपने भीतर महसूस करते हैं।

इस तरह, आत्मज्ञान की प्राप्ति की आपकी यात्रा में जो एक अकेला सबसे महत्वपूर्ण कदम है वह है: खुद को अपने मन के चोले से बाहर निकालना सीखें। जब भी आप अपने मन की चलायमानता में एक अंतराल पैदा कर लेते हैं, तब आपकी चैतन्यता का प्रकाश अधिक प्रबल होकर निकलता है।

एक दिन ऐसा भी आ सकता है कि जब आप अपने सिर में से आने वाली आवाज़ को सुनकर कुछ इस तरह मुस्कुरा पड़ें जैसे कि आप किसी बच्चे की कलाबाज़ी या उछल-कूद पर मुस्कुरा पड़ते हैं। इसका मतलब यह होगा कि अपने मन की विषय-वस्तु को अब आप पहले जैसी गंभीरता से नहीं लेते हैं, क्योंकि अब आपका स्व का भाव आपके मन पर निर्भर नहीं करता है।

एन्लाइटेनमैन्ट: विचार के स्तर से ऊपर उठना

इस संसार में ज़िंदा रहने के लिए सोचना-विचारना क्या आवश्यक नहीं है?

आपका मन तो एक उपकरण है, एक औज़ार है, एक साधन है। इसे कुछ विशेष कार्य को करने के लिए बनाया गया है, और जब वह कार्य संपन्न हो जाए तब इसे आप यथास्थान

वापस रख दें। हक़ीक़त तो यह है कि अधिकतर लोगों का 80 से 90 प्रतिशत सोचना-विचारना न केवल बार-बार दोहराना और निरर्थक सोचना मात्र होता है बल्कि गड़बड़ी वाला और अधिकतर नकारात्मक प्रकृति वाला होने के कारण, अधिकांशतः वह हानिकारक भी होता है। अपने मन का अवलोकन करके तो देखिए और आप पायेंगे कि यह बात बिल्कुल सच है। इसके कारण आपकी जीवनी शक्ति का बहुत अधिक ह्रास होता रहता है, आप उसे व्यर्थ गंवाते रहते हैं।

इस प्रकार के सोचने-विचारने से अगर आप खुद को रोक नहीं पाते हैं तब यह सचमुच एक लत बन जाता है। लत की पहचान क्या होती है? सीधे सरल शब्दों में यह होती है: जब आपको यह भी महसूस न हो कि इसे रोकने का विकल्प भी आपके पास है तब समिझए कि वह बात लत बन चुकी है। लत आपसे भी अधिक बलवाली हो जाती है। लत आपको सुख की एक ग़लतफ़हमी भी दिया करती है, वह सुख जो कि निश्चित रूप से दुख में बदल जाया करता है।

हम सोचने के लती क्यों बन जाते हैं?

क्योंकि आप खुद को इसके साथ तादात्म्य कर लेते हैं, इसके साथ एकाकार व एकजान हो जाते हैं, जिसका मतलब है कि आप अपने स्व की, खुद के होने की अनुभूति अपने मन में भरी हुई चीज़ों से, उसकी बातों से प्राप्त करने लगते हैं, क्योंकि आपको लगता है कि अगर आपने सोचना बंद कर दिया तो जैसे आपका होना ही ख़त्म हो जायेगा। जैसे-जैसे आप बड़े होते जाते हैं, अपनी व्यक्तिगत तथा सांस्कृतिक संस्कारग्रस्तता के आधार पर आप अपनी एक मानसिक छवि रच लेते हैं कि आप क्या हैं। अपनी इस मायावी या काल्पनिक छवि को हम अहं कह सकते हैं। यह अहं हमारे मन की हरकतों का बना होता है और इसलिए इसका बना रहना हमारी लगातार चलने वाली सोच पर ही टिका होता है। अहं शब्द का अर्थ अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग हो सकता है, लेकिन जब मैं यहां इस शब्द को प्रयोग करूं तो इसका अर्थ होगा: वह मिथ्या 'मैं' जो कि अपने मन के साथ अचैन्य रूप से खुद को तादात्म्य कर लेने से उत्पन्न होता है।

अहं के लिए, वर्तमान पल तो जैसे होता ही नहीं है। उसके लिए तो केवल गत और आगत, अतीत और भविष्य ही महत्वपूर्ण हुआ करते हैं। मन द्वारा इस तरह सत्य को पूरी पूर्णतया पलट दिए जाने से इस तथ्य का पता चल जाता है कि अहं की रीति-नीति पर चल कर ही मन इतना अव्यवस्थित, विशृंखल और गड़बड़झाला बन गया है। वह हमेशा ही अतीत को जीता-जागता बनाए रखने की जुगत में रहा करता है, क्योंकि, उसके अनुसार, अतीत के बिना भला आप कौन हैं, क्या हैं? वह खुद को भविष्य में लगातार प्रक्षेपित करता रहता है-अपने निरंतर अस्तित्व को सुनिश्चित करने के लिए भी और वहां

किसी तरह की राहत या कोई उपलब्धि पाने के लिए भी। वह कहा करता है: "एक दिन जब ऐसा हो जायेगा या वैसा हो जायेगा, या कुछ और हो जायेगा, तब सब ठीक हो जायेगा, तब मैं सुखी हो जाऊंगा, तब मुझे शांति मिल जायेगी।" अगर कभी अहं वर्तमान में रुचि ले भी रहा होता है तो वह उस वर्तमान को देख ही नहीं रहा होता है जो कि है, बल्कि उसे पूरी तरह से ग़लत रूप में देख रहा होता है क्योंकि वह उसे हमेशा अतीत की दृष्टि से ही देखा करता है। या, वह वर्तमान को किसी लक्ष्य की प्राप्ति का केवल एक साधन बना रहा होता है-कोई ऐसा लक्ष्य जो कि मन-रचित भविष्य में ही कहीं स्थित रहा करता है। अपने मन का अवलोकन किया कीजिए, और आप जान जायेंगे कि वह किस तरह से काम करता है।

स्वतंत्रता की, विमुक्ति की चाबी वर्तमान पल में ही उपलब्ध रहती है, लेकिन जब तक आप अपना मन *बने हुए हैं* तब तक आप वर्तमान पल को पा ही नहीं सकते हैं।

विश्लेषण और विवेचन करने की अपनी क्षमता को मैं खोना नहीं चाहता। अधिक स्पष्ट तरीके से सोचना, अधिक फ़ोकस के साथ सोचना-यह सीखने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन मैं अपने मन को खोना नहीं चाहता। सोचने का गुण ही तो हमारे पास एक सबसे अधिक मूल्यवान चीज़ है। इसके बिना तो हम केवल एक किस्म के पशु बन कर रह जायेंगे।

चेतना के विकास-मार्ग में मन का प्रबल होना केवल एक मुकाम होता है। आवश्यकता इस बात की आ गई है कि अब हमें यथाशीघ्र अगले पड़ाव पर जाना होगा, अन्यथा हम इस मन के द्वारा तबाह कर दिए जायेंगे क्योंकि अब यह बड़ा ही विकट हो गया है। इस बारे में मैं विस्तार से चर्चा बाद में करूंगा। सोचना-विचारना और चैतन्य होना एक ही बात नहीं है। विचार करना चैतन्यता का केवल एक छोटा सा पहलू है। विचार चैतन्यता के बिना नहीं हो सकता, लेकिन चैतन्यता को विचार की आवश्यकता नहीं होती।

आत्मज्ञान होने का मतलब है विचार से ऊपर उठना, विचार के स्तर से नीचे, यानी पशु-पक्षी या पेड़-पौधों के स्तर पर, वापस न गिरना। आत्मज्ञान की अवस्था में, आप अपने विचारकर्ता मन का इस्तेमाल तभी करते हैं जब ऐसा करना आवश्यक होता है, लेकिन वह भी पहले की अपेक्षा कहीं अधिक केंद्रित तथा प्रभावी ढंग से। तब, आप अपने मन का उपयोग केवल व्यावहारिक कामकाज के लिए करते हैं, किंतु इसकी खुद-ब-खुद और लगातार चलने वाली अंदरूनी बक-बक से आप आज़ाद रहते हैं, और इससे आपको एक भीतरी नीरवता, निश्चलता व शांति मिलती है। तब, अगर कभी आप अपने मन का प्रयोग करते भी है, और ख़ासतौर से तब करते हैं जब किसी रचनात्मक समाधान की आवश्यकता आ पड़ती है, तब भी आप हर कुछ मिनटों में विचार और विचाररहितता के

बीच, मन और मनरहितता के बीच आते-जाते रहते हैं। 'मन के अनुपस्थित ' रहने की अवस्था ही विचाररहित चैतन्यता की अवस्था होती है। केवल इसी अवस्था में रचनात्मक रूप से सोचना संभव हो पाता है, क्योंकि इसी अवस्था में विचार में वास्तविक शक्ति होती है। अकेला विचार-यानी जब विचार चैतन्यता वाले अत्यंत विशाल साम्राज्य के साथ जुड़ा नहीं रहता-तब वह बहुत जल्दी ही निरर्थक, उन्मादी और विनाशक बन जाता है।

मन, अनिवार्य रूप से, अपने ही अस्तित्व की रक्षा में लगे रहने वाला एक यंत्र है। दूसरे मनों पर आक्रमण करना और उनसे अपना बचाव करना, सूचनाओं को एकत्र करना, उन्हें अपने गोदाम में भरे रखना और उनका विश्लेषण करते रहना-ये काम वह बखूबी किया करता है, लेकिन मन रचनात्मक बिल्कुल भी नहीं है। जितने भी अच्छे चित्रकार हैं वे अपनी 'मनरहित ' अवस्था में से ही, अपनी भीतर की नीरवता और निश्चलता की अवस्था में से ही, अपनी रचना किया करते हैं, भले ही वे यह बात जानते हों या न जानते हों। ऐसी अवस्था वाला मन ही उनकी रचनात्मक तरंग को, उनकी अंतर्दृष्टि को रूप व आकार प्रदान किया करता है। बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने भी बताया है कि उनका रचनात्मक प्रस्फुटन उनकी मानसिक शांतता व स्थिरता के समय ही हुआ है। आंइस्टीन सहित अमेरिका के सर्वोच्च प्रतिष्ठित गणितज्ञों के बीच कराए गए देशव्यापी सर्वेक्षण के दौरान उनसे उनके कार्य करने के तरीके के बारे में पूछे गए प्रश्नों के उत्तर चौकाने वाले रहे हैं और वे ये कि 'रचनात्मक कार्य के उस छोटे तथा निर्णायक चरण में, विचार तो केवल एक सहायक की भूमिका अदा करता है'। इसलिए मैं तो कहूंगा कि जिस कारण से बहुत सारे वैज्ञानिक रचनात्मक नहीं हो सके उसका सीधा-सीधा कारण यह नहीं है कि वे यह नहीं जानते थे कि सोचा कैसे जाए, बल्कि यह है कि वे नहीं जानते थे कि सोचना रोका कैसे जाए!

यह चमत्कार मन के जरिए, विचार के जरिए नहीं हुआ है कि इस पृथ्वी पर जीवन की तथा आपके शरीर की रचना की गई और उसको संभाला भी जा रहा है। स्पष्ट है कि कोई प्रज्ञा काम कर रही है और वह इस मन से कहीं अधिक विशाल है। यह कैसे संभव हुआ है कि एक इंच के 1/1000 वें भाग की मानव कोशिका अपने डीएनए में इतने सारे अनुदेश भरे रखती है जिन्हें बताने में 600 पन्नों की 1000 किताबें भर जायेंगी? अपने शरीर की कार्यप्रणाली के बारे में हम जितना अधिक जानते जा रहे हैं, उतना ही हमें पता चल रहा है कि इसके अंदर काम कर रही प्रज्ञा कितनी अपार है और उसके बारे में हम कितना कम जानते हैं। मन जब उस प्रज्ञा के साथ पुनः जुड़ जाता है, तब वह सबसे अद्भुत और असाधारण साधन बन जाता है। तब, वह हमें ऐसा कुछ प्रदान करता है जो कि खुद इससे भी महान होता है।

भावना: आपके मन के प्रति आपके तन की प्रतिक्रिया

भावनाओं का क्या किया जाए? अपने मन से अधिक तो मैं अपनी भावनाओं में ही उलझा रहता हूं?

मन, जिस रूप में मैं इस शब्द का प्रयोग कर रहा हूं, केवल विचार नहीं होता। इसमें आपकी भावनाएं और उनके साथ ही समूचा अचेतन मानसिक-भावनात्मक प्रतिक्रिया वाला एक पूरा ढर्रा भी शामिल रहता है। भावना तब उभर कर आती है जब मन और शरीर मिल जाते हैं। आपके मन के प्रति आपके शरीर की प्रतिक्रिया होती है यह-या आप यह कह सकते हैं कि यह आपके शरीर पर पड़ने वाला आपके मन का प्रतिबिंब होता है। उदाहरण के लिए, एक आक्रामक या उग्र विचार आपके शरीर में एक ऊर्जा खड़ी कर देता है जिसे हम क्रोध कह देते हैं। तब शरीर लड़ने-भिड़ने के लिए तैयार हो जाता है। यह विचार कि आप ख़तरे में हैं-चाहे वह शारीरिक ख़तरा हो या मनोवैज्ञानिक ख़तरा-यह विचार शरीर के संकुचन का कारण बन जाता है और शरीर के इस पहलू को हम भय कहते हैं। अनुसंधान बताते हैं कि बलवती भावनाएं शरीर के जैव-रसायन पर भी असर डालती है। ये जैव-रासायनिक परिवर्तन ही भावनाओं के शारीरिक पक्ष को प्रकट करते हैं। आमतौर पर आप अपने समूचे विचार ढर्रे के प्रति सजग नहीं रहा करते हैं, इसलिए अपनी भावनाओं का अवलोकन करने से ही यह संभव हो पाता है कि आप उनके प्रति सजग रह सकें।

अपनी विचार प्रक्रिया के साथ आप जितना अधिक तादात्म्य हो जाते हैं, पसंद-नापसंद किया करते हैं, निर्णय-निष्कर्ष निकाला करते हैं, टीका-टिप्पणी किया करते हैं, यानी अपनी चैतन्यता के साथ आप जितने कम उपस्थित रहते हैं, आपकी भावनात्मक शक्ति उतनी ही बलवती होती जाती है-भले ही इस बात से आप अवगत रहते हों या न रहते हों। लेकिन, जब आप भावनाओं से नाता तोड़ लेंगे तब, परिणामस्वरूप, उनको आप केवल शारीरिक स्तर पर ही महसूस करेंगे-केवल एक शारीरिक समस्या की तरह या किसी लक्षण की तरह। हाल ही के वर्षों में इस विषय पर काफ़ी किताबें लिखी जा चुकी हैं, इसलिए हमें इसमें अधिक जाने की आवश्यकता नहीं है। आपका कोई भी सबल अचैतन्य भावनात्मक स्वरूप आपके साथ घटित होने वाली किसी बाहरी घटना के रूप में भी प्रकट हो सकता है, और वह भी बिना बात के। उदाहरण के लिए, मैंने देखा है कि जो लोग, अनजाने ही और प्रकट किए बिना ही, अपने अंदर क्रोध का एक भंडार लेकर चला करते हैं, उन पर क्रुद्ध लोगों द्वारा अधिक आक्रमण किया जाता है, शाब्दिक तौर पर भी और शारीरिक तौर पर भी, और वह भी अक्सर बिना किसी ख़ास कारण के ही। इस तरह के लोगों में से क्रोध का जैसे एक इतना जबरदस्त रिसाव हो रहा होता है कि कुछ लोग

उसे अवचेतन रूप से महसूस कर लेते हैं और वह उनके अपने अंदर बैठे उनके ही क्रोध को भड़का दिया करता है।

यदि आपको अपनी भावनाओं को अनुभूत करने में कोई कठिनाई होती हो तो आप अपने शरीर की आंतरिक शक्ति पर अपने ध्यान व अवधान को फ़ोकस करना शुरू कीजिए। अपने शरीर को अपने अंदर से महसूस कीजिए। ऐसा करना आपको अपनी भावनाओं के संपर्क में भी ले आयेगा। इस पर बाद में अधिक विस्तार से चर्चा आगे करेंगे।

आपका कहना है कि शरीर पर पड़ने वाला मन का प्रतिबिंब ही भावना होती है। लेकिन कभी-कभी तो इन दोनों में ही द्वंद्व हो जाता है, यानी मन कहता है "नहीं" जब कि भावना कह रही होती हैं "हां" या इसका उलट भी होता है।

अगर आप अपने मन को वास्तव में जानना चाहते हैं तो आपका शरीर उसका एक सच्चा प्रतिबिंब दिखा देगा, इसलिए अपनी भावना को अपने शरीर में देखिए, बल्कि महसूस कीजिए। अगर इन दोनों में साफ़ तौर पर कोई द्वंद्व दिखाई दे तो विचार झूठ बोल रहा होगा और भावना सच बोल रही होगी-वह वाला परम सत्य नहीं कि आप कौन हैं, बल्कि आपके मन की अवस्था के बारे में तत्कालीन सत्य।

सतही विचारों के और अचैतन्य मानसिक प्रक्रियाओं के बीच चलने वाला द्वंद्व एक सामान्य बात है। हो सकता है कि अपने अचैतन्य मन की गतिविधियों को *विचार* के रूप में पहचानने में अभी आप सक्षम न हुए हों, लेकिन शरीर में एक *भावना* के रूप में तो वह हमेशा ही प्रतिबिंबित हुआ करता है, और उसके प्रति आप सजग व अवगत भी हो सकते हैं। किसी भावना को इस तरह से देखना ऐसा ही है जैसे किसी विचार को देखना या सुनना, जैसा कि मैंने पहले बताया है। अंतर केवल इतना है कि विचार तो आपके दिमाग़ में रहा करता है, जब कि भावना में एक सशक्त शारीरिक अंश होता है, और इसलिए मुख्य रूप से वह शरीर में ही महसूस की जाती है। तब, उस भावना से नियंत्रित हुए बिना ही आप उसे शरीर में ही रहने दे सकते हैं। ऐसे में, आप खुद वह भावना नहीं बन जाते हैं, बल्कि उसकी उपस्थिति के दृष्टा बन जाते हैं, उसके अवलोकनकर्ता बन जाते हैं। अगर आप इसका अभ्यास करेंगे तो जो कुछ भी आपके अंदर अचैतन्य है वह सब चैतन्य के प्रकाश में आ जायेगा।

तो, क्या भावना का अवलोकन करना भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि विचार का अवलोकन करना?

जी हां, अपने आप से यह प्रश्न पूछने की आदत डालिए: इस पल मेरे अंदर क्या चल रहा है? यह प्रश्न आपको सही दिशा की ओर संकेत कर देगा। लेकिन कोई विश्लेषण करने मत बैठ जाइए, बस अवलोकन कीजिए। अपने ध्यान व अवधान का फ़ोकस अपने भीतर रखिए। भावना की ऊर्जा को अनुभव कीजिए। अगर वहां कोई भावना न दिखाई दे तो अपने अवधान को और गहरे में ले जाइए, अपने शरीर की भीतरी ऊर्जा के क्षेत्र में ले जाइए। *बीइंग* में प्रवेश करने का द्वार वही है।

भावना कोई भी हो, वह विचार का ही एक विस्तीर्ण तथा ऊर्जित प्रकट रूप हुआ करती है, और हावी होने वाले इसके प्रबल वेग के कारण, शुरू-शुरू में तो इसका अवलोकन करने के लिए आपका विद्यमान रह पाना भी आसान नहीं होता है। वह आप पर हावी हो जाना चाहती है, और इसमें वह अक्सर कामयाब भी हो जाती है-जब तक कि आपकी विद्यमानता, आपकी 'प्रेज़ेंस' भरपूर न हो। 'प्रेज़ेंस' के अभाव के कारण, अगर आप भावना के साथ अचैतन्य तादात्म्यता में खिंचे चले जाते हैं, जैसा कि अक्सर होता भी है, तब वह भावना अस्थाई रूप से "आप" बन जाती है। और, तब अक्सर, आपके विचार व भावना के बीच एक दुष्चक्र शुरू हो जाता है-वे दोनों एक दूसरे को खुराक देने लगते हैं। विचार तब भावना के रूप में अपना प्रतिरूप बनाते हुए, खुद को बढ़ा-चढ़ा कर प्रतिबिंबित करने लगता है, और भावना का उफनता आवेग विचार प्रक्रिया को खुराक देने लगता है। भावना के उठने का कारण लगने वाली घटनाओं, स्थितियों या व्यक्तियों में ही मानसिक रूप से निमग्न रहते हुए, विचार उस भावना को सबलता ही दे रहा होता है, और बदले में वह भावना विचार प्रक्रिया को बल प्रदान करने में लगी रहती है, और इसी प्रकार यह दुष्चक्र चलता रहता है।

दरअसल, जितनी भी भावनाएं हैं वे सब उस एक प्राचीन तथा अविभेदित भावना का ही विकृत रूप होती हैं जिसका जन्म उसके प्रति सजगता के खो जाने से हुआ है जो कि नाम और रूप से परे आप हैं। इसके अभेद-अभिन्न स्वरूप के कारण, ऐसा कोई नाम ढूंढना बड़ा कठिन होता है जो कि इस भावना का विवरण-वर्णन कर सके। "भय" शब्द इसके सबसे निकट आता है, लेकिन इसमें ख़तरे के एक निरंतर भाव के अलावा परित्याग के और अपूर्णता के गहरे भाव भी शामिल रहते हैं। सबसे अच्छा यह रहेगा कि ऐसा शब्द प्रयोग किया जाए जो कि उतना ही आकाररहित हो जितनी कि वह आधारभूत भावना हो, और इसलिए उसे बस "दुख" कहा जाए। मन का मुख्य काम है उस भावनात्मक दुख को हटाना या मिटाना जो कि उसकी अविराम गतिविधियों का एक कारण रहा करता है, लेकिन वह केवल इतना कर सकता है कि वह उन्हें हाल-फ़िलहाल के लिए बस ढांप दे। सच तो यह है कि मन उस दुख से पिंड छुटाने के लिए जितना अधिक संघर्ष करता है,

दुख उतना ही अधिक बढ़ता चला जाता है। मन कभी भी कोई समाधान हासिल नहीं कर सकता, और न ही वह आपको कोई समाधान हासिल करने देता है, क्योंकि वह तो खुद ही "समस्या" का एक अंतरंग भाग होता है। तनिक एक ऐसे पुलिस अधिकारी की कल्पना कीजिए जो कि किसी घर में आग लगाने वाले अपराधी की तलाश कर रहा हो, जब कि अपराधी वह पुलिस अधिकारी ही है। आप तब तक उस दुख से मुक्त नहीं हो सकते जब तक कि आप मन के साथ अपनी तादात्म्यता में से अपने अहंभाव को, 'मैं' को, ग्रहण करना बंद नहीं कर देते। तभी मन अपने ठिकाने से लुढ़क कर गिर सकता है, और तभी आपके सच्चे स्वभाव के रूप में *बीइंग* प्रकट हो सकता है।

हां, मुझे पता है कि आप क्या पूछने वाले हैं।

मैं पूछना चाहता हूं: सकारात्मक भावनाओं के बारे में आप क्या कहेंगे, जैसे कि प्रेम, आनंद?

वे भावनाएं *बीइंग* के साथ रहने वाली भीतरी जुड़ाव की आपकी स्वाभाविक अवस्था से अलग नहीं रहती हैं। विचारों के धाराप्रवाह में जब भी कोई अंतराल बनता है तब प्रेम की झलकियां या गहन शांति के छोटे-छोटे अवसर घटित हुआ करते हैं। अधिकांश लोगों के लिए तो ऐसे अवसर कभी-कभार इत्तफ़ाक से ही आते हैं, और ऐसे पलों में ही आते हैं कि जब मन "मौन" हो गया हो-कभी महान सौंदर्य के द्वारा, कभी बहुत तेज़ व तनाव भरी शारीरिक गतिविधि के द्वारा, और कभी किसी बड़े ख़तरे में भी। तब, अचानक ही, भीतर एक ठहराव, निश्चलता और नीरवता हो जाती है, और उस ठहराव, निश्चलता तथा नीरवता में ही अनुभूत होता है एक सूक्ष्म किंतु सघन आनंद, प्रेम और शांति।

आमतौर पर, ऐसे अवसर बहुत कम अवधि के होते हैं क्योंकि मन जल्दी ही अपनी शोर-मचाऊ हरकतों में लौट आता है जिसे हम सोचना कहते हैं। प्रेम, आनंद व शांति तब तक फल-फूल नहीं सकते जब तक कि आप मन के हावीपन से खुद को मुक्त नहीं कर लेते, उस में से बाहर नहीं निकाल लेते। किंतु ये सब वे नहीं हैं जिन्हें मैं भावनाएं कहता हूं। वे इन भावनाओं से परे रहती हैं, कहीं अधिक गहरे तल पर। इसलिए, आपको अपनी भावनाओं के प्रति पूरी तरह सजग होना होगा, उन्हें '*महसूस करने*' योग्य होना होगा ताकि जो कुछ उनसे परे है उसे महसूस करने से पहले आप इन सब को महसूस कर सकें।

प्रेम, आनंद और शांति *बीइंग* में होने की गहन अवस्थाएं हैं, या *बीइंग* के साथ आंतरिक जुड़ाव की अवस्था के ये तीन आयाम हैं। इन अवस्थाओं की कोई विपरीत-विलोम अवस्था नहीं होती, और ऐसा इसलिए क्योंकि इनका उद्गम मन के अंदर नहीं बल्कि उसके परे से होता है। इसके उलट, भावनाएं द्वैतवादी मन का भाग होती हैं और

इसलिए वे विपरीत-विलोम के सिद्धांत के अंतर्गत चलती हैं। इसका सीधा सा अर्थ यह है कि भावनाओं के मामले में अच्छी के साथ-साथ बुरी भावना भी चली ही आयेगी। इस तरह, आत्मज्ञान न होने की अवस्था में तथा मन के साथ तादात्म्य कर लेने की अवस्था में; ग़लती से जिसे अक्सर आनंद कह दिया जाता है, वह तो आमतौर पर दुख/सुख के बारी-बारी से चलने वाले निरंतर चक्र में पल दो पल के सुख का एक पहलू मात्र हुआ करता है। सुख हमेशा ही किसी बाहरी चीज़ से प्राप्त किया जाता है, जब कि आनंद आपके भीतर से ही प्रस्फुटित हुआ करता है। इसीलिए, जो चीज़ आपको आज सुखद लग रही है, कल वही चीज़ आपके लिए दुखद हो सकती है, या आपसे दूर जा सकती है और फिर उसका अभाव आपको दुख देने लग सकता है। और, जिसे अक्सर प्रेम कह दिया जाता है, वह कुछ समय के लिए तो आपको सुखद और उत्साही लग सकता है, लेकिन दरअसल वह लगाव की लत होती है, एक बहुत ज़रूरतमंद वाली अवस्था होती है जो कि पलक झपकते ही इसकी विपरीत अवस्था में भी बदल सकती है। बहुत से "प्रेम संबंध" सुख का शुरुआती वेग व उन्माद उतर जाने के बाद "प्रेम" व नफ़रत के और आकर्षण व आक्रमण के बीच झूलने लगते हैं।

सच्चा प्रेम आपको कभी भी कष्ट नहीं देगा। दे भी कैसे सकता है? वह अचानक ही नफ़रत में नहीं बदल जाता, और न ही वास्तविक आनंद कभी दुख में परिवर्तित होता है। जैसा कि मैंने कहा है, आपके आत्मज्ञान की अवस्था में पहुंचने से पहले भी-यानी खुद को मन की तादात्म्यता से बाहर निकाल लेने की अवस्था से पहले भी-आपको वास्तविक आनंद की, सच्चे प्रेम की, या गहन शांति की कोई ऐसी झलक मिल सकती है जो कि शांत होते हुए भी स्पंदनशील हो, जीवंत हो। ये आपके वास्तविक स्वरूप के वे पहलू हैं जो मन द्वारा अक्सर बाधित कर दिए जाते हैं। ऐसे किसी "सामान्य" संबंध में भी जिसके कि आप आदी हो गए हों, कुछ ऐसे पल आ सकते हैं कि जब किसी ऐसी चीज़ का होना महसूस किया जा सकता है जो कि अधिक खरी है, अविकार्य है। लेकिन ऐसे एहसास केवल झलकियां ही होती हैं और मन की दखलअंदाज़ी के कारण जल्द ही विलुप्त हो जाती हैं। तब आपको ऐसा लग सकता है कि आपको एक बेशकीमती चीज़ मिली थी लेकिन वह खो गई, या अपका मन यह कह कर आपको बहका सकता है कि वह तो कोई भ्रम था और कुछ नहीं। लेकिन सत्य यह है कि वह कोई भ्रम नहीं था, और न ही आप उसको खो सकते हैं। वह तो आपकी स्वाभाविक अवस्था का एक भाग है, जिसे मन द्वारा बाधित तो किया जा सकता है लेकिन नष्ट कभी नहीं किया जा सकता। जब आकाश घने बादलों से भरा हुआ हो, तब भी सूर्य लोप थोड़े ही हो गया होता है। बादलों के परली तरफ़ वह तब भी अवस्थित रहता है।

बुद्ध ने कहा है कि दुख तो इच्छा व लालसा के कारण पैदा होते हैं और यह भी कि दुख से मुक्त होने के लिए हमें इच्छाओं की बेड़ियों से मुक्त होना होगा।

जितनी भी इच्छाएं हैं वे सभी मन द्वारा बाहरी चीज़ों में तथा भविष्य में, बीइंग के आनंद के विकल्प के रूप में एक उपलब्धि या मुक्ति की तलाश ही हुआ करती हैं। जब तक मैं मन हूं तब तक वे लालसाएं, वे आवश्यकताएं, वे चाहतें, वे आसक्तियां, वे विमुखताएं मैं ही तो हूं; उनके अलावा कुछ और "मैं" होता ही नहीं हूं, सिवाय ऐसी किसी संभावना, ऐसी किसी अपूर्ण संभाव्यता रूपी बीज के जो कि अभी अंकुरित नहीं हुआ है। उस अवस्था में, मुक्त होने या आत्मज्ञान प्राप्त होने की मेरी इच्छा भी भविष्य में होने वाली उपलब्धि या पूर्णत्व की केवल एक और लालसा ही तो होती है। इसलिए, इच्छा से मुक्त होने की या आत्मज्ञान "प्राप्ति" की इच्छा मत कीजिए। वर्तमान में उपस्थित रहिए, विद्यमान रहिए। अपने मन का अवलोकनकर्ता बनिए। बुद्ध का उद्धरण देने के बजाय स्वयं बुद्ध *बनिए*, प्रबुद्ध *बनिए*, यही है *बुद्ध* शब्द का अर्थ।

इंसान युगों से दुख के चंगुल में फंसा आ रहा है, तभी से जब से कि उसने समय और मन के क्षेत्र में प्रवेश किया है और *बीइंग* के प्रति सजगता को खो दिया है। उस मुक़ाम पर, उसने खुद को एक पराएपन वाले संसार में एक निरर्थक टुकड़े के रूप में देखना शुरू कर दिया था-मूल स्रोत से अलग और दूसरे इंसानों से भी अलग।

जब तक कि आपने खुद को अपने मन के साथ तादात्म्य किया हुआ है, उसके साथ खुद को एकाकार व एकजान किया हुआ है, या आध्यात्मिक भाषा में इसे यूं कह लें कि जब तक आप अचैतन्य हैं, तब तक दुख का होना अपरिहार्य है, अनिवार्य है। यहां मैं मुख्य रूप से भावनात्मक दुख की बात कर रहा हूं, और वही शारीरिक पीड़ा व रोगों का भी मुख्य कारण है। नाराज़गी, रोष, कुढ़न, मनोमालिन्य, नफ़रत, खुद पर तरस खाना, अपराधबोध, क्रोध, अवसाद, ईर्ष्या इत्यादि और यहां तक कि थोड़ा सा चिड़चिड़ापन भी-ये सब दुख के ही रूप हैं। और, हर विषयसुख और हर भावनात्मक आवेग अपने अंदर दुख का ही बीज लिए हुए होता है-यानी अपना ही अविभाज्य विलोम, जो कि कभी आगे समय में प्रकट होगा।

"ऊंचा" उठने के लिए जिसने कभी ड्रग्स लिए हों वह जानता होगा कि वह उठना बाद में गिरना हो जाता है, कि विषयसुख किसी न किसी तरह के दुख में बदल ही जाता है। बहुत से लोगों को अपने अनुभव से यह पता चल गया होगा कि कोई अंतरंग संबंध कितनी आसानी से और कितनी जल्दी सुख के स्रोत से बदल कर दुख का स्रोत बन सकता है। एक उच्चतर दृष्टि से देखने पर, नकारात्मक और सकारात्मक दोनों ध्रुव एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, दोनों ही उस आधारभूत दुख के भाग है जिसे कि चेतना की मन के साथ तादात्म्य वाली अहम्मन्य अवस्था से पृथक नहीं किया जा सकता।

आपके दुख के दो स्तर होते हैं: वह दुख जिसे आप वर्तमान में रचते हैं और वह दुख जो कि जुड़ा तो अतीत से है लेकिन अभी भी आपके तन-मन में रहता है। वर्तमान में कोई दुख न रचना और अतीत के दुख को विदा कर देना-यही वह मुद्दा है जिस पर मैं अब बात करना चाहता हूं।

अध्याय दो

चैतन्यता-दुख से बाहर निकलने का मार्ग है

वर्तमान में अब और दुख पैदा मत कीजिए

किसी का भी जीवन दुख से पूरी तरह मुक्त कभी नहीं रहता है। तो, दुख से बचने की कोशिशें करने के बजाय क्या यह जानना अधिक महत्वपूर्ण नहीं है कि दुख के साथ कैसे जिया जाए?

इंसान के अधिकतर दुख तो दरअसल ऐसे हैं जिन्हें होना ही नहीं चाहिए था। ऐसे तमाम दुख आपके खुद के ही बनाए हुए हैं, यानी जब तक कि आप अपने जीवन की बागडोर अपने उस मन को सौंपे हुए हैं जिसका कि आप कभी अवलोकन भी नहीं करते हैं, जिस पर कि कभी आप ग़ौर भी नहीं करते है, तब तक आप अपने दुखों के जनक खुद ही बने रहेंगे।

वर्तमान में जो भी दुख आप पैदा कर रहे हैं वह हमेशा ही *जो है* को स्वीकार न करने की और *जो है* का प्रतिरोध करने की ही एक अवस्था हुआ करती है। विचार के स्तर पर, यह प्रतिरोध दरअसल आपके मन के निर्णय-निष्कर्ष का, आपके मन की धारणा का ही एक रूप हुआ करता है, और भावनात्मक स्तर पर, यह आपकी नकारात्मकता का, स्वीकार न करने की प्रवृत्ति का एक रूप हुआ करता है। आपके दुख की प्रबलता निर्भर ही इस बात पर करती है कि वर्तमान स्थिति के प्रति आपका प्रतिरोध कितना प्रबल है, और प्रतिरोध की यह प्रबलता इस बात पर निर्भर करती है कि आपने खुद को अपने मन के साथ कितनी प्रबलता से तादात्म्य किया हुआ है, अपने मन के साथ आप कितनी प्रगाढ़ता से एकाकार बने हुए है, यानी किस हद तक आपने यह माना हुआ है कि आपका मन और आप एक ही हैं। हमारा मन हमेशा ही 'अब' को नकारने, उसे अस्वीकार करने और उससे बच निकलने की कोशिश में रहा करता है। दूसरे शब्दों में, आप अपने मन के साथ खुद

को जितना तादात्म्य करते जायेंगे, उसके साथ जितना एकाकार व एकजान होते जायेंगे, आपके दुख उतने ही बढ़ते जायेंगे। या, इस बात को उलट कर यूं कहा जा सकता हैः आप 'अब' की जितनी अधिक क़द्र करने लगेंगे, उसे जितना अधिक स्वीकार करने लगेंगे, अपने दुख से आप उतना ही अधिक मुक्त होते चले जायेंगे-और, इस तरह, अपने अहंकारग्रस्त मन से भी मुक्त होते चले जायेंगे।

ऐसा क्यों होता है कि हमारा मन स्वभावतः 'अब' का प्रतिरोध किया करता है, उसे अस्वीकार किया करता है? ऐसा इसलिए होता है क्योंकि वह समय के बिना, यानी अतीत में या भविष्य में जाए बिना, न तो कार्य कर सकता है और न ही निर्देशक बना रह सकता है, इसलिए समय के दायरे से बाहर रहने वाले 'अब' को हमारा मन अपने लिए बड़ा ख़तरा मानता है। दरअसल, मन और समय को अलग-अलग किया ही नहीं जा सकता, वे अविभाज्य हैं, अभिन्न हैं।

ज़रा कल्पना कीजिए कि इस पृथ्वी पर मानव जीवन बिल्कुल नहीं है, केवल पेड़-पौधे और पशु-पक्षी हैं। क्या तब भी इस पृथ्वी पर अतीत व भविष्य जैसी कोई बात होगी? क्या तब भी यहां समय की कोई सार्थकता रह जायेगी? तब अगर कोई पूछेगा, "क्या बजा है?" या "आज दिन क्या है?" तब इसका क्या कोई मतलब होगा? ऐसे सवाल पर पेड़ और चील क्या चकित नहीं हो उठेंगे और पूछेंगे, "समय? यह क्या होता है?" "यहां तो जो है वह केवल अब है। अब ही समय है। इसके अलावा और क्या है?"

हां, यह ज़रूर है कि इस संसार में रहते हुए हमें अपने सांसारिक कामकाज करने के लिए मन की भी आवश्यकता पड़ती है और समय की भी, लेकिन एक ऐसी स्थिति आ पहुंचती है कि जब ये दोनों हमारे जीवन की सारी बागडोर ही अपने हाथों में ले लेते हैं, और यही वह स्थिति होती है कि जब तमाम गड़बड़, दुख और पीड़ा हमारे जीवन में अपनी घुसपैठ करने लगते हैं।

मन, यह सुनिश्चित करने के लिए कि सब कुछ उसके नियंत्रण में रहे, आपके वर्तमान को अतीत और भविष्य की बातों से ढांपने की मनमानी कोशिश में लगा रहता है, और इस तरह, आपकी ओजस्विता और सृजन करने की असीम क्षमता-जो कि 'अब' के ही साथ अभिन्न रूप से मिलजुल कर रहा करती है-वह चूंकि समय द्वारा, अतीत या भविष्य द्वारा ढांप दी जाती है, अतः आपका वास्तविक स्वरूप मन के द्वारा अंधेरे में धकेल दिया जाता है। मानव मन पर समय का भारी बोझ लगातार बढ़ता गया है। दुनिया के सभी इंसान इस बोझ के दुख से पीड़ित हैं, और जब-जब वे वर्तमान के बहुमूल्य पल की उपेक्षा करते हैं, या उसे स्वीकार नहीं करते हैं, या उसे किसी ऐसे भावी पल तक पहुंचने का माध्यम बना लेते हैं जो कि वास्तविकता के धरातल पर न होकर केवल उनके मन में एक ख़ामख़याली के रूप में रह रहा होता है, तब वे अपने उस बोझ को बढ़ा ही रहे होते हैं। वैयक्तिक रूप

से भी और सामूहिक रूप से भी, मानव-मन में एकत्र होते जा रहे समय के इस ढेर में अतीत से आया हुआ दुख भी एक बड़ी मात्रा में रहा करता है।

अगर आप खुद के लिए भी व औरों के लिए भी, अब और दुख पैदा करना नहीं चाहते हैं, और आपके अंदर पल रहे पहले से ही बाकी बचे दुख में अब और दुख जोड़ना नहीं चाहते हैं, तो अब और समय की रचना करना आप बंद कर दीजिए, या कम से कम इतना तो आप कर ही सकते हैं कि अपने जीवन के व्यावहारिक कामकाज के लिए जितना ज़रूरी हो उससे ज़्यादा समय की रचना करना अब आप बंद कर दें। समय की रचना बंद कैसे की जाए? अपने अंदर गहराई तक आप यह महसूस कीजिए कि आपके पास बस यही एक पल है। इस 'अब' पर ही अपने जीवन का प्रमुख फ़ोकस बनाए रखिए। जहां, अभी तक आप समय में, यानी अतीत में या भविष्य में रहते आए हैं और 'अब' में यानी वर्तमान में केवल कभी-कभी ही और वह भी केवल एक छोटा सा दौरा करने आया करते हैं, वहीं अब आप 'अब' में ही रहना शुरू कीजिए और अतीत में या भविष्य में कोई छोटा-मोटा दौरा करने ही जाया कीजिए, और वह भी केवल तब जब आपके जीवन के किसी व्यावहारिक कामकाज के लिए ऐसा करना ज़रूरी ही हो जाए। वर्तमान पल का हमेशा स्वागत कीजिए, उसे स्वीकार कीजिए। जो चीज़ हमारे सामने प्रत्यक्ष उपस्थित है उसके प्रति अपने अंदर प्रतिरोध पैदा करने से ज़्यादा बेकार की व पागलपन की बात भला और क्या हो सकती है? जीवन, जो कि वर्तमान में रहता है और वर्तमान में ही रहेगा भी, उस वर्तमान का विरोध-प्रतिरोध करने से बड़ी पागलपन की बात भला और क्या हो सकती है? *जो है* के प्रति समर्पित हो जाइए। इस प्रत्यक्ष जीवन को अपनाइए और फिर देखिए कि आपके विरूद्ध काम करने के बजाय वह किस तरह एकदम आपके लिए काम करना शुरू कर देता है।

कभी-कभी वर्तमान स्थिति स्वीकार करने योग्य ही नहीं होती, वह दुखद होती है, बहुत बुरी होती है।

वह जैसी भी है, है। ध्यान इस बात पर दीजिए कि आपका मन उस स्थिति पर किस तरह ऐसे नामों के ठप्पे लगा रहा है, यह देखिए कि ठप्पे लगाने की उसकी यह प्रक्रिया किस तरह से काम कर रही है। बैठे-बैठे बस धारणाएं बनाते रहने की उसकी यह प्रक्रिया आपके लिए केवल पीड़ा, दुख व अप्रसन्नता को ही रचा करती है। मन की इस नासमझ हरकत को ध्यानपूर्वक देख लेने पर आप उसकी प्रतिरोधी प्रवृत्ति से बाहर निकल आते हैं, और तब आप *वर्तमान पल को होने दे सकते हैं।* यह आपको बाहरी परिस्थितियों से

भीतरी स्वतंत्रता होने का एहसास करायेगा। फिर आप देखें कि क्या होता है, और फिर यदि आवश्यक हो, या संभव हो तो जो उचित हो वह करें।

सबसे पहले स्थिति को स्वीकार करें, फिर जो उचित हो वह करें। वर्तमान पल में जो कुछ भी हो उसे ऐसे स्वीकार करें जैसे ऐसा होना आपने ही चुना था। हमेशा ही, वर्तमान पल के साथ काम करें, उसके विरुद्ध नहीं। उसे अपना शत्रु न बनाएं बल्कि उसे अपना मित्र बनाएं, साथी बनाएं। ऐसा करना आपके समूचे जीवन को चमत्कारी रूप से बदल देगा।

अतीत का संचित दुख: इस संचित-दुख का अंत करना

जब तक आप 'अब' की शक्ति को ग्रहण करने में सक्षम नहीं हो जाते तब तक आपके द्वारा महसूस किया गया हर भावनात्मक दुख अपने पीछे अपने अवशेष छोड़ता जाता है और फिर वही अवशेष आपके अंदर ज़िंदा रहता है। वहां वह पहले से ही मौजूद अतीत के दुख के साथ वह मिल जाता है और फिर आपके तन व मन को अपना बसेरा बना लेता है। इन सब दुखों में आपके बचपन में झेले गए वे दुख भी शामिल रहा करते हैं जो कि उस संसार द्वारा अनजाने ही आपको दिए गए होते हैं जिसमें कि आप पैदा हुए हैं।

इकट्ठा होता गया यह संचित-दुख एक नकारात्मक पृष्ठभूमि बनकर आपके तन-मन पर कब्जा कर लेता है। अगर आप इसको एक स्वयंभू अदृश्य हस्ती मान लें तो आप सच के बहुत निकट पहुंच रहे हैं। यही होता है भावनात्मक संचित-दुख। इसके अस्तित्व के दो रूप होते हैं: सुषुप्त और सक्रिय। हालांकि यह संचित-दुख 90 प्रतिशत समय सुषुप्त अवस्था में ही रहा करता है, लेकिन अति दुखी व्यक्ति में यह 100 प्रतिशत समय भी सक्रिय रह सकता है। कुछ लोग तो पूरी तरह इस संचित-दुख में ही जिया करते हैं, जब कि अन्य लोग इसे केवल कुछ ख़ास हालात में ही महसूस करते हैं, जैसे घनिष्ठ संबंधों में, या पहले हुई किसी क्षति या कुछ खो जाने से जुड़े मामलों में, या किसी शारीरिक या मानसिक आघात इत्यादि के मामलों में। कोई भी बात इसे भड़का सकती है-ख़ास तौर पर वह बात जो कि आपके किसी पिछले दुख के रूप में आकर इसके तारों को झनझना देने वाली हो। अपनी सुषुप्त अवस्था में से यह जब जागने ही वाली होती है तब तो आपका कोई भी विचार या आपके किसी नज़दीकी द्वारा अनजाने में कही गई कोई छोटी सी टिप्पणी भी इसे सक्रिय कर सकती है।

कुछ संचित-दुख वैसे तो बहुत बेहूदे और अप्रियकर होते हैं लेकिन तुलनात्मक रूप से देखें तो वे उतने हानिकर भी नहीं होते-बिल्कुल उस बच्चे की तरह जो कि बस झींकता

रहता हो, पिन-पिन करता रहता हो। जब कि, अन्य संचित-दुख किसी व्यसन की तरह चिपक जाने वाले होते हैं, वे विनाशकारी दैत्य या सचमुच राक्षस जैसे होते हैं। कुछ तो शारीरिक रूप से प्रचंड हो जाते हैं जब कि बहुत से भावनात्मक रूप से प्रबल हो जाते हैं। कुछ आपके आस-पास वाले या निकटवर्ती लोगों पर आक्रमण कर सकते हैं तो कुछ आप पर ही, यानी अपने आश्रयदाता पर, अपने मेज़बान पर, ही हमला बोल सकते हैं। उस समय अपने जीवन के प्रति आपके विचार तथा आपकी भावनाएं बहुत अधिक नकारात्मक और आत्मघाती हो जाया करती हैं। उस स्थिति में रोग और दुर्घटनाएं अक्सर होने लगती हैं। कुछ संचित-दुख तो अपने मेज़बान को ही, यानी उस व्यक्ति को ही आत्महत्या करने के लिए उकसाने का काम करने लगते हैं जिसमें वे रह रहे होते हैं।

जब आप ऐसा मानते हैं कि आप अमुक व्यक्ति को जानते हैं लेकिन फिर अचानक ही, और पहली बार ही आपका वास्ता कभी उसके पराएपन और अप्रिय व्यवहार से हो जाता है तब आप एकदम दंग रह जाते हैं। लेकिन, इस बात को औरों के बजाय अपने ही अंदर देखना-खोजना कहीं अधिक महत्व रखता है। अपने ही अंदर उठने वाले किसी भी अप्रसन्नता व खेद के लक्षण पर ग़ौर कीजिए-यह संचित-दुख का जाग उठना हो सकता है। वह अपने किसी भी रूप प्रकट हो सकता है, जैसे चिड़चिड़ापन, अधीरता, खिन्न-मन्यता होना, किसी को चोट पहुंचाने या ठेस पंहुचाने का मन करना, क्रोध करना, ताव खाना, अवसाद में डूब जाना, अपने संबंधों में कोई बखेड़ा करने की ज़रूरत महसूस करना, इत्यादि। जब वह अपनी सुषुप्त अवस्था में से जाग रहा हो, आप उसे तभी के तभी पकड़ लीजिए।

अस्तित्व रखने वाली किसी भी अन्य हस्ती की तरह ही, हर संचित-दुख भी जीवित रहना चाहता है, लेकिन वह तभी जीवित रह सकता है जब कि आप बेखुदी में खुद को उसके साथ तादात्म्य हो जाने देते हैं, उसके साथ खुद को एकाकार व एकजान हो जाने देते हैं। तब, वह संचित-दुख जीवंत होकर उठ खड़ा होता है, आप पर हावी हो जाता है, वह "आप बन जाता है", और फिर वह आपके माध्यम से जीता है। उसको अपनी "ख़ुराक" भी आपके माध्यम से ही लेने की आवश्यकता पड़ती है। आपका कोई भी ऐसा एहसास जो कि उसके खुद की तरह का हो, आपकी कोई भी और कैसी भी वह बात जो कि आपके दुख को और बढ़ाने वाली हो-वही उसकी ख़ुराक बन जाती है, उसका भोजन बन जाती है, जैसे क्रोध, विनाशकता, तोड़-फोड़, घृणा, शोक, विषाद, भावनात्मक तमाशा, हिंसा, और बीमारी भी। इस तरीके से जब संचित-दुख आप पर हावी हो जाता है तब वह आपके जीवन में ऐसे हालात पैदा करने लगता है जिनमें कि वह अपने बल की पुनरावृत्ति को बारंबार प्रकट कर सके ताकि उसे अपनी खुराक, अपना पोषण मिलता रह सके। दुख केवल दुख पर ही पलता है, दुख पर ही फलता-फूलता है। वह हर्ष, आह्लाद, आनंद इत्यादि पर कभी पहीं पल सकता। ये उसे न तो रूचते हैं और न ही पचते हैं।

जब संचित-दुख आप पर हावी हो जाता है तब आपकी दुख की हवस भी बढ़ने लगती है। तब आप दुख के या तो शिकार बनने लगते हैं या शिकारी बन जाते हैं। यानी, तब या तो आप खुद ही दुख से दुखी रहना पसंद करने लगते हैं या आप दूसरों को दुख देना चाहने लगते हैं, या दोनों ही स्थितियों में रहने लगते हैं। वैसे, इन दोनों ही स्थितियों में कोई ख़ास अंतर नहीं है। और, चूंकि तब आपको अपनी मनस्थिति की सुध ही नहीं रहती है इसलिए आप जोर-शोर से यह दावा करने लगते हैं कि आपको दुख की चाहना बिल्कुल नहीं है, लेकिन अगर आप बहुत ध्यान से देखेंगे तो पायेंगे कि आपकी सोच और आपका व्यवहार कुछ इस तरह के हो गए हैं कि आप दुख को न केवल जिंदा रखना चाहते हैं बल्कि जारी भी रखना चाहते हैं,-अपने लिए भी और दूसरों के लिए भी। अगर आप इस सब के प्रति सचमुच सजग *रहे होते* तो आप इस ढर्रे में न पड़ते, इससे बाहर निकल आते, क्योंकि और-और दुख चाहना तो एक पागलपन ही है, और सजग रहते हुए कोई पागल नहीं हो सकता।

संचित-दुख, जो कि आपके अहं द्वारा फैलाया जाने वाला अंधेरा ही है, वह दरअसल आपकी चैतन्यता के प्रकाश से डरता है। उसे डर रहता है कि कहीं वह पकड़ा न जाए। उसका अस्तित्व निर्भर ही इस बात पर करता है कि आप अचैतन्य बने रहते हुए उसके साथ तादात्म्यता बनाए रखें, उसके साथ एकाकार व एकजान हो कर ही जिया करें। और, वह आपके उस अचेतन भय पर भी निर्भर करता है जो कि अपने अंदर बैठे हुए दुख का सामना करने में आप महसूस किया करते हैं। लेकिन, अगर आप उस दुख का सामना नहीं करते हैं, अगर आप अपनी चैतन्यता का प्रकाश उस दुख पर नहीं डालते हैं तो फिर आप उस दुख में ही बारंबार व लगातार जीने के लिए बाध्य हो जाया करते हैं। यह संचित-दुख आपको एक ऐसा भयंकर राक्षस लग सकता है जिसे कि आप आंख उठा कर देखने की हिम्मत भी नहीं कर पाते हों, लेकिन मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि वह तो केवल एक हवाई भूत है जो कि आपकी चैतन्यता के उजाले में कभी ठहर ही नहीं सकता।

कुछ आध्यात्मिक शिक्षाओं में बताया गया है कि मूलतः सभी दुख केवल भ्रम व भ्रांति ही होते हैं, और यह बात सच भी है। लेकिन, सवाल यह है कि क्या यह बात आपके लिए भी सच है? केवल विश्वास कर लेना ही किसी बात को सत्य नहीं बना देता। क्या आप अपना शेष पूरा जीवन दुख को अनुभव करते हुए और यह कहते हुए बिताना चाहेंगे कि दुख तो केवल भ्रम है, भ्रांति है? ऐसा करने से क्या आप दुख से मुक्त हो जायेंगे? यहां हमारा सरोकार जिस बात से है वह यह है कि आपको इस सत्य का सचमुच *बोध* कैसे हो-यानी, अपने खुद के अनुभव में आप इसे वास्तविक रूप कैसे दें।

तो, संचित-दुख यह कभी नहीं चाहता है कि आप उसे सीधे और साफ़ तौर पर देखें, कि आप उसे ग़ौर से देखें और यह सोचें व समझें कि वह आख़िर है किस लिए! ज्यों ही आप उसका अवलोकन करते हैं, अपने भीतर उसके बल को महसूस करते हैं, और अपना

ध्यान, अपनी तवज्जो उस पर टिका देते हैं, त्यों ही उसके साथ आपकी तादात्म्यता, उसके साथ आपके एकाकार होने का आभास टूट कर बिखर जाता है। तब, चैतन्यता का एक उच्चतर आयाम आपमें प्रवेश कर जाता है। मैं इसे 'विद्यमानता' कहता हूं-यानी वर्तमान में विद्यमान रहना। तब आप अपने संचित-दुख के साक्षी बन जाते हैं, द्रष्टा और अवलोकनकर्ता बन जाते हैं। अर्थात्, फिर वह दुख 'आप' बन कर आपको इस्तेमाल नहीं कर पाता है, और न ही तब वह आपको खुद के भरण-पोषण का माध्यम ही बना पाता है। तब, आपको अपने ही अंतरतम की शक्ति मिल गई होती है, आपको 'अब' की शक्ति मिल गई होती है।

संचित-दुख का तब क्या होता है जब हम उसके साथ खुद की तादात्म्यता को तोड़ डालने के प्रति काफ़ी सजग हो जाते हैं?

अचैतन्यता तो इस दुख को रचती है और चैतन्यता इसे रूपांतरित करके स्वयं में विलीन कर लेती है, यानी वह इसे भी चैतन्य बना देती है। संत पॉल ने इस सर्वमान्य सिद्धांत को बड़े ही सुंदर शब्दों में व्यक्त किया है-"कोई भी चीज़ तभी दिखाई देती है जब उस पर प्रकाश पड़ता है, और हर वह चीज़ जो इस प्रकार प्रकाशित हो जाती है वह स्वयं प्रकाशमय हो जाती है।" जिस तरह अंधेरे से आपका जूझना बेकार है, उसी तरह संचित-दुख से भी आपका संघर्ष करना बेकार जाता है। यह कोशिश आपमें एक आंतरिक द्वंद्व पैदा कर देती है जो कि आपके संचित-दुख में वृद्धि करने वाला ही सिद्ध होता है। इस दुख को तो बस ध्यानपूर्वक देखना ही काफ़ी होता है। ध्यान से, ग़ौर से से देखने का तात्पर्य है उसे इस पल में *जो है* के रूप में देखना और स्वीकार करना।

आपके संचित-दुख में आपकी वह शक्ति भी शामिल रहा करती है जो कि छल-बल से आपके समूचे ऊर्जा क्षेत्र से हरण कर ली गई है और फिर आपके मन के साथ तादात्म्य करने वाली प्रतिकूल प्रक्रिया का प्रयोग करके वह अस्थाई रूप से एक स्वचालित शक्ति बन बैठती है। यह शक्ति खुद अपने ही पीछे पड़ जाती है और जीवन के प्रतिकूल काम करने लगती है, उस जानवर की तरह जो कि अपनी ही पूंछ को खा जाने कोशिश कर रहा हो। क्या आपको नहीं लगता कि इसी वजह से हमारी सभ्यता इतनी अधिक जीवन-विनाशिनी बन गई है? लेकिन, जीवन विनाशिनी शक्ति होती तो जीवन-ऊर्जा ही है।

जब आप तादात्म्यता को तोड़ना व छोड़ना आरंभ कर देंगे और द्रष्टा बन जायेंगे, तब कुछ समय तक तो संचित-दुख अपनी हरकतें जारी रखेगा और आपको अपने साथ पुनः तादात्म्य करने के लिए, एकाकार हो जाने के लिए, आपको बहलाने-फुसलाने की पूरी कोशिश करेगा। हालांकि उसके साथ तादात्म्यता न करने से आप उसे तब कोई ऊर्जा प्रदान नहीं कर रहे होंगे, लेकिन फिर भी उसमें कुछ वेग तो बचा ही रहेगा, बिल्कुल वैसे

ही जैसे सूत कातने की चरखी तब भी काफ़ी देर तक स्वतः ही घूमती रहती है जब कि उसे घुमाने के लिए आपने ज़ोर लगाना बंद कर दिया हो। इस अवस्था में, संचित-दुख आपके शरीर में कुछ पीड़ा, कुछ दर्द भी दे सकता है, हालांकि वे बहुत देर तक टिकने वाले नहीं होते। आप बस वर्तमान में विद्यमान रहें, चैतन्य बने रहें। अपने अंतःआकाश के सजग-सचेत प्रहरी बने रहें। संचित-दुख को सीधे तौर पर देखने और उसकी ऊर्जा को महसूस करने के लिए आपको पर्याप्त रूप से वर्तमान में विद्यमान रहने की आवश्यकता होगी। ऐसा होने पर, वह आपके विचार को, आपकी सोच को अपने काबू में नहीं कर पायेगा। लेकिन, अगर आपकी विचारधारा आपके संचित-दुख के ऊर्जा क्षेत्र में चली जायेगी, तो आप तुरंत ही उसके साथ पुनः तादात्म्य हो जायेंगे, और अपने विचारों से पुनः उसका भरण-पोषण करने लगेंगे।

उदाहरण के लिए, क्रोध अगर संचित-दुख की एक प्रबल व प्रमुख ऊर्जा तरंग है और क्रोध से भरे विचार आपके अंदर चल रहे हैं, तो आपके मन में उमड़-घुमड़ कर यही विचार आते जा रहे होंगे कि अमुक ने आपके साथ क्या किया या आपको क्या कहा, और अब आप उस व्यक्ति के साथ क्या करने जा रहे हैं। ऐसी अवस्था में आप चैतन्य नहीं रह जाते हैं, अचैतन्य हो गए होते हैं और तब आपका संचित-दुख "आप" बन चुका होता है। जब कभी भी क्रोध आता है तो उसके पीछे दुख अवश्य ही होता है। या, जब कभी भी आप पर उदासी का भाव छा जाता है और आप नकारात्मक मनोभावना पर चलने लगते हैं और सोचने लगते हैं कि आपका जीवन कितना ख़राब है, तो उस समय आपकी विचारधारा संचित-दुख के साथ जा मिली होती है, और इसलिए आप अचैतन्य हो गए होते हैं और अपने ही संचित-दुख के आक्रमण के सहज शिकार हो गए होते हैं। यहां "अचैतन्य" शब्द का प्रयोग मैं जिस अर्थ में कर रहा हूं वह है-अपने किसी मानसिक या भावनात्मक स्वरूप के साथ तादात्म्य हो जाना, एकाकार व एकजान हो जाना, यही है अचैतन्य हो जाना। इसमें यह अर्थ भी शामिल रहता है कि अचैतन्य अवस्था में आप, लेशमात्र भी, न तो द्रष्टा रह जाते हैं, न साक्षी और न ही अवलोकनकर्ता।

अवधान में, सजगतापूर्वक रहने की अवस्था आपके संचित-दुख और आपकी विचार प्रक्रिया के बीच चलने वाली कड़ी को तोड़ देती है और तब रूपांतरण की प्रक्रिया की शुरुआत हो जाती है। यह बिल्कुल ऐसा है जैसे आपका दुख आपकी चैतन्यता के दीपक में पड़ जाने के बाद घी का काम करने लगा हो, और उसके परिणामस्वरूप दीपक की ज्योति और भी अधिक देदीप्यमान हो उठी हो। कीमियागरी की प्राचीन कला का रहस्यात्मक अर्थ भी यही हैः साधारण धातु का रूपांतरण करके उसे सोना बना देना, और दुख का रूपांतरण करके उसे चैतन्यता बना देना। इससे आपके भीतर की टूटन भर जाती हैं और आप फिर से अक्षत, अखंड और अविभाजित हो जाते हैं, संपूर्ण हो जाते हैं।

लेकिन, तब आपकी यह ज़िम्मदारी बन जाती है कि आप आगे और दुख पुनः सृजित न करें।

आइए, इस प्रक्रिया को संक्षेप में बताता हूं। अपने अंदर उठने वाले हर मनोभाव पर ध्यान दीजिए। यह जान लीजिए कि आपका हर मनोभाव आपका संचित-दुख ही होता है। स्वीकार करें कि वह दुख वहां है, आपके भीतर है। उसके बारे में *सोच-विचार* न करें- मनोभाव की उस अनुभूति को, उस एहसास को अपने सोच-विचार में तब्दील न होने दें। उसके बारे में न तो कुछ अच्छा-बुरा सोचें और न ही उसका कोई विश्लेषण करें। उसके साथ अपनी कोई तदात्म्यता न करें, कोई जुड़ाव न बनाएं। बस यथावत मौजूद रहें, विद्यमान रहें, और आपके भीतर जो हो रहा है उसका लगातार अवलोकन करते रहें। आप केवल अपने भावनात्मक दुख के प्रति ही सजग न रहें बल्कि उसके प्रति भी सजग रहें जो कि "अवलोकन कर रहा है"-यानी मौन द्रष्टा। यही होती है 'अब' की शक्ति, वर्तमान की शक्ति-आपके अपने ही चैतन्य स्वरूप की विद्यमानता की शक्ति। और फिर देखें कि क्या होता है।

कई महिलाओं में, यह संचित-दुख, ख़ास तौर से उनके ऋतुस्राव से ठीक पहले जाग उठता है। इसके बारे में और इसके कारणों के बारे में मैं बाद में सविस्तार चर्चा करूंगा। फिलहाल उनसे मेरा इतना ही कहना हैः अगर आप उस ख़ास वक़्त में भी सजग बनी रह सकें, वर्तमान में विद्यमान रह सकें और आपके भीतर जो कुछ भी हो रहा है उसे खुद पर हावी न होने दें बल्कि उसे आप ध्यान से बस *देखें*, तो आपकी वह अवस्था आपके लिए सबसे शक्तिशाली आध्यात्मिक अभ्यास का एक अवसर प्रदान करने वाली हो जाती है, और ऐसे में अतीत के तमाम दुखों का तत्काल रूपांतरण संभव हो जाता है।

संचित-दुख के साथ अहं का तादात्म्य हो जाना

जो तरीका मैंने अब तक बताया है वह बहुत सशक्त होने के बावजूद बहुत सरल है। इसे किसी बच्चे को भी सिखाया जा सकता है और हो सकता है कि एक दिन ऐसा भी आए कि जब बच्चों को सबसे पहले सिखाई जाने वाली बातों में स्कूल इसे भी शामिल कर लें। जो कुछ आपके भीतर घटित हो रहा है, उसे एक अवलोकनकर्ता की तरह, एक द्रष्टा की तरह देखते हुए जब आप वर्तमान में विद्यमान रहने के आधारभूत सिद्धांत को समझ जायेंगे-जब आप इसे स्वयं अनुभूत करते हुए समझ लेंगे-तब सबसे शक्तिशाली रूपांतरकारी साधन आपको उपलब्ध हो जायेगा।

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि अपने दुख से अपना तादात्म्य तोड़ते समय आपको अपने ही भीतर से उठने वाले बड़े भारी विरोध-प्रतिरोध का सामना करना पड़ सकता है। यह बात तब और भी सही सिद्ध हो सकती है कि जब आप अपने जीवन के अधिकांश समय में अपने भावनात्मक संचित-दुखके साथ बड़े प्रगाढ़ रूप से तादात्म्य में रहते आए हों और आपका सारा या अधिकांश स्वरूप उसी में रमा रहा हो। इसका अर्थ यह है कि अपने दुखी रूप-स्वरूप को आपने अपने संचित-दुख से ही निर्मित कर रखा है और आप यही विश्वास करते आए हैं कि आपके मन द्वारा गढ़ी गई यह कल्पित कहानी ही आपकी असल कहानी है। ऐसी अवस्था में, अपनी तादत्म्यता को, अपनी पहचान को खो देने की नौबत आ जाने पर, आपका अचेतन भय इसका जबरदस्त विरोध-प्रतिरोध तो करेगा ही। दूसरे शब्दों में कहें तो ऐसा लगता है कि आप अपने चिरपरिचित दुखी रूप-स्वरूप को खो देने का जोखिम उठाने और अज्ञात में प्रवेश करने की अपेक्षा उस दुख में ही रहना-यानी संचित-दुख बने रहना-ही शायद अधिक पसंद करते हों।

अगर यह बात आप पर लागू होती है तो आप अपने अंदर उठने वाले इस विरोध-प्रतिरोध को ध्यान से देखिए। अपने दुख के प्रति रहने वाली अपनी आसक्ति को, लगाव को, ध्यान से देखिए। अत्यंत सजग-सचेत हो जाइए। उस ख़ास तरह के सुख की अनुभूति को ध्यान से देखिए जिसे आप दुखी रहने से हासिल करते आए हैं। अपने दुख के बारे में बातें करने या उसके बारे में ही सोचते रहने की अपनी बाध्यता को ध्यान से देखिए। इस सब के प्रति अगर आप चैतन्य हो जाते हैं तो उस विरोध-प्रतिरोध का उठना बंद हो जायेगा। तब आप अपने संचित-दुख पर ध्यान दे सकते हैं, द्रष्टा भाव से उसके साथ विद्यमान रह सकते हैं, और इस तरह उसके रूपांतरण का शुभारंभ कर सकते हैं।

केवल *आप* ही यह कर सकते हैं। कोई और इसे *आपके लिए* नहीं कर सकता। हां, सौभाग्य से अगर आपको ऐसा कोई मिल जाता है जो कि गहराई तक चैतन्य है, और अगर आप ऐसे चैतन्य व्यक्तियों के साथ रहने लगते हैं और विद्यमानता की अवस्था में रहते हुए उनसे जुड़े रहते हैं तो वह स्थिति आपके लिए मददगार अवश्य हो सकती है, और तब इस दिशा में प्रगति भी शीघ्र हो सकती है। इस तरह, आपका अपना प्रकाश तीव्रता से तेज़ होता जायेगा। लकड़ी के जिस लट्ठे ने सुलगना शुरू ही किया हो, उसे अगर किसी ऐसे लट्ठे के साथ रख दिया जाए जो कि पहले से ही प्रचंड रूप से जल रहा हो, और फिर कुछ देर बाद उन दोनों को पुनः अलग कर दिया जाए तो सुलगना शुरू करने वाला वह लट्ठा अधिक प्रचंडता से जल रहा होगा। अख़िर, यह भी तो वैसी ही आग है। खुद ऐसी आग बन जाना ही एक आध्यात्मिक गुरू का काम होता है। कुछ चिकित्सक भी यह काम बखूबी निबाह सकते हैं, बशर्ते वे मन के स्तर से ऊपर उठ चुके हों और जिस समय वे आपके साथ काम कर रहे हों उस दौरान वे प्रबल विद्यमानता की अवस्था का सृजन कर सकते हों और उसे बनाए रख सकते हों।

भय का स्रोत

भय का स्रोत भय को आपने हमारे प्राथमिक व आधारभूत भावनात्मक दुख का एक भाग बताया है। भय पैदा कैसे होता है और लोगों के जीवन में यह इतना अधिक व्याप्त क्यों रहता है? और, अगर मुझे आग का डर नहीं होगा तो मैं अपना हाथ उसमें दे सकता हूं और जल सकता हूं।

अपना हाथ आग में न डालने का कारण यह नहीं है कि आप आग से डरते हैं, बल्कि यह है कि आप जानते हैं कि इससे आप जल जायेंगे। अनावश्यक ख़तरे से बचने के लिए आपको डरने की आवश्यकता नहीं पड़ती है-बस थोड़ी समझ और सामान्य सी सूझबूझ की आवश्यकता होती है। ऐसे व्यावहारिक मामलों में अतीत से सीखे हुए सबक को लागू करना बड़ा कारगर रहता है। लेकिन, अगर कोई आपको आग से या शारीरिक हिंसा से *धमकी* देता है तब शायद आपको डर जैसी एक अनुभूति तो हो ही सकती है। डर की यह अनुभूति, दरअसल, खतरे से बच कर पीछे हटने की एक सहज, स्वाभाविक और प्राकृतिक प्रवृत्ति होती है, किंतु यह उस मनोवैज्ञानिक भय की अवस्था नहीं है जिसकी बात हम यहां कर रहे हैं। मनोवैज्ञानिक भय की अनुभूति किसी भी साक्षात, प्रत्यक्ष और सचमुच के खतरे की अनुभूति से बिल्कुल एक अलग चीज़ है। यह तरह-तरह के रूपों में हुआ करती है, जैसे बेचैनी, चिंता, व्यग्रता, घबराहट, तनाव, आशंका, बिना बात का कोई अनजाना डर, इत्यादि। इस प्रकार का यह मनोवैज्ञानिक भय हमेशा ही किसी ऐसी बात का होता है कि *कहीं ऐसा न हो जाए,* न कि किसी ऐसी बात का जो कि ठीक हमारे सामने ही मौजूद हो। इस भय की अवस्था में, *आप* तो यहीं होते हैं लेकिन आपका मन कहीं भविष्य में पहुंच गया होता है। आपके मन की यह अवस्था ही व्यग्रता की, आशंका की एक खाई बना देती है। और, ऐसे में अगर आप अपने मन के साथ खुद को एकाकार बनाए रखते हैं और 'अब' की, वर्तमान की शक्ति व सहजता के साथ अपना संपर्क खो बैठते हैं तो व्यग्रता की यह खाई आपके संग-संग रहने लगती रहती है। किसी वर्तमान स्थिति के साथ अच्छी तरह निपटने में तो आप हमेशा ही सफल हो सकते हैं, लेकिन किसी ऐसी स्थिति के साथ निपटने में आप कभी भी सफल नहीं हो सकते जिसे कि आपके मन ने ही गढ़ लिया हो-आप भविष्य के साथ निपटने में सफल नहीं हो सकते।

एक बात और, जब आप खुद को अपने मन के साथ तादात्म्य किए रखते हैं, यानी उसके साथ आप एकाकार व एकजान बने रहते हैं, उस समय आपका अहं ही आपके जीवन की गाड़ी को चला रहा होता है, जैसा कि मैंने पहले बताया भी है। अपने मायावी स्वभाव के कारण, और अपने रक्षा-तंत्र के प्रति हमेशा चाक-चौबंद रहने के बावजूद, अहं को हमेशा यही डर लगा रहता है कि उसे ख़तरा है, कि वह असुरक्षित है। यह बात उस समय भी

लागू होती है कि जब अहं बाहर से बड़ा आश्वस्त और विश्वस्त दिखाई दे रहा होता है। तो, यह बात याद रखिए कि आपकी हर भावुकता आपके मन के प्रति होने वाली एक शारीरिक प्रतिक्रिया ही होती है। वह कौन सा संदेश है, कौन सा संकेत है जो कि आपके अहं की तरफ़ से, आपके मन द्वारा रचित अपनी मिथ्या छवि की तरफ़ से, आपके शरीर को लगातार मिलता रहता है? वह है-ख़तरा, ख़तरा, मैं ख़तरे में हूं। और, लगातार मिल रहा यह संदेश व संकेत कौन सा मनोभाव पैदा करता रहता है?-भय, और क्या!

मनोवैज्ञानिक भय होने का कोई न कोई तो कारण होता ही है। कोई नुकसान होने का डर, असफल हो जाने का डर, आहत हो जाने का, ठेस लग जाने का डर, वगैरह, वगैरह; लेकिन जितने भी डर हैं वे सभी अंततः अहं की अपनी मौत का, उसके अपने सर्वनाश का डर ही साबित होते हैं। अहं को तो अपनी मौत बस अगले ही मोड़ पर खड़ी हुई लगा करती है। और फिर, आपके द्वारा ऐसे मन के साथ कर ली गई अपनी तादात्म्यता की अवस्था में, अहं की मौत का डर आपके जीवन के हर पहलू को प्रभावित करने लगता है। उदाहरण के लिए, किसी बहस में खुद को सही और दूसरे को ग़लत साबित करने की आपको जबरदस्त ज़रूरत महसूस हुआ करती है और इसे एक आम व साधारण सी बात माना जाता है, लेकिन अपने मन द्वारा बना ली गई जिस छवि के साथ आपने खुद को तादात्म्य कर रखा है, उसका हर संभव बचाव करना-यह भी तो मौत के एक भय के कारण ही किया जाता है। यानी, जब आप अपने मन की बनी हुई किसी छवि के साथ तादत्म्य कर लेते हैं, उसके साथ एकाकार व एकजान हो जाते हैं, और फिर किसी बात में जब आप ग़लत साबित होने लगते हैं, तब आपके मन में बैठी अहं की भावना को ही तो अपनी मौत का ख़तरा लगने लगता है। इसीलिए तो अहं रूपी स्वयं को ग़लत सिद्ध किया जाना आप कभी भी बरदाश्त नहीं कर पाते हैं। आपको लगता है कि आप अगर ग़लत सिद्ध हो गए तो जैसे आप मर ही जायेंगे। इसी कारण से तो लड़ाइयां होती आई हैं, युद्ध होते आए हैं, और इस बात ही पर न जाने कितने संबंध भी टूटते आए हैं।

लेकिन, जब आप अपने मन के साथ अपना तादात्म्य तोड़ देते हैं, तब आपके आत्मभाव को इस बात से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता है कि आपको सही सिद्ध किया जा रहा है या ग़लत, और इसलिए तब स्वयं को सही सिद्ध करने की आपके अचैतन्य मन की एक गहरी और जबरदस्त ज़रूरत-जो कि हिंसा का ही एक रूप होती है-आप में रह ही नहीं जाती है। हां, तब आप स्पष्टता से और दृढ़ता से दूसरों को यह तो बता सकेंगे कि आपको क्या लग रहा है या आपका विचार क्या है, लेकिन ऐसा करते हुए आपमें न तो कोई आक्रामकता होगी और न ही आप अपने बचाव की किसी मुद्रा में होंगे। तब आपका आत्मभाव आपके भीतर कहीं अधिक गहरे से, कहीं अधिक सच्चे स्थान से आ रहा होगा, आपके मन से नहीं। अपने भीतर मौजूद खुद का बचाव करने वाले अपने किसी भाव पर ज़रा ग़ौर तो कीजिए। यह तो देखिए कि आप बचा किसे रहे हैं? अपने एक आभासी, एक

फ़रेबी, एक भ्रामक विशिष्ट भाव को, अपने मन में बनी एक छवि को, अपने एक अवास्तविक स्वरूप को? किसे बचा रहे हैं आप? अपने इस ढर्रे के प्रति सजग-सचेत हो जाने से, इसका द्रष्टा व अवलोनकर्ता बन जाने से, आप उसके साथ बनी हुई अपनी तादत्म्यता से छूट जाते हैं। आपकी इस चैतन्यता के प्रकाश में अचेतन मन के तौर-तरीकों को, उसके रंग-ढंग को, ग़ायब होने में देर नहीं लगती है। और तब अपना बचाव करने की उस सारी बहस का और सारे शक्ति-प्रदर्शन का पटाक्षेप हो जाता है जो कि आपके संबंधों को धीरे-धीरे लीलता जा रहा था। दूसरों पर अपना शक्ति-प्रदर्शन करना, दरअसल, आपकी एक कमज़ोरी ही होती है जिसे हम शक्ति मान बैठते हैं। आपकी सच्ची और वास्तविक शक्ति तो आपकी भीतरी शक्ति है, और वह आपको अभी, इसी पल उपलब्ध है।

इसलिए, जिस किसी ने भी खुद को अपने मन के साथ तादत्म्य कर रखा है, अपने मन के साथ खुद को एकाकार व एकजान कर रखा है, और इसी कारण अपनी सच्ची तथा वास्तविक शक्ति से, अपने अंतरतम की गहराई में विराजमान आत्मभाव से खुद को अलग कर रखा है, उसके संग भय स्थाई रूप से रहने लगता है। जितने लोग मन के इस बंधन से छूट गए हैं उनकी संख्या चूंकि बहुत ही कम है, इसलिए आप यह मान कर चल सकते हैं कि आपका हर परिचित या आपको मिलने वाला शायद हर व्यक्ति, इसी भय की अवस्था में जी रहा है। बस, भय की प्रबलता किसी में कम और किसी में ज़्यादा हो सकती है। तराजू के एक पलड़े में मौजूद व्यग्रता व आशंका और दूसरे पलड़े में मौजूद अनजानी सी घबराहट, बेचैनी और किसी ख़तरे के टपक पड़ने के डर के बीच, यह प्रबलता ऊपर-नीचे होती रहती है। अधिकतर लोग इस बारे में जागते तभी हैं जब यह प्रबलता अपना कोई प्रचंड रूप धारण कर लेती है।

अहं को पूर्णत्व की तलाश रहती है

भावनात्मक दुख-जो कि इस अहंवादी मन का एक अंतरंग तथा स्वाभाविक भाग ही है-उस का एक अन्य पहलू यह भी है कि इसमें अभाव का, अपूर्णता का, यानी खुद के परिपूर्ण न होने का भाव बड़ी गहराई तक समाया हुआ है। कुछ लोगों में तो यह भाव चेतन रहता है और कुछ में यह अचेतन रूप से बसा रहता है। जब यह चेतन रूप से रह रहा होता है तब यह खुद को सुयोग्य, सम्मान्य और पर्याप्त प्रशंसनीय न होने के एहसास से भरा रहता है, और इसलिए इस अपूर्णता को एक बेचैनी के भाव से वह लगातार प्रकट करता रहता है। जब यह अचेतन रूप में रह रहा होता है तब यह अप्रत्यक्ष रूप से तीव्र लालसा, अभाव और तंगी महसूस होने के भाव में रहा करता है। दोनों ही स्थितियों में,

लोग अक्सर अपने अहं को तुष्ट करने की और खुद को चीज़ों के साथ तादात्म्य करने की जबरदस्त होड़ और दौड़ में लग जाते हैं ताकि अपने अंदर महसूस होने वाले इस गड्ढे को, खालीपन को भर सकें। इसीलिए, वे अधिकार, स्वामित्व, पैसा, कामयाबी, मान्यता, या किसी ख़ास रिश्ते के लिए जी-तोड़ कोशिश करने में अपना जीवन खपा दिया करते हैं, लेकिन, मूल रूप से वे ऐसा इसलिए कर रहे होते हैं कि खुद के बारे में वे कुछ बेहतर महसूस कर सकें, खुद को ज़्यादा मुकम्मल महसूस कर सकें। लेकिन, उन तमाम चीज़ों को हासिल कर लेने के बावजूद, जल्दी ही उन्हें यह लगने लगता है कि गड्ढा तो ज्यों का त्यों है, कि वह गड्ढा तो अथाह है। तब वे सचमुच परेशान हो उठते हैं, क्योंकि तब वे खुद को और ज़्यादा नहीं बहका पाते हैं। हालांकि फिर भी वे बहकाने में लगे रहते हैं, भले ही ऐसा करना उनके लिए कठिन से कठिनतर होता जाता हो।

जब तक आपके अंहकारी मन ने आपके जीवन की बागडोर अपने हाथों में ले रखी है, तब तक आपको चैन नसीब नहीं हो सकता, तब तक आप शांति में नहीं जी सकते और न ही अपने जीवन में कभी परिपूर्णता ही अनुभव कर सकते हैं-सिवाय कभी-कभी उन छोटे-छोटे अवसरों के कि जब कभी आपकी कोई मुराद पूरी हो जाए, या जब कभी आपकी कोई तलब पूरी हो जाए। अहं चूंकि स्वार्थ से उत्पन्न हुआ एक भाव है, अतः इसे बाहरी चीज़ों के साथ खुद को जोड़ने की, उनके साथ तादात्म्य करने की आवश्यकता पड़ती है। खुद का बचाव किए जाने की और खुद को खुराक दिए जाने की इसे लगातार ज़रूरत पड़ती है। जिन बातों के साथ खुद को जोड़ना अहं को सबसे अधिक पसंद है, जिन बातों के साथ तादात्म्य होना वह सबसे अधिक चाहता है वे हैं: स्वामित्व, वह काम जो आप करते हैं, सामाजिक हैसियत व इज़्ज़त, ज्ञान व शिक्षा, शारीरिक रूप से 'मैं कैसा लगता हूं', विशेष योग्यताएं, रिश्ते, निजी व पारिवारिक इतिहास, विश्वास की परिपाटियां, और इनके अलावा राजनैतिक, राष्ट्रीय, जातीय, धार्मिक तथा अन्य सामूहिक तादात्म्यताएं, सामूहिक जुड़ाव। लेकिन, आप इन में से कुछ भी तो नहीं हैं।

क्या यह बात आपको डरावनी लग रही है? या यह सब जान कर आपको राहत महसूस हो रही है? देर-सबेर आपको इन सब को त्यागना ही होगा। मेरी बात पर शायद आपको अभी यकीन न आ रहा हो, और मैं भी आपको इस बात पर *यकीन कर लेने* के लिए नहीं कह रहा हूं कि आपकी पहचान, आपकी तादात्म्यता इन में से किसी के भी साथ नहीं हो सकती। लेकिन, एक न एक दिन इस सत्य को आप स्वयं ही *जान जायेंगे*। कम से कम तब तो आप इस सत्य को अवश्य ही जान जायेंगे जब अपनी मौत आपको सन्निकट आती महसूस होगी, जब मौत आपकी उन तमाम चीज़ों को आपसे एकदम अलग कर कर रही होगी जो कि आप नहीं हैं। इसीलिए, "मौत से पहले मर जाइए"-और तब आप पायेंगे कि आप मौत से मुक्त हो गए हैं, यही है जीवन का रहस्य।

अध्याय तीन

‘अब’ में गहरे उतरिए

खुद को मन में तलाश मत कीजिए

पूर्ण चेतना या आध्यात्मिक आत्मज्ञान के निकट पहुंचने से पहले, मुझे लगता है कि अपने मन की कार्यप्रणाली के बारे में अभी बहुत कुछ जानने की मुझे आवश्यकता है।

नहीं, ऐसा नहीं है। मन की समस्या को मन के स्तर पर नहीं सुलझाया जा सकता। एक बार अगर आप मन की आधारभूत गड़बड़ को समझ जाते हैं, तब आपको कुछ और समझने या जानने की ज़रूरत वाक़ई नहीं रह जाती। मन की जटिलताओं का अध्ययन करना आपको एक अच्छा मनोवैज्ञानिक तो बना सकता है लेकिन ऐसा करना आपको मन के पार नहीं ले जा सकता, जैसे कि पागलपन का अध्ययन करना स्वस्थचित्तता तथा विवेकशीलता पैदा करने के लिए काफ़ी नहीं होता। अब तक आप अचैतन्य अवस्था की आधारभूत संरचना को समझ चुके हैं, यानी मन के साथ तादात्मय हो जाना, और यही तादात्म्यता *बीइंग* में अवस्थित आपके सच्चे स्वरूप के एवज़ में एक मिथ्या ‘मैं’ को, अहं को खड़ा कर देती है। और फिर आप, जीसस के शब्दों में, ‘अंगूर की बेल से कटी हुई शाखा’ बन जाते हैं।

अहं की ज़रूरतें और चाहतें कभी ख़त्म नहीं होतीं। वह खुद को हरदम खुले में और ख़तरे में महसूस किया करता है, और इसलिए हमेशा ही भय की व अभाव की अवस्था में रहता है। एक बार अगर आप उसकी असल गड़बड़ भरी कारगुज़ारियों को समझ लें तो फिर आपको न तो उसके उन अनगिनत रूपों की खोजबीन और छानबीन करने की आवश्यकता रह जायेगी जिनमें कि वह प्रकट हुआ करता है, और न ही उन रूपों को अपनी निजी समस्या बनाने की ही आवश्यकता रह जायेगी। दरअसल, यह सारा प्रपंच अहं को बहुत पसंद है। ‘मैं’ के अपने मायावी रूप को ऊंचा उठाने और ताक़त देने के लिए उसे हमेशा ही किसी ऐसे की तलाश रहती है जिसके साथ वह जुड़ा रहे, और इसीलिए आपकी समस्याओं के साथ जुड़ने के लिए वह तत्पर रहा करता है। यही कारण

है कि बहुत से लोगों के लिए उनके 'मैं' का अधिकतर हिस्सा उनकी समस्याओं के साथ बड़ी घनिष्ठतापूर्वक जुड़ा रहता है। जब ऐसा हो जाता है तब वे उन समस्याओं से छुटकारा पाना ही नहीं चाहते-क्योंकि इस का मतलब तो अहं को खो देना होगा। तभी तो हमारे दुख में, हमारे कष्ट में अचेतन रूप से अहं का बहुत बड़ा हाथ रहता है।

इसलिए, जब आप यह समझ जाते हैं कि मन के साथ तादात्म्यता ही अचैतन्यता का मूल कारण है, जिसमें कि भावनाएं भी शामिल हैं, तब आप उससे बाहर निकल आते हैं। तब आप वर्तमान में *विद्यमान* रहने लगते हैं। और, जब आप वर्तमान में रहते हैं तब मन के फंदे में फंसे बिना आप उसे जैसा वह है वैसा ही रहने देते हैं। मन स्वयं गड़बड़ करने वाला नहीं है। वह तो एक कमाल का उपकरण है। गड़बड़ तब शुरू होती है जब आप अपना 'मैं' उसमें तलाशने लगते हैं और ग़लती से यह समझने लगते हैं आपका मन ही आप हैं। तब वह मन आपका अहंकारी मन बन जाता है और आपके पूरे जीवन पर छाया रहता है।

समय के भ्रम को तोड़ डालिए

मन के साथ तादात्मयता को तोड़ कर बाहर आना तो असंभव लगता है। हम सभी तो इसमें तन्मय और तल्लीन रहते हैं। आप किसी मछली को उड़ना कैसे सिखा सकते हैं?

इसके लिए सूत्र है: समय के भ्रम को तोड़ दीजिए। समय और मन हमेशा ही गलबहियां डाले साथ-साथ चला करते हैं। मन से समय को अलग कर दीजिए तो वह अवश्य ही रुक जायेगा-जब तक कि आप ही कभी उसका उपयोग करना न चाहें।

अपने मन के साथ तादात्म्य करना, उसके साथ एकाकार व एकजान हो जाना, यह तो समय के जाल में फंस जाना है, केवल यादों और उम्मीदों में जीने को बाध्य हो जाना है। ऐसा करना अनंत रूप से अतीत और भविष्य में उलझे रहने के प्रति रुचि आपमें पैदा कर देता है, ऐसा करना आपमें वर्तमान पल का सम्मान करने व स्वीकार करने के प्रति, *उसे होने देने* के प्रति अरूचि पैदा करता है। यह बाध्यता इसलिए पैदा होती है क्योंकि अतीत आपको एक पहचान दे रहा होता है और भविष्य, किसी भी रूप में, उद्धार, मुक्ति और उपलब्धि का वादा कर रहा होता है। लेकिन, ये दोनों ही मरीचिकाएं हैं, मृगतृष्णाएं हैं।

लेकिन समय की समझ के बिना हम इस संसार में कामकाज कैसे करेंगे? कुछ भी और पाने का कोई लक्ष्य ही नहीं रह जायेगा। मुझे शायद यह भी पता न रहे कि मैं कौन हूं

क्योंकि मेरा अतीत ही तो मुझे वह बनाता है जो कि मैं आज हूं। मुझे लगता है कि समय तो एक बहुत ही मूल्यवान और महत्वपूर्ण चीज़ है, इसे बेकार गंवा देने के बजाय हमें इसे बड़ी सूझ-बूझ से इस्तेमाल करना चाहिए।

समय बिल्कुल भी मूल्यवान या महत्वपूर्ण नहीं है, बल्कि यह तो एक भ्रम है, एक भ्रांति है। जिसे आप मूल्यवान व महत्वपूर्ण समझें वह समय नहीं है बल्कि एक ऐसी चीज़ है जो समय से बाहर है-यानी वर्तमान, 'अब'। वही वास्तव में मूल्यवान है, महत्वपूर्ण है। जितना अधिक फ़ोकस आप समय पर-अतीत और भविष्य पर-रखेंगे, उतना ही अधिक आप 'अब' से, सर्वाधिक मूल्यवान और महत्वपूर्ण चीज़ से, वंचित रहेंगे।

यह वर्तमान सबसे मूल्यवान व महत्वपूर्ण क्यों है? पहला कारण: क्योंकि *केवल* यही है। जो भी है बस यही है। यह शाश्वत वर्तमान वह आकाश है, वह उपलब्ध रिक्त स्थान है जिसके अंदर आपका पूरा जीवन खुलता जाता हैं, एक वह कारक जो कि सतत रूप से विद्यमान रहता है। ऐसा कभी नहीं हुआ है कि आपका जीवन 'अब' में न रहा हो, और न ही कभी ऐसा होगा। दूसरा कारण: यह 'अब' की ऐसा एकमात्र बिंदु है जो कि आपको मन के तंग कारागार से परे ले जा सकता है। यही एकमात्र वह बिंदु है जहां आप *बीइंग* के कालपिरपेक्ष और निराकार प्रदेश में पहुंच सकते हैं।

'अब' से बाहर कुछ नहीं है

अतीत और भविष्य क्या वास्तविक नहीं हैं, कभी-कभी तो वे वर्तमान से भी अधिक वास्तविक हो जाते हैं? आख़िर, यह अतीत ही तो है जो यह निर्धारित करता है कि हम कौन हैं, और यह भी कि वर्तमान को हम कैसे देखें और कैसे उसमें बर्ताव करें। और, हमारे भावी लक्ष्य ही तो यह निर्धारित करते हैं कि हम वर्तमान में क्या करें।

आपने अभी तक उस मुख्य बात को ग्रहण ही नहीं किया है जो मैं आपको बता रहा हूं क्योंकि आप उसे मानसिक रूप से समझने की कोशिश कर रहे हैं। मन उसे समझ ही नहीं सकता है। उसे तो केवल *आप* समझ सकते हैं। कृपया ध्यान से सुनिए।

क्या आपने 'अब' से बाहर कभी कुछ अनुभव किया है, 'अब' से बाहर कभी कुछ किया है, कभी कुछ सोचा है, या कुछ भी महसूस किया है? क्या आपको लगता है कि ऐसा कभी आप कर पायेंगे? 'अब' से बाहर कुछ भी घटना, या *होना*, क्या संभव है? ज़ाहिर है कि इसका उत्तर स्पष्ट है, है न?

कुछ भी अतीत में नहीं हुआ, वह 'अब' में ही हुआ है।

कुछ भी भविष्य में नहीं होगा, वह 'अब' में ही होगा।

जिसे आप अतीत मान कर सोचते हैं वह पूर्ववर्ती 'अब' की स्मृति का अनुरेख ही तो है, जिसे मन में संग्रहित किया गया है। जब आप अतीत को याद करते हैं तब उस स्मृति के अनुरेखन को ही पुनः देख रहे होते हैं-और ऐसा आप 'अब' में ही कर रहे होते हैं। भविष्य एक काल्पनिक 'अब' है-मन के द्वारा गढ़ लिया गया। भविष्य जब आता है तब वह 'अब' के ही रूप में आता है। जब आप भविष्य के बारे में सोचते हैं, आप वह 'अब' में ही कर रहे होते हैं। भूत और भविष्य का अपना कोई अस्तित्व नहीं है, बिल्कुल ऐसे ही जैसे चंद्रमा का अपना कोई प्रकाश नहीं है, वह तो बस सूर्य के प्रकाश को परावर्तित कर सकता है, इसी तरह से भूत और भविष्य भी शाश्वत वर्तमान के प्रकाश, शक्ति और सच्चाई के धुंधले परावर्तन ही हैं। उनकी वास्तविकता 'अब' से "उधार" ली हुई होती है।

जो कुछ मैं यहां कह रहा हूं उसका सारतत्व मन द्वारा नहीं समझा जा सकता। लेकिन, ज्यों ही आप इसे समझ लेंगे त्यों ही आपकी चेतना मन से हट कर *बीइंग* में चली जायेगी, समय से हट कर वर्तमान में, विद्यमान में चली आयेगी। फिर, अचानक ही हर चीज़ जीवंत महसूस होने लगेगी, ऊर्जा प्रसारित करने लगेगी, *बीइंग* को अभिव्यक्त करने लगेगी।

आध्यात्मिक आयाम का मूल सिद्धांत

प्राणों पर संकट आने जैसी किसी स्थिति में, चेतना का समय में से हट कर वर्तमान में आ जाना कभी-कभी सहज-स्वाभाविक रूप से ही हो जाता है। अतीत और भविष्य में रमने वाला व्यक्तित्व कुछ पलों के लिए उनमें से निकल आता है और प्रबल चैतन्य उपस्थिति में आ जाता है, जो कि स्थिर भी होती है और बहुत सचेत भी। तब जो कुछ किए जाने की आवश्यकता होती है ऐसी अनुरूप क्रिया उस चैतन्यता से ही निकल कर आती है।

यही कारण है कि कुछ लोग बड़े ख़तरनाक कारनामों में शामिल होना पसंद करते हैं, जैसे पर्वतारोहण, कार दौड़, इत्यादि। हालांकि वे नहीं जानते कि वे ख़तरनाक कारनामे ही हैं जो उन्हें 'अब' में आने को मजबूर कर दिया करते हैं-ऐसी अत्यंत सचेत व सजीव अवस्था में आने को जो कि समय से मुक्त है, समस्याओं से मुक्त है, विचार से मुक्त है, और व्यक्तित्व के भार से मुक्त है। वहां, वर्तमान पल से एक क्षण के लिए भी चूक जाने का मतलब होता है मौत। दुर्भाग्य यह है कि, उस अवस्था में होने के लिए वे किसी ख़ास क्रियाकलाप पर, किसी ख़ास गतिविधि पर निर्भर हो जाते हैं। लेकिन आपको 'अब' में

प्रवेश करने के लिए ऐवरेस्ट पर चढ़ने की आवश्यकता नहीं है। आप अभी उस अवस्था में प्रवेश कर सकते हैं।

प्राचीन काल से ही, हर पंथ व परंपरा के पुरोधाओं ने 'अब' को आध्यात्मिक आयाम का मूल सिद्धांत बताया है। इसके बावजूद, यह एक रहस्य जैसा ही बना रहा है। निश्चय ही, इसे गिरजाघरों और मंदिरों आदि में नहीं सिखाया-पढ़ाया गया। अगर आप चर्च जाएं तो वहां आपको गोस्पल के पाठ में ऐसा कुछ सुनाई देगा "कल के लिए कोई विचार मत लाओ, क्योंकि कल तो अपनी बातों की देखभाल खुद कर लेगा" या "जो भी कोई हल पर हाथ रखता है लेकिन *पीछे की तरफ़* देखता है, वह ईश्वर के साम्राज्य में प्रवेश करने योग्य नहीं है।" या, वहां आप सुंदर फूलों के लिए सुनेंगे कि वे आने वाले कल के बारे में व्यग्र नहीं रहते बल्कि कालनिरपेक्ष 'अब' में सहजता से रहते हैं और ईश्वर की तरफ़ से उन्हें भरपूर दिया जाता है। दरअसल, इन शिक्षाओं की गहराई और मूल भावना को आमतौर पर समझा और पहचाना ही नहीं गया। किसी ने इस बात को जाना ही नहीं कि उनका मतलब है कि जीवन इसी तरह से जिया जाए और इससे अपने अंदर एक गहन आंतरिक रूपांतरण लाया जाए।

ज़ेन का समूचा सार यही है-'अब' की तलवार की धार पर अकेले चलना। यानी, वर्तमान में इतनी परिपूर्णता से, इतनी पराकाष्ठा से *विद्यमान* रहना, *उपस्थित* रहना कि कोई समस्या, कोई दुख, या ऐसा कुछ भी जो आपके स्वरूप में *आप नहीं है,* वह बचा रह सके। 'अब' में, यानी समय की अनुपस्थिति में, आपकी समस्त समस्याएं विलुप्त हो जाती हैं। दुख के लिए समय तो एक आवश्यकता होता है, इसलिए वह 'अब' में जी ही नहीं सकता।

महान ज़ेन गुरू रिंज़ी, अपने विद्यार्थियों के अवधान को समय से परे ले जाने के लिए, अक्सर अपनी उंगली उठा कर धीरे से पूछा करता था, "इस पल में, क्या कोई अभाव है?" एक ऐसा अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न जिसका उत्तर मन के स्तर पर देने की आवश्यकता नहीं है। यह बनाया ही इस तरह गया है कि यह आपके अवधान को 'अब' की गहराई में ले जाए। ऐसा ही एक अन्य प्रश्न ज़ेन परंपरा में पूछा जाता है: "अगर अब नहीं, तो कब?"

इस्लाम की रहस्यवादी धारा सूफ़ीमत की शिक्षाओं का केंद्रबिंदु भी 'अब' ही है। सूफ़ियों में एक कहावत कही जाती है: "सूफ़ी वर्तमान पल का पुत्र होता है।" और, सूफ़ीमत के महान उपदेश और कवि रूमी का तो उद्घोष यही रहा है: "भूत और भविष्य तो परदा डाल कर ईश्वर को हमारी नज़र से ओझल कर देते हैं, इसलिए इन दोनों को जला डालो।"

तेरहवीं शती के आध्यात्मिक शिक्षक मेस्टर एक्हार्ट ने इन सब बातों का सारांश इन शब्दों में दिया है: "समय ही है जो प्रकाश को हम तक नहीं आने देता है। ईश्वर को पाने में समय से बड़ी कोई बाधा नहीं है।"

'अब' की शक्ति में प्रवेश करना

अभी कुछ पल पहले, जब आप वर्तमान की शाश्वतता और भूत व भविष्य की असत्यता के बारे में बता रहे थे, तब मैं खिड़की से बाहर उस पेड़ को देख रहा था। इससे पहले भी मैंने इस पेड़ को कई बार देखा है लेकिन इस बार यह देखना कुछ अलग तरह का था। उसके बाहरी रूपाकार को देखने में तो कोई ख़ास बदलाव नहीं था-सिवाय इसके कि उसके रंग अधिक चमकदार और अधिक जीवंत लग रहे थे-लेकिन इस बार उसमें एक नया आयाम जुड़ गया था। लेकिन उसका वर्णन करना मुश्किल है। मैं नहीं जानता कि कैसे, लेकिन मुझे किसी ऐसी चीज़ का भान हो रहा था जो अगोचर थी, अदृश्य थी-उस पेड़ का सत्व, या उसकी अंतरात्मा, अगर आप ऐसा कहना चाहें। और, किसी हद तक मैं उसका हिस्सा था। मुझे आज इस वास्तविकता का बोध हुआ कि मैंने इस पेड़ को पहले सचमुच कभी देखा ही नहीं, जो कुछ देखा था वह थी उसकी एक सपाट, विरस और निर्जीव छवि। अब जब कि मैं उस पेड़ को देख रहा हूं तो वह बोध अभी भी है, लेकिन मैं महसूस कर रहा हूं कि वह अब जा रहा है। वह अनुभूति अतीत में उतरती जा रही है। क्या ऐसा कुछ किसी एक क्षणिक झलक के अलावा कुछ और भी हो सकता है?

एक पल के लिए आप समय से मुक्त हो गए थे। आप 'अब' में चले आए थे और इसीलिए पेड़ को मन के चश्मे के बिना देख सके। *बीइंग* की सजगता आपके देखने का हिस्सा बन गई थी। कालनिरपेक्षता के विस्तार के साथ एक अलग ही तरह का बोध आ जाता है-एक ऐसा बोध जो किसी भी जीव या वस्तु के अंदर बसने वाले प्राण की "हत्या" नहीं करता है, एक ऐसा बोध जो जीवन की पवित्रता और रहस्य को नष्ट नहीं करता है, बल्कि उसमें जो है के प्रति एक गहरा स्नेह व सम्मान रहता है, एक ऐसा बोध जिसके बारे में मन तो कुछ जानता ही नहीं है।

मन इस पेड़ को जान ही नहीं सकता। वह तो पेड़ के *बारे* में केवल कुछ तथ्यों और जानकारियों को जान सकता है। मेरा मन आप को नहीं जान सकता, वह तो आपके बारे में केवल नाम, निष्कर्ष, तथ्य, राय आदि ही जान सकता है। केवल *बीइंग* ही प्रत्यक्षतः जानता है, स्पष्टतः जानता है।

तथापि, मन का भी एक स्थान है, महत्व है, और मन यह बात जानता है। वह स्थान, वह महत्व है दिन-प्रतिदिन के जीवन में व्यावहारिक कामकाज का क्षेत्र। लेकिन, जब मन आपके जीवन के सभी क्षेत्रों की बागडोर अपने हाथ में ले लेता है-अन्य जनों के साथ और प्रकृति के साथ आपके संबंधों को भी जब वह अपने हाथों में ले लेता है-तब यह एक इतना विकट भस्मासुर जैसा परजीवी बन जाता है कि यदि उस पर अंकुश न लगाया गया तो हो सकता है कि वह इस धरती के संपूर्ण जीवन को नष्ट करके अंततः अपने ही मेज़बान को मार कर खुद को भी ख़त्म कर ले।

आप अभी-अभी यह झलक देख चुके हैं कि कालनिरपेक्षता-यानी भूत या भविष्य से उदासीन होकर वर्तमान में रहने की अवस्था-आपके देखने को कैसे रूपांतरित कर सकती है। लेकिन कोई एक अनुभव पर्याप्त नहीं होता, वह चाहे कितना भी सुंदर व गहरा क्यों न हो। जिसकी हमें दरकार है और जिससे हमारा सरोकार है, वह है चैतन्यता में स्थायी रूप से चले जाना।

इसलिए, वर्तमान को नकारने के, वर्तमान का विरोधी-प्रतिरोधी बनने के पुराने ढर्रे को तोड़ डालिए। यह अपना स्वभाव बना लीजिए कि जब-जब भूत और भविष्य में जाना आवश्यक न हो तब-तब आप खुद को उनसे बाहर निकाल लें और बाहर ही रखें। अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन में भी जितना संभव हो सके, समय में प्रवेश करने से बचें। अगर 'अब' में सीधे-सीधे प्रवेश करना आपको मुश्किल लगे तो आप अपने मन की इस स्वभावगत आदत को ध्यान से देखना, उसका अवलोकन करना आरंभ करें कि किस तरह आपका मन 'अब' से बच निकलना, उससे दूर भागना चाह रहा होता है। आप देखेंगे कि भविष्य की काल्पनिक तस्वीर वर्तमान के मुकाबले या तो बेहतर बनाई जाती है या बदतर। यदि कल्पना किया गया भविष्य बेहतर है तो वह आपको एक आशा, एक सुखद प्रत्याशा प्रदान करता है। और, अगर वह बदतर है तो वह आपमें व्यग्रता पैदा कर देता है। ये दोनों ही स्थितियां केवल भ्रम हैं, भ्रांति हैं। आत्म-अवलोकन करने से आपके जीवन में अधिक *उपस्थितता, विद्यमानता* स्वयमेव चली आती है। जिस पल आपको बोध हो कि आप उपस्थित नहीं हैं, तब आप उपस्थित ही हो जाते हैं। जब आप अपने मन का अवलोकन करने की अवस्था में होते हैं, तब आप उसके जाल में नहीं फंसते हैं। तब एक अन्य कारक प्रवेश कर लेता है, लेकिन वह मन का नहीं होता, वह होता है: प्रत्यक्षदर्शी वर्तमान।

अपने मन के अवलोकनकर्ता के रूप में, द्रष्टा के रूप में उपस्थित रहिए-अपने विचारों के, अपनी भावनाओं के और साथ ही अलग-अलग स्थितियों में अपनी प्रतिक्रियाओं के अवलोकनकर्ता के रूप में। अपनी प्रतिक्रिया को भी उतनी ही तवज्जो दीजिए जितनी कि आप उस व्यक्ति को दे रहे हैं जो कि आपकी प्रतिक्रिया का कारण बना हुआ है। इस पर भी ध्यान दीजिए कि आपका अवधान कितनी बार अतीत में या भविष्य में चला जाता है। जो आप देखें उसका निष्कर्ष मत निकालिए, उसका विश्लेषण भी मत कीजिए। अपने विचार को ध्यान से देखिए, अपनी भावना को महसूस कीजिए, अपनी प्रतिक्रिया का अवलोकन कीजिए। उसे अपनी निजी समस्या मत बना लीजिए। तब आप किसी भी ऐसी चीज़ की अपेक्षा अधिक सबल महसूस करेंगे जिसका कि आप अवलोकन कर रहे हैं-यानी, आपके मन में भरी हुई तमाम चीज़ों की अपेक्षा स्वयं आपकी शांत तथा अवलोकन करती विद्यमानता को, मौन द्रष्टा को।

जब कोई स्थिति एक प्रबल भावनात्मक आवेग के साथ आपकी प्रतिक्रिया को भड़का देती है-जैसे, जब आपकी अपनी छवि ख़तरे में पड़ रही हो, या भय को पैदा करने वाली चुनौती आपके जीवन में आ गई हो, या सब कुछ "ग़लत हो रहा हो", या अतीत की कोई भावनात्मक मनोग्रंथी जाग उठी हो-तब एक अत्यंत सचेत उपस्थिति की, विद्यमानता की आवश्यकता होती है, क्योंकि ऐसे प्रसंगों में, आपकी प्रवृत्ति "अचैतन्य" होने की हो जाया करती है। ऐसे में, आपकी प्रतिक्रिया या भावना आप पर हावी हो जाती है-बल्कि आप वही *बन जाते हैं*। प्रकट रूप में आप वही करने लगते हैं, जैसे आप खुद को सही ठहराने लगते हैं, ग़लतियां करने लगते हैं, आक्रामक हो जाते हैं, अपना बचाव करने लगते हैं-इन प्रतिक्रियाओं के अलावा आप कुछ और नहीं रह जाते। आपका यह रवैया प्रतिक्रिया वाला होता है, यानी आपका मन आदतन अपने अस्तित्व को बचाने की मुद्रा में आ जाता है।

मन के साथ खुद को तादात्म्य कर लेना इस अवस्था को और भी हवा दे देता है; और अपने मन का अवलोकन करना इस अवस्था की हवा निकाल देता है। अपने मन के साथ तादात्म्य करना काल को, यानी अतीत व भविष्य को, ही विस्तार देता है; जब कि अपने मन का अवलोकन करना कालनिरपेक्ष अवस्था के आयाम खोल देता है। वह ऊर्जा, वह शक्ति जो मन से निकाल ली जाती है, वह उपस्थिति में, विद्यमानता में बदल जाती है। एक बार जब आप यह अनुभूत कर लेते हैं कि वर्तमान में उपस्थित रहने का, वर्तमान में विद्यमान रहने का अर्थ क्या होता है, तब आपके लिए यह बहुत सरल हो जाता है कि जब भी आपको किसी व्यावहारिक प्रयोजन से समय में जाने की आवश्यकता न हो तब आप सहज रूप से समय के आयाम से बाहर निकल आएं ताकि आप 'अब' में गहरे उतर सकें। ऐसा करने से समय को-यानी अतीत या भविष्य को-व्यावहारिक कामकाज के

लिए प्रयोग करने की आपकी क्षमता में कोई कमी नहीं आती है, और न ही अपने मन का प्रयोग करने की आपकी क्षमता में कमी आती है। वास्तविकता तो यह है कि इससे इन क्षमाओं में वृद्धि ही होती है। तब, जब आप अपने मन को प्रयोग कर रहे होंगे तब आप पायेंगे कि वह अधिक कुशाग्र और अधिक एकाग्र हो गया है।

मानसिक समय को अलविदा कीजिए

जीवन के व्यावहारिक पहलू के लिए समय का इस्तेमाल करना सीखिए-इसे आप "घड़ी वाला" समय कह सकते हैं-लेकिन जब वह व्यावहारिक प्रयोजन पूरा हो जाए तो तुरंत अपने वर्तमान-पल की सजगता में लौट आइए। इस तरह, किसी "मानसिक समय" का सृजन नहीं होगा, यानी अतीत से जुड़े रहने और भविष्य की कल्पना करते रहने का लगातार और आदतन चक्र चलना शुरू नहीं होगा।

घड़ी वाले समय का अर्थ केवल किसी से मिलने का या किसी यात्रा आदि का समय तय करना नहीं है, बल्कि इसमें शामिल रहता है अतीत से सबक सीखना ताकि हम विगत की ग़लतियों को बार-बार दोहराते न रहें। कोई लक्ष्य निर्धारित करना और उसके लिए काम करना भी इसमें शामिल रहता है। और, भौतिकी व गणित आदि के दृष्टांतों तथा सिद्धांतों की विधियों से भविष्य का अनुमान लगाना और उन अनुमानों के आधार पर समुचित कार्य करना भी इसमें शामिल है।

लेकिन यहां भी, यानी व्यावहारिक रहन-सहन के क्षेत्र में, जहां कि हम अतीत या भविष्य के संदर्भ के बिना कार्य नहीं कर पाते हैं, वर्तमान पल ही प्रमुख कारक रहा करता है। अतीत में सीखा गया कोई भी सबक प्रासंगिक हो जाता है और उसे 'अब' में लागू किया जाता है। कोई भी योजना और कोई भी लक्ष्य प्राप्त करने के लिए कार्यक्रम बनाना भी 'अब' में ही तो होता है।

एन्लाइटेन्ड व्यक्तियों के अवधान का मुख्य फ़ोकस हमेशा 'अब' पर रहा करता है, लेकिन फिर भी एक हद तक वे समय से अवगत रहते हैं। दूसरे शब्दों में, वे घड़ी वाले समय का इस्तेमाल तो करते हैं लेकिन मानसिक समय से, यानी मन के समय से वे सदा मुक्त रहते हैं, वे उसके चंगुल में नहीं फंसते हैं।

इस अभ्यास को करते हुए आपको चैकस रहना होगा कि आप अनजाने में ही घड़ी वाले समय को मन के समय में न बदल डालें। उदाहरण के लिए, आपने अतीत में कोई ग़लती की है और उससे सबक आप अब ले रहे हैं, तो आप घड़ी वाले समय का इस्मेमाल कर रहे हैं। लेकिन, अगर इस बात को लेकर बैठ ही जाते हैं और अपनी आलोचना करते रहते हैं, उस पर पश्चाताप, खेद, खिन्नता करते रहते हैं, अपराध बोध में रहने लगते हैं, तब

आप "मैं" और "मेरा" की ग़लती करने लगते हैं: आप इसे अपने स्व का भाव बना लेते हैं, और तब यह मानसिक समय बन जाता है जो कि हमेशा ही आपकी पहचान के एक मिथ्या भाव से जुड़ जाता है। क्षमा न करना-निश्चय ही इसका अर्थ होता है मानसिक समय के भारी बोझ को अपने सिर पर लादे रखना।

अगर आप अपने लिए कोई लक्ष्य निर्धारित करते हैं और उसके लिए काम करते हैं तो आप घड़ी वाले समय को इस्तेमाल कर रहे होते हैं। आप जानते हैं कि आपको कहां जाना है, कहां पहुंचना है, फिर भी आप वर्तमान में उठाए जा रहे अपने हर कदम को पूरा सम्मान, पूरा ध्यान देते हैं। लेकिन, अगर आप अपने लक्ष्य पर, अपनी मंज़िल पर ही आवश्यकता से अधिक अपना ध्यान केंद्रित कर देते हैं-शायद इसलिए कि आप उसमें सुख, उपलब्धि या अहं की तुष्टि चाह रहे होते हैं, तब आप 'अब' को सम्मान व ध्यान देना बंद कर देते हैं। ऐसे में वह तो बस भविष्य तक पहुंचने के लिए केवल कदम रखते जाने का एक जरिया बन कर रह जाता है, जिसका कोई तात्विक महत्व नहीं होता। घड़ी वाला समय तब मन के समय में तब्दील हो जाता है। आपकी जीवन यात्रा तब एक साहसिक यात्रा न हो कर केवल एक विचारग्रस्त आवश्यकता बन कर रह जाती है-कहीं पहुंचने की, कुछ पाने की, और पूरा करने की। फिर आप न तो यात्रापथ के इधर-उधर खिले हुए फूलों को देखते या सूंघते हैं, और न ही जीवन के उस सौंदर्य का, उस अद्भुतता का आपको भान रहता है जो कि आपको अपने चारों तरफ़ तब खिला हुआ दीखा करता है जब आप 'अब' में उपस्थित रहा करते हैं।

'अब' के परम महत्व को मैं देख पा रहा हूं, लेकिन मैं आपकी इस बात से पूरी तरह सहमत नहीं हो सकता कि समय पूरी तरह एक भ्रम है, भ्रांति है।

जब मैं कहता हूं "समय एक भ्रम है, एक भ्रांति है", तब मैं आपको कोई दार्शनिक वक्तव्य नहीं दे रहा होता हूं। मैं तो आपको एक सामान्य तथ्य की याद दिला रहा होता हूं-एक इतना प्रत्यक्ष, इतना सीधा व साफ़, इतना खुला तथ्य कि आप उसे देखने-समझने का कष्ट भी न उठा रहे हों, या उसे एक बेकार की चीज़ मान रहे हों-लेकिन यह बात अगर एक बार समझ में आ जाए तो मनरचित जटिलताओं और "समस्याओं" की तमाम परतों को यह तलवार के एक झटके की तरह काट सकती है। इस बात को मैं दूसरे शब्दों में मैं यूं कहता हूं: केवल वर्तमान पल ही है जो आपके हाथ में है। ऐसा कोई समय कभी नहीं आया जब आपका जीवन "यह पल" नहीं था। क्या यह बात सत्य नहीं है?

मानसिक समय का पागलपन

अगर आप मानसिक समय के बहुरूपिएपन पर एक नज़र डाल लें तो फिर आप निस्संदेह कह उठेंगे कि यह तो एक मनोरोग ही है। उदाहरण के लिए, कोरी सिद्धांतवादिता जैसे साम्यवाद, राष्ट्रीय समाजवाद या कोई और राष्ट्रवाद, और कट्टर धार्मिक विचारधारा जो कि इस निहित धारणा पर चला करती है कि सर्वोत्तम अवस्था कहीं भविष्य में स्थित है, और इसलिए वह मंज़िल ही रास्ते को सही सिद्ध करती है। वह मंज़िल तो एक ऐसा विचार है, एक ऐसी धारणा है, मनगढ़ंत भविष्य का एक ऐसा मुकाम है जो हमें मुक्ति, मोक्ष, या उद्धार प्राप्त होने पर मिलेगा, जैसे सुख, परिपूर्णता, समानता, स्वतंत्रता इत्यादि। वास्तव में होता यह है कि वहां तक पहुंचने के साधन वर्तमान में तो लोगों को गुलाम बनाने, कष्ट पहुंचाने, अत्याचार करने और हत्या तक कर देने वाले बन जाते हैं।

उदाहरण के लिए, अनुमान है कि साम्यवाद को स्थापित करने व आगे बढ़ाने के लिए लगभग 5 करोड़ लोगों को मार डाला गया था, और यह सब रूस, चीन तथा अन्य देशों में एक "बेहतर दुनिया" बनाने के नाम पर किया गया था। यह एक ऐसा हिला देने वाला उदाहरण है जो बताता है कि एक भावी स्वर्ग बनाने के लिए वर्तमान को किस तरह एक नर्क बना दिया जाता है। क्या अब भी इसमें कोई संदेह है कि मनोवैज्ञानिक समय एक गंभीर व ख़तरनाक मानसिक रोग है?

यह मानसिक आदर्श *आपके* जीवन को किस तरह संचालित किया करता है? क्या आप हमेशा ही जहां हैं वहां से अलग कहीं अन्यत्र होने की कोशिश किया करते हैं। जो कुछ भी आप *किया करते हैं* क्या वह अधिकतर किसी मुकाम को पाने के साधन के रूप में किया करते है? क्या आपकी कार्यसिद्धि बहुत दूर नहीं बल्कि आसपास ही रहा करती है, या वह अल्प-अवधि के सुख तक सीमित रहती है, जैसे सैक्स, खाना, पीना, ड्रग्स या रोमांच और उत्तेजना? क्या आपका फ़ोकस हमेशा ही कुछ बनने, कुछ हासिल करने, कुछ जीतने, कुछ प्राप्त करने या फिर कोई नया रोमांच या सुख का पीछा करने पर ही रहा करता है? क्या आप ऐसा मानते हैं कि आप जितनी अधिक चीज़ें अर्जित करते जायेंगे, जितनी अधिक चीज़ों के मालिक बनते जायेंगे, आप उतने ही अधिक परिपूर्ण, बेहतर और मनोवैज्ञानिक रूप से पूर्ण होते जायेंगे? क्या आप किसी ऐसे पुरुष या स्त्री की प्रतीक्षा में है जो आपकी ज़िंदगी को मायने दे सके?

चेतना की मन के साथ तादात्म्य रहने वाली या आत्मज्ञान से वंचित रहने वाली अवस्था में, 'अब' में वास करने रहने वाली शक्ति और असीम सृजन क्षमता, आमतौर पर, मानसिक समय द्वारा पूरी तरह अंधेरे में धकेल दी जाती हैं। तब, आपका जीवन अपना स्पंदन, अपनी ताज़गी, अपना अचरज का भाव खो देता है, और विचार, भावना, बर्ताव, प्रतिक्रिया और इच्छा का पुराना ढर्रा अपनी उद्देश्यहीन पुनरावृत्ति का तमाशा करता रहता

है। आपके मन की लिखी हुई यह एक ऐसी स्क्रिप्ट होती है जो आपको एक ख़ास तरह की पहचान तो देती है लेकिन 'अब' की वास्तविकता को, उसके सत्य को या तो छिपा देती है या तोड़मरोड़ देती है। और तब, ऐसे असंतोषजनक वर्तमान से पलायन करने के लिए आपका मन भविष्य का दामन थाम लेता है।

नकारात्मकता व दुख की जड़ें तो समय में समाई हुई हैं

लेकिन यह विश्वास कि भविष्य वर्तमान से बेहतर ही होगा, यह हमेशा तो एक भ्रम नहीं होता। वर्तमान भयंकर हो सकता है और भविष्य में हालात बेहतर हो सकते हैं, और अक्सर हो भी जाते हैं।

भविष्य, आमतौर पर, अतीत की ही प्रतिकृति हुआ करता है। कुछ सतही बदलाव भले ही हो जाते हों, लेकिन वास्तविक रूपांतरण शायद ही कभी होता हो, और वह भी इस बात पर निर्भर करेगा कि 'अब' की शक्ति हासिल कर लेने के द्वारा क्या आप वर्तमान में इतना विद्यमान रह सकते हों कि अतीत का अंत ही कर दें? भविष्य के रूप में जिसे आप देख रहे हैं वह वर्तमान की चेतना का ही तो एक अंतरंग भाग है। अगर आपका मन अतीत का बोझ उठाए हुए चल रहा है तो आपको वह बोझ बढ़ता हुआ ही लगेगा। वर्तमान के अभाव में ही अतीत खुद की निरंतरता बनाए रखता है। वर्तमान में चैतन्यता की जैसी अवस्था होगी, वैसा ही आपके भविष्य का स्वरूप होगा-जो कि, वास्तव में 'अब' के रूप में ही अनुभूत किया जा सकता है।

भले ही आप एक करोड़ों रुपए जीत जाएं, लेकिन इस प्रकार का बदलाव सतही ही होगा। तब आप अपने कामधाम उसी संस्कारग्रस्त ढर्रे के साथ केवल थोड़े अधिक विलासितापूर्ण वातावरण में कर रहे होंगे। आदमी ने परमाणु को तोड़ना सीख लिया है। एक लाठी से दस या बीस लोगों को मारने के बजाय अब एक आदमी केवल एक बटन दबा कर एक लाख लोगों को मार सकता है। क्या यही वह *वास्तविक* बदलाव है?

यदि इस पल आपकी चेतना का यही वह गुणधर्म है जो कि भविष्य को निर्धारित करता है, तो फिर वह क्या है जो कि आपकी चेतना के गुणधर्म को निर्धारित करता है? वह है आपकी उपस्थिति की, आपकी विद्यमानता की मात्रा। इसलिए, एकमात्र वह स्थान जहां असल परिवर्तन हो सकता है और जहां अतीत का अंत हो सकता है, वह है 'अब'।

जितनी भी नकारत्मकता है वह मानसिक समय का संग्रह करने और वर्तमान का परित्याग करने के कारण होती है। बेचैनी, व्यग्रता, तनाव, दबाव, चिंता-ये सब भय के ही रूप हैं, और ज़रूरत से ज़्यादा भविष्य को पालने और पर्याप्त रूप से वर्तमान में न रहने के कारण ही ये भय पैदा होते हैं। अपराध-भाव, पश्चाताप, कुढ़न, मनोमालिन्य, व्यथा, शिकायत, उदासी, कटुता और क्षमा न करने का कोई भी रूप-ये सभी ज़रूरत से ज़्यादा अतीत को पालने और पर्याप्त रूप से वर्तमान में न रहने के कारण ही पैदा होते हैं।

अधिकतर लोगों के लिए यह विश्वास करना मुश्किल लगता है कि चैतन्यता की अवस्था में नकारात्मकता से पूरी तरह मुक्त हो जाना संभव हो जाता है। और, यह अवस्था वह मुक्त अवस्था भी है जिसकी ओर सभी आध्यात्मिक शिक्षाएं इशारा करती हैं। यह मुक्ति का आश्वासन है, किसी भ्रांत भविष्य में नहीं बल्कि यहीं और अभी।

शायद आपको इस बात को पहचानना मुश्किल हो कि समय ही आपके दुखों का, आपकी समस्याओं का कारण है, क्योंकि आपको तो यही लगा करता है कि आपके दुख, आपकी समस्याएं तो आपके जीवन की किन्हीं ख़ास परिस्थितियों के कारण होती हैं, और उन्हें परंपरागत दृष्टिकोण से ही देखा भी जाता है, यह सच है। लेकिन, जब तक आप इसकी असली जड़ को, यानी समस्या-निर्माता अपने मन की गड़बड़ को-अतीत और भविष्य के प्रति इसकी आसक्ति को और 'अब' के प्रति इसकी विरक्ति को-नहीं देखेंगे, नहीं समझेंगे, तब वे ही समस्याएं बारी-बारी से आती रहेंगी, बार-बार आती रहेंगी। आपकी सभी समस्याओं को या आपके दुख के दीखते कारणों को या आपकी अप्रसन्नताओं को अगर किसी जादू से दूर कर दिया जाए, लेकिन फिर भी अगर आप वर्तमान में पर्याप्त रूप से उपस्थित रहना शुरू न करें, तो वह दिन दूर नहीं होगा जब आप खुद को समस्याओं के वैसे ही गिरोह के बीच, दुखों के वैसे ही कारणों के बीच दोबारा घिरे पायेंगे-जो कि आपकी छाया की तरह आपके साथ-साथ चला करते हैं। अंततः, समस्या केवल एक है: खुद को समय के साथ बांध लेने वाला आपका यह मन।

मैं नहीं मानता कि कभी मैं एक ऐसे मुकाम पर पहुचं सकता हूं जहां कि मैं समस्याओं से पूरी तरह मुक्त हो जाऊं।

आप ठीक कह रहे हैं। आप कभी भी उस मुकाम पर *पहुंच* नहीं सकते क्योंकि आप उसी मुकाम पर ही तो हैं।

समय में, यानी अतीत में या भविष्य में, कोई मुक्ति नहीं होती, कोई उद्धार नहीं होता। आप भविष्य में स्वतंत्र नहीं हो सकते। वर्तमान ही स्वतंत्रता की कुंजी है, इसलिए आप केवल 'अब' में, स्वतंत्र हो सकते हैं।

अपनी जीवन-परिस्थितियों के तले जीवन की तलाश

मेरी समझ में यह नहीं आ रहा है कि मैं 'अब' में कैसे स्वतंत्र हो सकता हूं। जैसा कि होता है, इस समय मैं अपने जीवन में बहुत ही दुखी हूं। यह एक तथ्य है, और अगर मैं खुद को यह समझाने लगूंगा कि सब कुछ ठीक, जब कि कुछ भी ठीक नहीं है, तब मैं खुद को बहका ही तो रहा होऊंगा। मेरे लिए तो वर्तमान पल बड़ा ही दुखद है, वह मुझे बिल्कुल भी मुक्ति नहीं दे रहा है, मेरा उद्धार नहीं कर रहा है। जो चीज़ मुझे चला रही है वह है भविष्य में किसी सुधार की संभावना।

आपको लग रहा है कि आपका ध्यान-अवधान वर्तमान पल में है, जब कि इसे समय द्वारा, अतीत व भविष्य द्वारा, पूरी तरह हड़प लिया गया है। ऐसा हो ही नहीं सकता कि आप 'अब' में पूरी तरह विद्यमान हों *और* दुखी भी हों।

आप जिसे अपना "जीवन" कह रहे हैं, उसे "जीवन की परिस्थिति" कहना अधिक उचित होगा। यह मानसिक समय है: भूत और भविष्य। भूतकाल या अतीत में, कुछ बातें जिस तरह हुई हैं, आप नहीं चाहते थे कि वे उस तरह हों। अतीत में जो कुछ भी हुआ आप अभी भी उसका विरोध-प्रतिरोध कर रहे हैं, और अब आप उसका विरोध-प्रतिरोध कर रहे हैं जो है। आशा वह है जो आपको चलाती रहती है, लेकिन आशा आपके फ़ोकस को भविष्य पर केंद्रित रखती है, और वह निरंतर फ़ोकस 'अब' के प्रति आपकी अस्वीकृति को स्थाई बनाए रखता है, और इस तरह आपके दुख को भी।

यह सच है कि मेरे वर्तमान जीवन की परिस्थिति उन बातों का परिणाम है जो कि अतीत में घटित हुई थीं, लेकिन फिर भी वह मेरी वर्तमान जीवन परिस्थिति तो है ही, लेकिन इसमें फंसा होना मुझे दुखी कर देता है।

कुछ देर के लिए अपने जीवन की परिस्थिति को भूल जाइए और अपने जीवन पर अपना ध्यान केंद्रित कीजिए।

इसमें अंतर क्या है?

आपकी जीवन-परिस्थिति का वजूद समय में रहा करता है, अतीत व भविष्य में रहा करता है।

आपका जीवन तो 'अब' है।
आपकी जीवन-परिस्थिति आपके मन का मामला है।
आपका जीवन वास्तविकता है।

खोजिए उस "संकरे द्वार को जो जीवन की ओर ले जाता है"। उसे 'अब' कहते हैं। अपने जीवन को समेट कर इस पल में ले आइए। आपकी जीवन-परिस्थिति समस्याओं से भरी हो सकती है-अधिकांश जीवन-परिस्थितियां ऐसी ही होती हैं-लेकिन यह तो देखिए कि क्या इस पल में कोई समस्या है। आने वाले कल में नहीं, और न ही दस मिनट बाद में, बल्कि 'अब' में। क्या आपको अब कोई समस्या है?

जब आप समस्याओं से भरे होते हैं तब कुछ भी नया प्रवेश नहीं हो पाता है, समाधान तक की जगह नहीं बचती है। इसलिए, जब भी आप कर सकें, थोड़ी जगह बनाएं, थोड़ा खाली स्थान बनाएं, ताकि जीवन-परिस्थितियों के तले आप जीवन को पा सकें।

अपनी ज्ञानेंद्रियों का पूरा-पूरा इस्तेमाल कीजिए। जहां हैं वहीं रहिए। चारो तरफ़ देखिए। केवल देखिए, विश्लेषण मत कीजिए-प्रकाश को, आकृतियों को, रंगों को, बनावट को। हर चीज़ की मौन उपस्थिति से अवगत रहिए। उस खाली स्थान से अवगत रहिए जो चीज़ों को होने देता है। आवाज़ों को ध्यान से सुनिए, उन पर विचार-विवेचन मत कीजिए। आवाज़ों के नीचे रहने वाली खामोशी को सुनिए। किसी चीज़ को छूईए-किसी भी चीज़ को-उसे और उसके होने को महसूस कीजिए। अपनी आती-जाती सांसों की ताल पर ध्यान दीजिए, हवा का अंदर आना और बाहर जाना महसूस कीजिए, इस जीवन शक्ति को अपने शरीर के भीतर महसूस कीजिए। हर चीज़ को होने दीजिए, भीतर भी और बाहर भी। सभी चीज़ों के "है-पन" को वैसा ही रहने दीजिए। 'अब' में गहरे उतरिए।

तब, आप समय की मानसिक काल्पनिकताओं के अचैतन्य करने वाले संसार को पीछे छोड़ते चले जायेंगे। तब आप उस विक्षिप्त मन से बाहर निकल कर आ रहे होंगे जो कि आपकी जीवन ऊर्जा को सोख लिया करता है-बिल्कुल वैसे ही जैसे वह इस धरती को धीरे-धीरे विषाक्त और विनष्ट कर रहा है। तब आप समय के स्वप्नलोक से जाग कर वर्तमान में आंखें खोल रहे होंगे।

जितनी भी समस्याएं हैं वे सब मन की ही भ्रांतियां हैं

ऐसा लग रहा है जैसे एक भारी बोझ हट गया है। हल्कापन महसूस हो रहा है। मैं स्पष्टता महसूस कर रहा हूं... लेकिन मेरी समस्याएं तो अभी भी मेरी बाट जोह रही हैं, क्या ऐसा नहीं है? उनका समाधान थोड़े न हुआ है। क्या मैं अस्थाई तौर पर उन्हें केवल टाल नहीं रहा हूं?

अगर कभी आपको स्वर्ग में भी बैठा दिया जाए तो वहां भी आप थोड़ी देर बाद यही कहेंगे "हां, लेकिन...", क्योंकि स्वर्ग में होना भी आपकी समस्याओं का समाधान नहीं कर पायेगा। समझने वाली बात यह है कि समस्या तो दरअसल कोई होती ही नहीं है, केवल स्थितियां होती हैं-जिन्हें या तो 'अब' के साथ सुलझाया जाना होता है, या उन्हें वर्तमान पल के "है" के हिस्से के रूप में उसे स्वीकार करना होता है, या उसे तब तक के लिए अकेला छोड़ देना होता है जब तक कि वह स्वयं न बदल जाए, या जब तक कि उससे निपटा जा सके। समस्याएं मनरचित होती हैं और उन्हें ज़िंदा रहने के लिए समय की, अतीत व भविष्य की आवश्यकता पड़ती है। समस्याएं 'अब' की वास्तविकता में नहीं टिक पाती हैं।

'अब' पर अपने अवधान को फ़ोकस कीजिए और मुझे बताइए कि इस पल आपकी समस्या क्या है।

मुझे कोई उत्तर नहीं मिल रहा है क्योंकि जब आपके अवधान का फ़ोकस पूरी तरह 'अब' में हो तब किसी समस्या को होना संभव ही नहीं है। हां, उसमें कोई स्थिति अवश्य हो सकती है जिसे या तो सुलझाया जाना होता है या स्वीकार किया जाना होता है। उसे समस्या क्यों बनाया जाए? किसी भी बात को समस्या क्यों बनाया जाए? जीवन जैसा भी है क्या वह अपने आप में एक चुनौती नहीं है? आपको समस्याएं काहे के लिए चाहिएं? आपका मन तभी समस्याओं को गले लगाया करता है जब वह चैतन्य नहीं होता बल्कि बेखुदी और बेसुधी में होता है क्योंकि तब समस्याएं आपको एक प्रकार की पहचान देती हैं। यह एक आम बात है, लेकिन यह पागलपन है। "समस्या" का मतलब है कि आप किसी स्थिति पर मानसिक रूप से डेरा डाल कर बैठ गए हैं जिसमें कि अभी कोई कदम उठाने का न कोई आपका सच्चा इरादा है, और शायद न ही कोई संभावना है, और यह भी कि अनजाने में ही आप उस समस्या को अपने अहं का एक हिस्सा बना रहे हैं। अपनी जीवन-स्थिति से आप इतने आक्रांत हो गए होते हैं कि तब आप जीवन की, *बीइंग* की अपनी चेतना ही खो बैठते हैं। या, आप अपने मन में ऐसी सैंकड़ों बातों का पागलपन वाला बोझ लेकर घूम रहे होते हैं जिन्हें कि भविष्य में आपको करना होगा या करना पड़ेगा, बजाय इसके कि आप अपने अवधान का फ़ोकस उस एक बात पर रखें जिसे आप *अभी कर सकते हैं*।

जब भी आप कोई समस्या पैदा करते हैं, तब आप दुख ही पैदा कर रहे होते हैं। आपके सामने एक सीधा-सरल चुनाव है: कुछ भी हो जाए, मैं अपने लिए कोई और दुख पैदा नहीं करूंगा, कोई और समस्या पैदा नहीं करूंगा। हालांकि यह एक सामान्य सा चुनाव है किंतु यह एक बड़ा परिवर्तनकारी चुनाव है। लेकिन, आप यह चुनाव तब तक

नहीं कर सकते जब तक कि आप दुख से वाक़ई ऊब न गए हों, उकता न गए हों, जब तक कि आपको दुख थोक में न मिल गया हो। और, आप इस चुनाव को तब तक पूरा नहीं कर सकते जब तक कि आप 'अब' की, वर्तमान की शक्ति को हासिल नहीं कर लेते। इस तरह, जब आप अपने लिए कोई दुख पैदा नहीं करते हैं, तब आप औरों के लिए भी कोई दुख पैदा नहीं करते हैं। और तब, न तो आप इस सुंदर धरती को, न अपने भीतरी आकाश को और न ही सामूहिक मानवीय मानस को समस्या गढ़ने की नकारात्मकता से और अधिक दूषित करते हैं।

अगर कभी आप जीवन-मरण जैसी आपात स्थिति में पड़े हों तो आपने देखा होगा कि वह स्थिति कोई समस्या नहीं थी। मन के पास इतना *समय* ही नहीं था कि वह उसे गंवाए और उस स्थिति को समस्या बनाए। जब वाक़ई कोई आपात स्थिति आती है तब मन थम जाता है, तब आप पूरी तरह 'अब' में उपस्थित रहते हैं और कोई अनंत शक्तिशाली चीज़ कार्यभार संभाल लेती है। यही कारण है कि ऐसी अनेक रिपोर्ट उपलब्ध हैं कि साधारण लोग भी अचानक ही अविश्वसनीय साहस का काम कर जाते हैं। किसी आपात अवस्था में या तो आप बच जाते हैं या नहीं बच पाते हैं, और दोनों ही तरह, कोई समस्या नहीं है।

कुछ लोग तब नाराज़ हो जाते हैं जब मैं कहता हूं कि समस्याएं तो भ्रांतियां होती हैं। जो वे हैं उनके उस एहसास के लिए तब जैसे मैं एक ख़तरा बन जाता हूं। अपनी एक मिथ्या 'मैं' को बनाने के लिए उन्होंने काफ़ी समय लगाया होता है। बरसों तक, बेखुदी में वे अपनी पूरी पहचान को अपनी समस्याओं या अपने दुखों के रूप में ही परिभाषित करते आए हैं। अपनी इन समस्याओं के बिना भला वे क्या रह जायेंगे?

लोग जो कुछ कहते हैं, सोचते हैं, या करते है, दरअसल उसका एक बड़ा हिस्सा डर द्वारा प्रेरित हुआ करता है, और डर तो हमेशा ही भविष्य पर अपना फ़ोकस रखने और 'अब' से बच निकलने से जुड़ा रहता है। 'अब' में चूंकि कोई समस्या नहीं रहती है, इसलिए उसमें कोई डर, कोई भय भी नहीं रहता है।

अगर कोई ऐसी स्थिति पैदा होती है जिसे अब के साथ निपटाए जाने की आवश्यकता हो, तो आपकी क्रिया, आपकी चेष्टा बिल्कुल स्पष्ट और विवेकसंपन्न होगी-बशर्ते कि वह वर्तमान पल की सजगता में से पैदा हुई हो। साथ ही, वह प्रभावी भी होगी। वह आपके मन की पूर्व संस्कारग्रस्तता से उपजी हुई कोई प्रतिक्रिया नहीं होगी, बल्कि वह स्थिति के प्रति सहजबोध वाली अनुक्रिया होगी। अन्य अवसरों पर समय से बंधा मन अगर प्रतिक्रिया कर ही देता है, तो आप देखेंगे कि कुछ न करना-यानी, केवल 'अब' में ठहरे रहना-अधिक कारगर साबित होता है।

चेतना के विकास में बड़ी छलांग

मन और समय की जिस अवस्था से मुक्त होने का आपने ज़िक्र किया है, मैं उसकी कुछ झलक पा चुका हूं, लेकिन भूत और भविष्य इतने प्रबल होते हैं कि मैं बहुत देर तक उन दोनों को बाहर नहीं रख पाता हूं।

चेतना की समय से बंधे रहने वाली रीति-नीति मानव मानस में बहुत गहराई तक समाई हुई है। लेकिन जो काम हम यहां कर रहे हैं वह है उस गहन रूपांतरण का हिस्सा बनना जो कि इस ग्रह की सामूहिक चेतना में और उसके पार भी हो रहा है, यानी भौतिकता, रूप-आकार, और अलगाव की स्वप्नावस्था में पड़ी चेतना को जगाना यानी समय का अंत करना। हम मन के उस ढर्रे को तोड़ रहे हैं जो मानव जीवन पर युगों से हावी रहता आया है। मन का वह ढर्रा जो कि व्यापक स्तर पर अकल्पनीय दुख पैदा करता आया है। मैं बुराई शब्द का प्रयोग नहीं कर रहा हूं, बल्कि इसे अचैतन्यता या विक्षिप्तता कहना अधिक मदद करेगा।

चेतना, बल्कि अचैतन्यता, के पुराने ढर्रे को तोड़ना-क्या कोई ऐसी चीज़ है जिसे हमें करना पड़ेगा या यह हो जायेगा? मेरा मतलब है कि क्या यह परिवर्तन अपरिहार्य है, अनिवार्य है?

यह तो इस बात पर निर्भर करता है कि आप उसे कैसे देखते हैं, उसे कैसे ग्रहण करते हैं। करना और होना दरअसल एक ही प्रक्रिया है; चूंकि आप चेतना की अखंडता के साथ जुड़े रहते हैं, इसलिए आप इन दोनों को अलग नहीं कर सकते। लेकिन इसकी कोई पूरी गारंटी भी नहीं है कि लोग ऐसा कर ही लेंगे। यह प्रक्रिया अपरिहार्य या स्वतः होने वाली नहीं है। आपका सहयोग इसका अनिवार्य भाग है। तथापि आप इसे देखें, चैतन्यता के विकास में यह एक बड़ी छलांग है, और मनुष्य जाति के रूप में जीवित बचे रहने का एकमात्र अवसर भी है यह।

बीइंग का आनंद

खुद को इस बात के लिए सचेत व सावधान करने के लिए कि आपने मनोवैज्ञानिक समय को अपने आप पर हावी होने दिया है, आप एक सीधे-सरल सिद्धांत का प्रयोग कर सकते हैं। आप खुद से यह पूछें: जो कुछ भी मैं कर रहा हूं, क्या उसमें संतोषप्रद आनंद, सहजता और हल्कापन है? यदि ऐसा नहीं है तो समझ लीजिए कि समय, यानी भूत और

भविष्य, वर्तमान को अंधेरे में धकेल रहा है और जीवन एक बोझ या संघर्ष जैसा दीख रहा है।

जो कुछ भी आप कर रहे हैं, उसमें अगर संतोषप्रद आनंद, सहजता और हलकापन नहीं है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि *जो* आप कर रहे हैं उसे बदलने की आवश्यकता है, बल्कि उसे आप जिस तरह कर रहे हैं, उसको बदलना ही काफ़ी होगा। *क्या* की तुलना में *कैसे* अधिक महत्व रखता है। देखिए कि क्या आपका ध्यान कर्म पर अधिक है या *कर्मफल* पर अधिक है। वर्तमान पल जो आपको प्रस्तुत कर रहा है, उस पर अपना पूरा-पूरा अवधान दीजिए। इसका अर्थ यह है कि आप *जो* है को भी पूरी तरह स्वीकार कर रहे हैं, क्योंकि ऐसा नहीं हो सकता कि आप किसी चीज़ पर अपना पूरा अवधान भी दे रहे हों और साथ ही उसका प्रतिरोध भी कर रहे हों।

जितनी जल्दी आप वर्तमान पल को सम्मान देने लगते हैं, उसे तवज्जो देने लगते हैं, आपके सारे दुख, सारी कशमश, सारी छटपटाहट उतनी ही जल्दी विलुप्त होने लगती है, और जीवन का प्रवाह संतोषप्रद आनंद और सहजता के साथ होने लगता है। जब आप वर्तमान पल की सजगता के साथ कर्म करते हैं, तब आप कुछ भी करें वह हमेशा गुणवत्ता, परवाह, और प्रेम में पगा होता है-भले ही वह बिल्कुल मामूली सा काम हो।

इसलिए अपने कर्मफल के लिए उद्विग्न बिल्कुल न हों, केवल अपने कर्म पर अपना अवधान रखें। कर्मफल आपको स्वयं प्राप्त होगा। यह एक बड़ा सशक्त आध्यात्मिक आचरण है। विश्व में विद्यमान आध्यात्मिक शिक्षाओं में सबसे प्राचीन और सबसे सुंदर है *भगवद्गीता* और वह कर्मफल के प्रति आसक्त न रहने की शिक्षा देती है जिसे कर्मयोग कहा गया है। इसे "निष्काम कर्म" की संज्ञा दी गई है।

'अब' से दूर-दूर रहते हुए जद्दोजहद करने की लत जब आपमें नहीं रहती, तब आपके हर कर्म में *बीइंग* का संतोषप्रद आनंद प्रवेश करने लगता है। जिस पल आपका अवधान 'अब' के प्रति रहने लगता है तब आप एक विद्यमानता, एक निश्चलता, एक शांतता का अनुभव करने लगते हैं। तब आप परिपूर्णता और संतुष्टि के लिए भविष्य के सहारे जीना बंद कर देते हैं-दुख से मुक्त होने के लिए तब आप उसका मुंह ताकना बंद कर देते हैं। इसलिए, तब आप कर्मफल के प्रति आसक्त नहीं रहते हैं। *बीइंग* की आपकी भीतरी अवस्था को तब न कोई सफलता प्रभावित कर पाती है और न ही कोई विफलता। अपनी जीवन- परिस्थितियों के तले तब आपने जीवन तलाश लिया होता है।

मानसिक समय न रहने पर, आपके स्व का भाव आपको बीइंग से प्राप्त हो रहा होता है, न कि आपके व्यक्तिगत अतीत से। इसलिए, जो आप हैं उससे इतर कुछ और बनने की मनोवैज्ञानिक भूख तब आपमें रह ही नहीं जाती है। और तब, अपने सांसारिक

जीवन में, अपनी जीवन-परिस्थितियों के स्तर पर चाहे आप वाक़ई एक धनी, ज्ञानी और सफल व्यक्ति बन जाएं, इस या उस से मुक्त हो जाएं, बीइंग की गहराई में तो आप पूर्ण ही रहते हैं, संपूर्ण *अब* रहते हैं।

संपूर्णता की उस अवस्था में भी क्या हम बाहरी लक्ष्यों को पाने के योग्य रहेंगे, इच्छुक रहेंगे?

बिल्कुल, लेकिन तब आपको ऐसी भ्रामक आशाएं व अपेक्षाएं नहीं रहेंगी कि भविष्य में कोई वस्तु या कोई व्यक्ति आपका परित्राण करेगा, आपको दुख से मुक्त करेगा या आपको सुख व प्रसन्नता प्रदान करेगा। जहां तक कि आपकी जीवन-परिस्थितियों की बात है, उसमें कुछ ऐसी चीज़ें हो सकती है जिनको पाना या हासिल करना आवश्यक हो क्योंकि यह भौतिक संसार रूप-आकार, लाभ व हानि वाला तो है ही। लेकिन, गहरे स्तर पर तो आप पूर्ण ही हैं-पहले से ही, और जब आपको इसका भान हो जाता है तब आप जो कुछ भी करते हैं उसमें प्रफुल्लता और आनंद की ऊर्जा काम किया करती है। मानसिक समय से मुक्त हो जाने पर, आप अपने लक्ष्यों के पीछे ऐसे भयंकर इरादे लेकर नहीं दौड़ पड़ते हैं जो भय, क्रोध व असंतोष से उपजे हों या कुछ बनने की तलब से। और, ना ही आप विफलता के भय से निष्क्रिय ही रहा करते हैं जो कि अहं के लिए अपना अस्तित्व खोना देना जैसा होता है। जब आपके स्व का गहनतर भाव *बीइंग* से प्राप्त किया जा रहा होता है, जब आप "बनने" की मनोवैज्ञानिक तलब से मुक्त रह रहे होते हैं, तब न तो आपका सुख, न आपकी प्रसन्नता और न ही आपके स्व का भाव किसी परिणाम पर निर्भर कर किया करता है। और इसलिए, तब भय से मुक्ति रहा करती है। तब स्थायित्व की तलाश आप वहां नहीं करते हैं जहां उसे पाया ही नहीं जा सकता, जैसे रूप-आकार के, लाभ-हानि के और जन्म-मरण के संसार में। तब, आप यह चाहना ही नहीं करते हैं कि स्थितियां, परिस्थितियां, स्थान, या लोग आपको सुख दें, प्रसन्नता दें; और अगर वे आपकी आशाओं-अपेक्षाओं के अनुरूप न उतरें तो आप दुखित भी नहीं होते हैं।

हर चीज़ सम्मान योग्य है, लेकिन महत्व किसी चीज़ का नहीं है। रूप और आकार जन्म लेते हैं और मृत्यु को प्राप्त होते हैं, लेकिन आप उस रूप और आकार के नीचे विद्यमान शाश्वत को पहचानने लगते हैं। आप जान जाते हैं कि "जो कुछ भी सत् है, वास्तविक है, उसे तो कोई संकट है ही नहीं"।

जब आपके *बीइंग* की अवस्था ऐसी हो जाती है, तो कैसे हो सकता है कि आप सफल न हों? आप तो पहले ही सफल हो चुके होते हैं।

अध्याय चार

‘अब’ से दूर रहना मन की ही एक रणनीति है

‘अब’ का लोप होना: सबसे बड़ी ग़लतफ़हमी

मैं भले ही यह बात पूरी तरह से मान लूं कि समय अंततः एक भ्रम है, लेकिन इस मानने से मेरे जीवन में क्या अंतर आने वाला है? मुझे तब भी रहना तो उसी संसार में पड़ेगा जिस पर समय पूरी तरह से हावी है।

कोई बौद्धिक सहमति एक दूसरा विश्वास मात्र ही होती है, और इससे आपके जीवन में कोई ख़ास अंतर आने वाला नहीं हैं। सत्य का बोध करने के लिए आपको उसे जीना होगा। जब आपके शरीर का एक-एक कोशाणु इस क़दर उपस्थित रहता हो कि वह जीवन के साथ-साथ स्पंदित होता हो, और जब आप यह महसूस कर सकते हों कि जीवन हर पल *बीइंग* का उल्लास है, तब यह कहा जा सकता है कि आप समय से मुक्त हो गए हैं।

लेकिन फिर भी, आने वाले कल में मुझे अपने बिलों का भुगतान करना है, और मुझे वयोवृद्ध भी होते जाना है, और हर किसी की तरह एक दिन मर भी जाना है। तो भला मैं यह कैसे कह सकता हूं कि मैं समय से मुक्त हो गया हूं?

आने वाले कल के बिल कोई समस्या नहीं हैं। इस भौतिक शरीर का अंत होना कोई समस्या नहीं है। समस्या है ‘अब’ का लोप हो जाना, ‘अब’ को न देख पाना ही समस्या है, बल्कि यूं कहें कि वह मूल भ्रम व भ्रांति असल समस्या है जो कि किसी स्थिति को, किसी घटना को, या किसी भावना को एक समस्या में, एक दुख में तब्दील कर देती है। ‘अब’ का लोप होना *बीइंग* का लोप होना है।

समय से मुक्त होने का अर्थ है-अपनी पहचान के लिए अतीत की और अपनी परिपूर्णता के लिए भविष्य की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता से मुक्त हो जाना। यह अवस्था चैतन्यता के इतने गहरे रूपांतरण की द्योतक है जितनी कि आप कल्पना कर सकते हैं। अपवादस्वरूप कुछ मामलों में, चैतन्यता का यह बदलाव प्रभावशाली और आमूल रूप से होता है, सदा-सर्वदा के लिए होता है। जब ऐसा होता है तब आमतौर से यह घनघोर दुख के बीच संपूर्ण समर्पण कर देने के माध्यम से होता है। लेकिन अधिकतर लोगों को इसके लिए बहुत कुछ करना पड़ता है, लगना पड़ता है।

जब आपको चैतन्यता की कालनिरपेक्ष अवस्था की पहली झलक मिल जाती है, तब समय, यानी अतीत तथा भविष्य में जाने और वर्तमान में उपस्थित रहने की बीच की स्थितियों में आपका आना-जाना शुरू हो जाता है। आप सबसे पहले तो इस बात से अवगत हो जाते है कि 'अब' में आपका अवधान सचमुच ही कितना कम रहा करता है। किंतु, यह *जानना* कि आप वर्तमान में *उपस्थित* नहीं रहते हैं, यह एक बड़ी सफलता है, क्योंकि यह जानना ही उपस्थिति है-भले ही शुरुआत में यह घड़ी वाले समय के अनुसार दो-चार पल ही ठहर पाती हो। फिर, इसकी बढ़ती आवृत्ति के साथ, आप अतीत या भविष्य में अपना फ़ोकस रखने के बजाय वर्तमान पल में अपनी चैतन्यता का फ़ोकस रखने का *चयन* कर सकते हैं, और जब कभी भी आपको लगे कि 'अब' आपके हाथ से छूट रहा है तब आप उसमें ठहरे रहने के लिए सक्षम हो जाते हैं-दो-चार पलों के लिए नहीं, बल्कि इतनी लंबी अवधि के लिए कि वह घड़ी वाले समय द्वारा देखा जा सके। इसलिए, इससे पहले कि आप चैतन्यता की अवस्था में दृढ़तापूर्वक स्थापित हों, यानी इससे पहले कि आप पूर्णतया चैतन्य हों, आप कुछ समय के लिए चैतन्यता और अचैतन्यता के बीच, वर्तमान में उपस्थित रहने की अवस्था और मन के साथ तादात्म्यता की अवस्था के बीच, कुछ अवधि के लिए थोड़ा-बहुत तो इधर-इधर होते ही रहेंगे। 'अब' आपसे छूट भी जायेगा लेकिन फिर भी आप बारबार उसमें वापस भी आ सकेंगे। और अंततः, वर्तमान में विद्यमान रहना ही आपकी सर्वाधिक अवस्था बन जायेगी।

अधिकतर लोगों को वर्तमान में रहने की इस उपस्थिति का, इस विद्यमानता का, या तो कभी भी और क़तई भी अनुभव ही नहीं होता है, या अगर केवल इत्तफ़ाक से और दुर्लभ अवसरों पर क्षणिक रूप से कभी हो भी जाता है तो वे इसे पहचान भी नहीं पाते हैं कि यह है क्या। अधिकांश लोग चैतन्यता तथा अचैतन्यता बीच नहीं झूलते हैं बल्कि केवल अचैतन्यता के ही विभिन्न स्तरों के बीच झूलते रह जाते हैं।

सामान्य अचैतन्यता और गहरी अचैतन्यता

अचैतन्यता के विभिन्न स्तरों से आपका तात्पर्य क्या है?

जैसा कि शायद आप जानते हों, सोते समय आप स्वप्नरहित निद्रा और स्वप्नसहित निद्रा के बीच लगातार आते-जाते रहते हैं। उसी प्रकर, जागी हुई अवस्था में भी अधिकतर लोग सामान्य अचैतन्यता और गहरी अचैतन्यता के बीच इधर-उधर होते रहते हैं। सामान्य अचैतन्यता से मेरा तात्पर्य है-अपनी विचार प्रक्रिया और भावनाओं के साथ, अपनी प्रतिक्रियाओं, इच्छाओं और अनिच्छाओं के साथ तादात्मयता हो जाना। अधिकांश लोगों की सामान्य अवस्था यही रहा करती है। इस अवस्था में, आप अपने अहंमन्य मन द्वारा चलाए जा रहे होते हैं, और *बीइंग* से अनभिज्ञ रहते हैं, बेख़बर रहते हैं। यह अवस्था किसी तीखी पीड़ा, अप्रसन्नता व दुख की नहीं होती, बल्कि लगभग व लगातार असहजता, असंतोष, ऊब, उकताहट, या अधीतरता व आशंका की एक निम्न स्तर वाली अवस्था होती है-जैसे उनकी पृष्ठभूमि स्थिर गई हो। हो सकता है कि आप इसे पहचान न सकें, जान न सकें, क्योंकि यह अवस्था आपके रहन-सहन का "सामान्य" हिस्सा बन चुकी है-बिल्कुल वैसे ही जैसे आसपास से निरंतर आने वाले धीमे शोर का, जैसे एयरकंडीशनर की घूं घूं का, आपको तब तक पता ही नहीं चलता जब तक कि वह आवाज़ बंद नहीं हो जाती। जब वह शोर अचानक थम जाता है तब एक राहत का एहसास होता है। बहुत से लोग, इस अप्रिय असहजता को दूर करने के लिए अनजाने में ही मदिरा, ड्रग्स, सेक्स, भोजन, कामकाज, टेलिविज़न, और तो और खरीदारी को भी एक *एनेस्थेटिक* की तरह प्रयोग किया करते हैं। जब ऐसा होता है तब कोई कार्यकलाप, जो कि एक नियंत्रित व संयमित मात्रा में आनंदकारी हो सकता था, वह एक मजबूरी या लत का रूप ले लेता है, और उसके माध्यम से अगर कुछ भी राहत के लक्षण हासिल भी होते हैं तो वे बस कुछ पलों के लिए ही आते हैं।

सामान्य अचैतन्यता वाली यह असहजता तब एक गहरी अचैतन्यता के दुख में तब्दील हो जाती है-एक ऐसी अवस्था में तब्दील हो जाती है जिसमें दुख व पीड़ा अधिक तीखे और स्पष्ट लगने लगते हैं-जब चीज़ें 'मन के मुताबिक' न हो रही हों, जब अहं के सामने कोई ख़तरा या कोई बड़ी चुनौती आ गई हो, जब आपकी जीवन-परिस्थतियों में कोई आशंका या हानि हो रही हो, या जब किसी संबंध में टकराव हो रहा हो। यह अवस्था सामान्य अचैतन्यता का ही एक घनीभूत रूप होता है-स्वभाव में वही, बस मात्रा में अधिक।

सामान्य अचैतन्यता में, *जो है* के प्रति आदतन प्रतिरोध करना या उसे अस्वीकृत करना ही इस असहजता और असंतोष को पैदा करता है जिसे कि अधिकांश लोग जीवन की एक सामान्य बात मान लेते हैं। लेकिन, अहं के लिए किसी चुनौती या ख़तरे के चलते जब यही प्रतिरोध घनीभूत हो जाता है तब यह उतनी ही घनी नकारात्मकता पैदा कर देता

है, जैसे क्रोध, घना डर, आक्रात्मकता, अवसाद इत्यादि। गहरी अचैतन्यता का मतलब अक्सर यह होता है कि संचित- दुख भड़क उठे हैं और आप उनके साथ तादात्म्य हो गए हैं, उनके साथ एकाकार और एकजान हो गए हैं। गहरी अचैतन्यता के बिना शारीरिक हिंसा का होना असंभव है। लेकिन ऐसा तब आसानी से हो जाता है जब और जहां लोगों की कोई भीड़ या एक पूरा देश एक सामूहिक नकारात्मक ऊर्जा पैदा कर रहा हो।

आपकी चैतन्यता का सबसे अच्छा संकेतक यह है कि जीवन में जब भी कोई चुनौती आती है तब आप आचरण कैसा करते हैं। जो व्यक्ति पहले से ही अचैतन्य है वह चुनौतियां आने पर और भी अधिक गहरी अचैतन्यता की ओर चले जाने की प्रवृत्ति रखता है, लेकिन चैतन्य व्यक्ति चुनौतियां आने पर और भी घनी चैतन्यता की ओर प्रवृत्त हो जाता है। किसी चुनौती को आप खुद को जगाने के लिए इस्तेमाल कर सकते हैं, या उसे यह अनुमति दे सकते हैं कि वह आपको और भी गहरी नींद में खींच ले जाए। सामान्य अचैतन्य व्यक्ति के सपने तब डरावने सपनों में तब्दील हो जाते हैं।

अगर आप बिल्कुल सामान्य सी परिस्थितियों के दौरान भी वर्तमान में उपस्थित तथा विद्यमान नहीं रह सकते, जैसे कि किसी कमरे में अकेले बैठना, किसी एकांत जगह में अकेले घूमना या किसी को सुनना, तो फिर आप निश्चय ही तब भी वर्तमान में उपस्थित नहीं रह सकते कि जब चीज़े "मन के मुताबिक" न हो रही हों या आपको कठिन लोगों का, कठिन परिस्थितियों का, किसी नुकसान का या नुकसान के किसी ख़तरे का सामना करना पड़ रहा हो। तब आप पर अपनी ही कोई प्रतिक्रिया हावी हो जाती है जो कि आख़िरकार किसी न किसी भय का ही रूप होती है और वह आपको गहरी अचैतन्यता में खींच ले जाती है। ये चुनौतियां तो आपकी परीक्षाएं हैं। जिस तरह से आप उनके साथ आचरण करते हैं वही तो आपको, और दूसरों को भी, यह बताता है कि आप कितने पानी में हैं-अपनी चैतन्यता के मामले में, न कि इस मामले में कि आप कितनी देर अपनी आंखें बंद करके बैठे रह सकते हैं या आप दिव्य दर्शन क्या देखते हैं।

इसलिए, यह बहुत ज़रूरी हो जाता है कि आप अपने जीवन की सामान्य स्थितियों में तब भी अधिक चैतन्यता लाएं कि जब सब-कुछ तुलनात्मक रूप से सरल-सहज ही चल रहा हो। इस तरह, आपकी वर्तमान में उपस्थित रहने की क्षमता बढ़ती जाती है। यह आपमें और आपके चारों ओर एक उच्च स्पंदनशील आवर्तन का एक ऊर्जा क्षेत्र बना देती है। उस क्षेत्र में कोई अचैतन्यता, कोई नकारात्मकता, कोई वैमनस्यता या हिंसा न तो प्रवेश कर सकती है और न ही बनी रह सकती है, बिल्कुल वैसे ही जैसे प्रकाश की उपस्थिति मे अंधकार टिक नहीं सकता है।

जब आप अपने विचारों और अपनी भावनाओं का द्रष्टा बनना सीख जाते हैं-जो कि वर्तमान में उपस्थित रहने का एक अनिवार्य अंग है-और जब आप पहली बार सामान्य अचैतन्यता की 'स्थिर' पृष्ठभूमि के बारे में सजग होते हैं और यह जान पाते हैं कि अपने

भीतर आप सचमुच चैन से शायद ही कभी रहते हों, तब आपको बहुत आश्चर्य हो सकता है। अपने सोचने-विचारने के स्तर पर, निष्कर्ष, निर्णय, असंतोष और 'अब' से दूर-दूर रहने वाली मानसिक धारणाओं के रूप में आप प्रतिरोध को बड़ी मात्रा में पायेंगे। भावनात्मक परत के नीचे-नीचे बहती असहजता, तनाव, ऊब, उकताहट, या घबराहट की धारा आपको दीख जायेगी। ये दोनों अपनी स्वभावगत प्रतिरोध प्रणाली वाले मन के ही पहलू हैं।

उन्हें तलाश क्या है?

कार्ल जुंग ने अपनी एक किताब में अमेरिका के एक आदिवासी मुखिया के साथ हुई बातचीत का उल्लेख किया है जिसमें वह मुखिया बताता है कि उसकी नज़र में अधिकतर गोरे लोगों का चेहरा तनावग्रस्त, आंखें घूरती हुईं और व्यवहार क्रूर होता है। उसके ही शब्दों में, "वे हर समय जैसे कुछ तलाशते, कुछ ढूंढते रहते हैं। वे ढूंढते क्या रहते हैं? ये गोरे लोग हमेशा कुछ चाहते रहते हैं। वे हमेशा बेचैन और परेशान रहते हैं। हम नहीं जानते कि वे चाहते क्या हैं। हमें तो वे पागल लगते हैं।"

लगातार बेचैन रहने वाली और अंदर-अंदर बहने वाली यह धारा पश्चिमी औद्योगिक सभ्यता के जन्म से पहले ही शुरू हो गई थी, लेकिन पश्चिमी सभ्यता में, जो कि अब पूरब सहित समूची धरती पर फैल चुकी है, यह बात अभूतपूर्व चुभने वाले रूप में प्रकट हो रही है। यह जीसस के ज़माने में भी थी और जीसस से 600 वर्ष पहले बुद्ध के युग में भी थी, और उससे बहुत पहले भी रही थी। आप इतने व्यग्र क्यों रहते हैं? जीसस ने अपने शिष्यों से पूछा था, "क्या व्यग्रता व चिंता वाला कोई दिन तुम्हारे जीवन में एक भी दिन और जोड़ सकता है?" और, बुद्ध ने सिखाया था कि दुख का मूल हमारी लगातार ललक और चाहत में ही रहता है।

एक सामूहिक रोग के रूप में, 'अब' के प्रति प्रतिरोध करने के तार, *बीइंग* के प्रति अपनी सजगता को खो देने से जुड़े हुए हैं और वही हमारी मानवताविहीन औद्योगिक सभ्यता का आधार भी है। इत्तफ़ाक से, फ्रायड ने भी इस बेचैनी की, इस असहजता की अंतर्धारा को पहचाना था और इसके बारे में उसने अपनी किताब *सिविलाइज़ेशन एंड इट्स डिस्कॉन्टैंट्स* में लिखा भी है, लेकिन उसने इसकी असल जड़ को नहीं पहचाना और इस बात को समझने में असफल रहा कि इससे मुक्ति संभव है। इस सामूहिक रोग ने एक ऐसी अप्रसन्न, दुखी और असाधारण रूप से हिंसक सभ्यता को पैदा कर दिया है जो कि न केवल खुद के लिए बल्कि इस धरती के समूचे जीवन के लिए एक ख़तरा बन गई है।

सामान्य अचैतन्यता का अंत करना

तो हम इस वेदना से, इस विपदा से कैसे मुक्त हो सकते हैं?

चैतन्य बनें। उन अनेक तौर-तरीकों को ध्यान से देखें जिनमें अनावश्यक निर्णय- निष्कर्ष पर पहुंचने, *जो है* के प्रति प्रतिरोध करने, और 'अब' को अस्वीकार करने के जरिए आपमें बेचैनी, असंतोष और तनाव पैदा हुआ करता है। जब आपमें चैतन्यता का प्रकाश होता है तब हर वह चीज़ विगलित हो जाती है जो अचैतन्य है। एक बार जब आप यह जान जाते हैं कि सामान्य अचैतन्यता को कैसे विगलित किया जाए, कैसे विघटित किया जाए, तब आपकी वर्तमान की उपस्थिति में प्रकाश की उज्ज्वलता और बढ़ जाती है और फिर जब भी आप खुद को अपनी गहरी अचैतन्यता में खींचा जाता हुआ महसूस करते है तो उस स्थिति से उबरना आपके लिए सरल हो जाता हैं। लेकिन, शुरुआती दौर में सामान्य अचैतन्यता को पहचान पाना कठिन होता है क्योंकि वह आपकी आदत में घुली-मिली होने के कारण सामान्य बात नज़र आती है।

आत्म-अवलोकन करते हुए अपनी मानसिक व भावनात्मक अवस्था पर नज़र रखना अपना स्वभाव बना लीजिए। "क्या मैं इस पल शांत हूं, चिंतारहित हूं, अनुद्विग्न हूं?"-खुद से यह प्रश्न अक्सर पूछते रहना अच्छा रहता है। या, आप यह भी पूछ सकते हैं, "इस पल मेरे अंदर क्या चल रहा है?" जितनी रूचि आप इस बात में रखा करते हैं कि बाहर क्या चल रहा है, उतनी ही रूचि इस बात में भी रखिए कि आपके भीतर क्या चल रहा है। अगर आपके भीतर सब कुछ ठीक हो गया तो बाहर भी सब ठीक हो जायेगा। प्रमुख व प्राथमिक सत्यता तो भीतर ही है, गौण व द्वितीय सत्यता बाहर है। लेकिन ऐसे प्रश्नों का उत्तर जल्दबाज़ी में मत दीजियेगा। अपने अवधान को भीतर केंद्रित कीजिए। अपने भीतर एक नज़र डालिए। देखिए कि आपका मन किस प्रकार के विचार पैदा कर रहा है? आप क्या महसूस कर रहे हैं? जब आप यह जान लें कि बेचैनी का स्तर कम हुआ है, कि पृष्ठभूमि स्थिर हो गई है, तो फिर यह देखिए कि आप जीवन को किस तरह से अनदेखा किया करते हैं, किस तरह से उसका प्रतिरोध किया करते हैं, उसे नकारा करते हैं-'अब' को नकार करके ही तो। ऐसे बहुत से तौर-तरीके हैं जिनके द्वारा लोग अनजाने में ही, अचैतन्यता में ही, वर्तमान पल के प्रति प्रतिरोध किया करते हैं। मैं आपको उनके कुछ उदाहरण आगे दूगां। अभ्यास करते-करते आत्म-अवलोकन करने की, अपनी आंतरिक अवस्था की *मॉनिटरिंग* करने की, उस पर नज़र रखने की आपकी क्षमता कुशाग्र होती जायेगी।

अप्रसन्नता से मुक्ति

जो आप कर रहे हैं उसके प्रति क्या आपमें अप्रन्नता, अप्रियता, झुंझलाहट, झल्लाहट व कुढ़न रहती है? वह आपका रोज़गार भी हो सकता है या कोई ऐसा काम हो सकता है जिसके लिए पहले तो आप सहमत हो गए हों और उसे कर भी रहे हों, लेकिन आपके मन का कोई हिस्सा है जो उसके प्रति अच्छा-अच्छा महसूस न कर रहा हो और आपको उसे करने से रोक रहा हो। क्या आप अपने मन में किसी नज़दीकी व्यक्ति के लिए अप्रियता व कुढ़न पाले हुए हैं? क्या यह बात आप जानते हैं कि इस तरह जो ऊर्जा आप प्रसर्जित करते हैं वह अपने प्रभाव में इतनी हानि कर होती है कि वास्तव में उससे आप खुद को भी संदूषित कर रहे होते हैं और अपने आसपास वालों को भी। अपने भीतर अच्छी तरह देखिए। क्या वहां लेशमात्र भी अप्रसन्नता, अप्रियता, झुंझलाहट, कुढ़न, नाराज़गी, रोष, अनिच्छा है? अगर है तो मानसिक व भावनात्मक दोनों की स्तरों पर उसे ध्यान से देखिए। आपके मन का वह कौन सा विचार है जो इस स्थिति को पैदा कर रहा है? फिर उस भावना पर ध्यान दीजिए, यानी उन विचारों की शरीर पर होने वाली प्रतिक्रिया को ग़ौर से देखिए। उस भावना को महसूस कीजिए। क्या वह आपको प्रियकर व रुचिकर लग रही है या अप्रियकर व अरुचिकर लग रही है। क्या यह एक ऐसी ऊर्जा है जिसे कि अपने अंदर होने देना आप वास्तव में *चयन कर रहे हैं*? और, क्या आपके सामने चुनने को कोई और *विकल्प है*?

हो सकता है कि आपका फ़ायदा उठाया जा रहा हो, हो सकता है कि जिस काम में आप लगे हों वह नीरस व ऊबाऊ हो, हो सकता है कि आपका कोई निकटस्थ संगी-साथी बेईमान हो, चिड़चिड़ाहट पैदा करने वाला या लापरवाह हो, लेकिन इन सब बातों का उन बातों से कोई संबंध नहीं है। अपनी इन स्थितियों के बारे में आपकी विचार और भावनाएं उचित हैं या नहीं, इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ने वाला। तथ्य तो यह है कि आप *जो है* के प्रति प्रतिरोध कर रहे हैं। वर्तमान पल को आप एक शत्रु समझ रहे हैं। आप अप्रसन्नता को, अरुचि, रोष व कुढ़न को रच रहे हैं, आप भीतर और बाहर के बीच द्वंद्व को, टकराव को पैदा कर रहे हैं। आपकी अप्रसन्नता, अरुचि, रोष व कुढ़न केवल आपको और आपके आसपास वालों को ही प्रदूषित नहीं कर रही है बल्कि उस सामूहिक मानवी चेतना को भी प्रदूषित कर रही है जिसके आप भी एक अभिन्न अंग हैं। इस धरती पर व्याप्त बाह्य प्रदूषण दरअसल लागों की इसी आंतरिक चेतना के प्रदूषण का प्रतिबिंब ही है: लाखों लाख अचैतन्य लोग अपने भीतर के आकाश के प्रति अपनी ज़िम्मेदारी नहीं निबाह रहे हैं।

जो आप कर रहे हैं या तो उसे करना बंद कर दें, संबंधित व्यक्ति से बात करें और उसे बता दें कि आपको कैसा लग रहा है, या उस नकारात्मकता को हटा दें जो आपके मन ने इस स्थिति के चारों ओर बुन दी है जो कि आपमें अहं की एक मिथ्या अनुभूति को बल

प्रदान करने के अलावा कुछ और नहीं कर रही है। सच तो यह है कि अधिकांश मामलों में वह आपको इसी दशा में अटकाए रखती है, और असल बदलाव को रोके रखती है। जो कुछ भी नकारात्मक ऊर्जा से किया जाता है वह नकारात्मकता से संदूषित हुए बिना नहीं रहता, और आगे चल कर अधिक पीड़ा, अधिक अप्रन्नता ही पैदा किया करता है। इसके अलावा, नकारात्मक आंतरिक अवस्था संक्रामक भी होती है, यानी अप्रन्नता-अरुचि, रोष व कुढ़न, किसी शारीरिक रोग की तुलना में, एक व्यक्ति से दूसरों में अधिक आसानी से, अधिक तेज़ी से फैलती है। प्रति ध्वनि के सिद्धांत की तरह, यह दूसरों के अंदर भी प्रसुप्त नकारात्मकता को उभार देती है, उसे खुराक देती है, सिवाय उन लोगों के जिन्हें कि संक्रमित नहीं किया जा सकता-यानी वे लोग जो बहुत चैतन्य रहते हैं।

क्या आप संसार को प्रदूषित कर रहे हैं, या इसकी अव्यवस्था, गड़बड़ी और गंदगी को साफ़ कर रहे हैं? अपने भीतरी आकाश के लिए आप स्वयं ज़िम्मेदार हैं, कोई और नहीं, बिल्कुल उसी तरह जैसे कि आप इस धरती के लिए ज़िम्मेदार हैं। यथा अंदर तथा बाहर: इंसान अगर भीतरी प्रदूषण को साफ़ कर लें तो वे बाहरी प्रदूषण करना भी बंद कर देंगे।

जैसा कि आप सुझाते हैं, हम नकारात्मकता को छोड़ें तो कैसे?

इसे छोड़ कर। आप उस गरम कोयले को कैसे छोड़ते हैं जो आपके हाथ में आ जाता है? आप उस भारी और बेमतलब के बोझ को कैसे छोड़ते हैं जिसे आप ढो रहे होते हैं?-केवल यह बात समझ लेने पर कि आप उस दर्द को, या उस बोझ को अब और सहन-वहन करना नहीं चाहते, और फिर उसे थामे रखना आप तत्क्षण त्याग देते हैं।

गहरी अचैतन्यता को-जैसे कि संचित-दुख, या कोई अन्य गहरा दुख, जैसे कि किसी प्रिय को खो देने का दुख-ऐसी अचैतन्यता का रूपांतरण सामान्यतः उस दुख को स्वीकार करने के द्वारा और उसके साथ उपस्थित रहते हुए आपके सतत अवधान में ही किया जा सकता है। और, सामान्य अचैतन्यता के कई ढर्रों को केवल यह जानने पर बड़ी आसानी से छोड़ा जा सकता है कि अब आप उनको न तो चाहते हैं और न ही आपको उनकी आवश्यकता ही है। ऐसा तब होता है जब आपको यह समझ आ जाती है कि आप चयन कर सकते हैं, कि आप पूर्वप्रभावों के प्रतिबिंबों का केवल एक पुलिंदा नहीं हैं। इस सब का अर्थ यह है कि आप 'अब' की शक्ति को पाने में सक्षम हो गए हैं। इसके अलावा आपके पास कोई और विकल्प ही नहीं है।

अगर आप किसी भावना को नकारात्मक कहते हैं तो क्या आप अच्छे और बुरे का ध्रुवीकरण नहीं रहे होते हैं, जैसा कि आपने कहा है? नहीं। ध्रुवीकरण तो पहले की उस

अवस्था में हो रहा होता है जब आपका मन यह फ़ैसला सुना रहा था कि वर्तमान पल बुरा है। यही फ़ैसला फिर नकारात्मक भावना को जन्म देता है। लेकिन जब आप किसी भावना को नकारात्मक कहते हैं, तब क्या आप सचमुच यह नहीं कह रहे होते हैं कि उसे वहां नहीं होना चाहिए, कि उस भावना को रखना ग़लत है? मेरी समझ तो यह कहती है कि जो कुछ भी एहसास उठ कर आए, उसे रखने की अनुमति हमें होनी चाहिए, बजाय इसके कि हम उनके बुरा होने का फ़ैसला सुना दें या यह कहें कि हमें उन्हें नहीं रखना चाहिए। अगर हमें अप्रसन्नता है, अरुचि, रोष व कुढ़न है तो हो, अगर क्रोध है, चिड़चिड़ापन है, बदमिज़ाजी है, या कुछ और है तो हो-नहीं तो हम दमन में, आंतरिक द्वंद्व में, या अस्वीकृति में चले जायेंगे। जो चीज़ जैसी है, ठीक ही है।

बिल्कुल। जब मन का कोई स्वरूप, कोई भावना या कोई प्रतिक्रिया आए तो उसे स्वीकार करें क्योंकि इस मामले में आप उस भाव को आने देने के प्रति पर्याप्त सजग तो थे नहीं। वह कोई फ़ैसला नहीं है, वह तो एक तथ्य है। अगर आपके पास चुनने का विकल्प *होता*, या आपको यह ज्ञात होता कि आपके पास चुनने का विकल्प *है*, तो क्या आप दुख को चुनते या हर्ष को, चैन व सुकून को चुनते या बेचैनी और बेआरामी को, शांतता को चुनते या द्वंद्व को? क्या आप कोई विचार चुनते या उस भावुकता को चुनते जो आपको कल्याण की स्वाभाविक अवस्था से, अंतरात्मा के आनंद की अवस्था से काट कर अलग कर देती है? ऐसी किसी भी भावुकता को मैं नकारात्मक कहता हूं, जिसका सीधा-सीधा अर्थ है बुरी, न कि इस अर्थ में कि "आपको उसे नहीं रखना चाहिए", बल्कि बिल्कुल सीधी-सरल असलियत में बुरी, पेट में किसी गड़बड़ के एहसास की तरह।

यह कैसे संभव हुआ है कि बीसवीं शती में इंसान ने अपने ही दस करोड़ संगी-साथी इंसानों को मार डाला? मनुष्यों द्वारा मनुष्यों को दिया जा रहा दुख इतना दारुण है कि आप कल्पना भी नहीं कर सकते। और, वह मानसिक हिंसा, भावनात्मक हिंसा, शारीरिक हिंसा, प्रताड़ना, अत्याचार, पीड़ा पहुंचाना और क्रूरता इसके अलावा है जो कि वे एक दूसरे पर और अन्य संवेदनशील प्राणियों पर रोज़ाना ही ढाते रहते हैं।

क्या वे ऐसा इसलिए कर रहे होते हैं कि वे अपनी स्वाभाविक अवस्था के साथ, आंतरिक जीवन के आनंद के साथ जुड़े रहते हैं? बिल्कुल नहीं। केवल वे लोग जो कि गहरी नकारात्मक अवस्था में रहते हैं, जो वाक़ई बुरा-बुरा महसूस करते रहते हैं, वे लोग ही जैसा खुद महसूस कर रहे होते हैं उसी को प्रतिबिंबित करते हुए उसे वास्तविकता बना देते हैं। अब तो वे उसी पृथ्वी और उसकी प्रकृति को भी नष्ट करने पर तुले हुए हैं जो कि उन्हें पाल-पोस रही है। अविश्वसनीय लेकिन सत्य है यह। इंसान एक ख़तरनाक पागल और बहुत ही अस्वस्थ प्रजाति है। यह कोई निर्णय नहीं है। यह तथ्य है। और, यह भी

तथ्य है कि इस पागलपन के तले विवेक भी है। स्वास्थ्य प्राप्ति और क्षति पूर्ति, दोनों उपलब्ध हैं-अभी।

अब मैं उस बात पर आता हूं जो आपने कही है। यह बात बिल्कुल सही है कि जब आप अपनी अप्रसन्नता, रोष व कुढ़न होने की, बदमिज़ाजी होने की, क्रोध इत्यादि होने की बात को स्वीकार कर लेते हैं, तब आप अंधे होकर उस तरह का बर्ताव करने को मजबूर नहीं होते हैं, और उसे दूसरों में पैदा करने की आशंका को भी कम कर देते हैं। लेकिन, मुझे तो लगता है कि आप खुद को धोखा दे रहे हैं। अगर आपने कुछ देर के लिए स्वीकारने का अभ्यास किया है, जैसा कि आपने किया भी है, तो एक बिंदु ऐसा आता है जब आपको उससे अगली उस अवस्था में पहुंचना होता है जहां कि नकारात्मक भावनाएं फिर पैदा ही नहीं की जातीं। अगर आप उस अगली अवस्था में नहीं जाते हैं तो आपका "स्वीकारना" केवल मन का एक बहकावा है जो कि आपके अहं को अप्रन्नता, रोष व कुढ़न में बने रहने देता है, और इस तरह वह आपको अन्य लोगों से, आपके आसपास से, आपके 'यहीं' और 'अब' से अलग होने के अपने एहसास को मज़बूत करता है। जैसा कि आप जानते ही हैं, अलगाव ही अहं की अपनी पहचान का आधार होता है। सच्चे अर्थ में की गई स्वीकार्यता तो उन भावनाओं का तत्काल तत्वांतरण कर देने वाली होती है। और अगर आप अंतरतम से सचमुच जानते कि सब कुछ 'ठीक' है, जैसा कि आपने बताया है और जो कि सच भी है, तो क्या आप उन नकारात्मक भावनाओं को प्रथम स्थान पर रखते? *जो है* के प्रति बिना निर्णय- निष्कर्ष के, बिना प्रतिरोध के, वे भावनाएं अपना सिर नहीं उठायेंगी। आपके मन में भले ही एक धारणा रहती हो कि "सब कुछ ठीक है" लेकिन कहीं गहरे में आप सचमुच इस बात पर विश्वास नहीं करते हैं, और इसलिए प्रतिरोध का वही पुराना मानसिक-भावनात्मक ढर्रा यथावत चलता रहता है। इसीलिए आप बुरा-बुरा महसूस करते हैं।

वह भी तो ठीक ही है।

क्या आप इस बात की वकालत कर रहे हैं कि अचैतन्य रहना, दुखी रहना आपका अधिकार है? चिंता मत कीजिए: कोई भी आपके उस अधिकार को आपसे छीनने नहीं जा रहा है। अगर आपको यह पता चल जाए कि अमुक चीज़ खाने से आप बीमार पड़ सकते हैं, तो भी क्या आप उस चीज़ को खाते रहना चाहेंगे और यह दावा करते रहेंगे कि बीमार होना 'ओके' है?

आप जहां भी हों, पूर्णतया वहां ही हों

क्या आप सामान्य अचैतन्यता के कुछ और उदाहरण दे सकते हैं?

अगर आप कर सकें तो खुद को तब देखें जब आप किसी ऐसी स्थिति के बारे में शिकायत कर रहे हों जिसमें कि आप हैं-चाहे बोलते हुए या सोचते हुए-जैसे इस बारे में कि आपके आसपास के लोग क्या करते है, क्या कहते हैं, और अपने आसपास के वातावरण के बारे में, अपनी जीवन की स्थितियों के बारे में, या मौसम के बारे में भी क्या आप शिकायत किया करते हैं? शिकायत करने का मतलब हमेशा यह होता है कि आप *जो है* को स्वीकार नहीं कर रहे हैं। निश्यय ही, ऐसा करना एक अचैतन्य नकारात्मक आवेश पैदा करता है। जब आप शिकायत करते हैं तब आप स्वयं को एक शिकार, एक पीड़ित, एक बलि-पशु बना रहे होते हैं। जब आप शिकायत को बोल रहे होते हैं तब आप उसकी झोंक में बह रहे होते हैं। इसलिए, बेहतर यह होगा कि आवश्यक हो, या संभव हो तो कुछ करके अथवा बोल करके या तो उस स्थिति को बदल दें या उस स्थिति को छोड़ दें या उसे स्वीकार कर लें। बाकी सब पागलपन है।

सामान्य अचैतन्यता, हमेशा ही, किसी न किसी रूप में 'अब' को स्वीकार न करने से जुड़ी होती है। निश्चय ही, 'अब' में 'यहां' भी शामिल रहता है। क्या आप अपने 'अब' का और अपने 'यहां' का प्रतिरोध कर रहे हैं? कुछ लोग हमेशा ही यहां के बजाय कहीं और हुआ करते हैं। उनका 'यहां' कभी भी अच्छा नहीं होता। आत्म-अवलोकन करके देखें कि आपके जीवन में भी यही तो नहीं हो रहा है। आप जहां कहीं भी हैं, वहां पूर्णतः रहिए। अगर आप पाते हैं कि आपका 'यहां' और आपका 'अब' असहनीय है, आपको दुखी कर रहा है तो आपके पास तीन विकल्प रहते हैं: उस स्थिति को बदलें, उस स्थिति से खुद को हटा लें, या उसे स्वीकार करें-पूरी तरह। अगर आप अपने जीवन की ज़िम्मेदारी लेना चाहते हैं तो आपको इन तीन विकल्पों में से एक को चुनना ही होगा; और यह चयन आपको अभी करना होगा। चुनने के बाद उसके परिणामों को भी स्वीकार कीजिए। कोई बहानेबाज़ी नहीं। कोई नकारात्मकता नहीं। कोई मानसिक प्रदूषण नहीं। अपने भीतरी आकाश को स्वच्छ रखिए, निर्मल रखिए, निरभ्र रखिए।

अगर आप कोई कदम उठाते हैं-अपनी स्थिति को छोड़ने का या बदल डालने का-तो यथासंभव, पहले नकारात्मकता को छोड़िए। नकारात्मकता में से पैदा हुए कर्म की अपेक्षा अंतर्ज्ञान में से पैदा हुआ कर्म कहीं अधिक प्रभावी हुआ करता है।

कोई भी कर्म न करने की अपेक्षा कोई सा भी कर्म करना बेहतर रहता है, ख़ास तौर से तब जब कि आप अप्रसन्नता, रोष, कुढ़न वाली किसी स्थिति में लंबे अरसे से फंसे हुए हों। अगर वह कर्म, वह कदम ग़लत सिद्ध हुआ तो भी कम से कम आपको कोई सबक तो मिलेगा, और उस दशा में वह कोई ग़लती नहीं रह जायेगा। लेकिन, अगर आप उसमें ही फंसे रहते हैं तो आप कुछ भी नहीं सीख पायेंगे। क्या डर आपको कोई कदम लेने से रोक

रहा है? तो, उस डर को ध्यान से देखिए, उस पर अपना अवधान रखिए, उसके साथ पूरी तरह उपस्थित रहिए। ऐसा करने से डर और आपके विचार के बीच की कड़ी टूट जायेगी। *अपने मन के अंदर डर को सिर उठाने मत दीजिए।* 'अब' की शक्ति का प्रयोग कीजिए। डर उसके सामने ठहरा नहीं रह सकता।

अगर सचमुच ऐसा है कि आप अपने 'यहां' में और अपने 'अब' में बदलाव लाने के लिए कुछ नहीं कर सकते हैं, और न ही आप उस स्थिति को छोड़ सकते हैं, तो अपने सारे प्रतिरोधों को त्यागते हए अपने 'यहां' को, अपने 'अब' को स्वीकार कर लीजिए। तब आपका वह अवास्तविक तथा अप्रसन्न अहं, जिसे कि खुद को अभागा, नाराज़, क्रुद्ध, या दुखी मानना व दिखाना अच्छा लगता है, वह टिका नहीं रह सकता, बचा नहीं रह सकता। इस स्वीकारना को समर्पण कहते हैं। समर्पण कोई कमज़ोरी नहीं है। बल्कि, इसमें बहुत शक्ति होती है। केवल समर्पणकर्ता व्यक्ति में ही आध्यात्मिक बल होता है। समर्पण करके आप उस स्थिति से आंतरिक रूप से मुक्त हो जाते हैं। तब हो सकता है कि आपको यह भी देखने को मिले कि उस स्थिति में बदलाव आ गया है, और वह भी आपके किसी प्रयास के बिना ही। जो भी हो, आप तो मुक्त हो ही जाते हैं।

या, क्या ऐसा है कि आपको कुछ करना 'चाहिए" लेकिन आप वह कर नहीं रहे हैं? अगर ऐसा है तो उठिए और उसे कीजिए। या, अपनी निष्क्रियता, अपने आलस्य या इस पल की अपनी अकर्मण्यता को पूरी तरह स्वीकार कीजिए-अगर आपने ही ऐसा करना चुना है। इसमें पूरी तरह उतरिए। इसका आनंद लीजिए। जितना आलसी और अकर्मण्य हो सकते हैं, हो जाइए। अगर आप इसमें पूरी तरह और सजग होकर उतरेंगे, तो आप जल्दी ही इससे बाहर निकल आयेंगे। या हो सकता है कि न भी निकलें। दोनों ही हाल में, आपके अंदर कोई आंतरिक द्वंद्व-दुविधा, कोई प्रतिरोध, कोई नकारात्मकता नहीं रहेगी।

क्या आप तनाव में रहते हैं? क्या आप भविष्य को लेकर इतने व्यस्त रहते हैं कि आपका वर्तमान सिमट कर आपके लिए भविष्य में पहुंचने का एक साधन मात्र बन कर रह गया है? तनाव तब होता है जब आप "यहां" होते हैं लेकिन पहुंचना "वहां" चाहते हैं, या वर्तमान में रहते हुए भविष्य में पहुंचना चाहते हैं। इस तरह से बंट जाना आपको भीतर से भी चीर कर दो कर देता है। खुद में ऐसी फटन करना और उसके साथ जीना पागलपन है। यह कह देना कि हर कोई ऐसा ही तो कर रहा है, इस पागलपन को कम नहीं कर देगा। अगर आपकी विवशता है तो, आप तेज़ी से चल सकते हैं, तेज़ी से काम कर सकते हैं, यहां तक कि दौड़ भी सकते हैं, और वह भी अपने आपको भविष्य में प्रक्षेपित न करते हुए और न ही वर्तमान के प्रति प्रतिरोध करते हुए। जब आप चलें, काम करें, या दौड़ें-तो उसे पूरी-पूरी तरह करें। तब आप देखंगे कि आप तनावग्रस्त नहीं हैं, अपने आपको दो काल में बांट नहीं रहे हैं, बल्कि बस चल रहे हैं, दौड़ रहे हैं, या काम कर रहे हैं-और उसका आनंद भी ले रहे हैं। या आप सब कुछ छोड़ दें और जाकर किसी पार्क की बेंच पर

बैठ जाएं। लेकिन जब आप ऐसा करें तो अपने मन का अवलोकन करें। वह कह सकता है, "उठो, काम करो, तुम समय बरबाद कर रहे हो।" उसका अवलोकन करें, और उस पर मुस्कुराएं।

क्या अतीत आपके ध्यान का, आपकी तवज्जो का एक बड़ा हिस्सा हड़प कर जाता है? क्या आप अक्सर अतीत की ही चर्चा और अतीत का ही चिंतन किया करते हैं, चाहे वह नकारात्मक रूप से हो या सकारात्मक रूप से? वे बड़े-बड़े काम जो आपने किए हैं, आपके साहस भरे काम या अनुभव, या आपकी व्यथा कथा और वे कष्ट, वे दुख जो आपको दिए गए, या जो कुछ आपने औरों के लिए किया है? क्या आपकी विचार प्रक्रिया आप में अपराध-बोध, अभिमान, रोष, क्रोध, पश्चाताप, या आत्म-ग्लानि पैदा कर रही है? अगर ऐसा है, तो आप न केवल अहं के एक मिथ्या भाव को बल प्रदान कर रहे हैं, बल्कि अपने चेतन तत्व में अतीत का ढेर बढ़ाते हुए अपने शरीर की वृद्धावस्था प्राप्त करने की प्रक्रिया की गति को तेज़ कर रहे हैं। इस बात की पुष्टि आप अपने आसपास रहने वाले उन लोगों को देख कर कर सकते हैं जो अतीत से चिपके रहने की प्रचंड प्रवृत्ति रखते हैं।

अतीत के लिए मर जाइए, हर पल। आपको उसकी आवश्यकता ही नहीं है। केवल उसका संदर्भ लीजिए, और वह भी तब जब कि ऐसा करना वर्तमान के लिए बहुत ही आवश्यक हो जाए। इस पल की-वर्तमान पल की-शक्ति को और *बीइंग* की पूर्णता को महसूस कीजिए। वर्तमान में अपनी उपस्थिति को, विद्यमानता को महसूस कीजिए।

क्या आप चिंतित रहते हैं? क्या आपके मन में "क्या होगा अगर..." वाले विचारों का जमघट लगा रहता है? इसका मतलब है कि आपने खुद को अपने मन के साथ तादात्म्य किया हुआ है और वही मन खुद को एक काल्पनिक भविष्य में ले जा रहा है और डर पैदा कर रहा है। ऐसा कोई तरीका है ही नहीं जिसके द्वारा आप उस डर से निपट सकें, क्योंकि उस स्थिति का कोई वजूद ही नहीं है, वह तो मन द्वारा गढ़ा गया एक भूत है। लेकिन, अपने स्वास्थ्य और अपने जीवन को ज़ंग लगाने वाले इस पागलपन की रोक-थाम आप बड़ी आसानी से कर सकते हैं-वर्तमान पल को स्वीकार करते हुए। अपने श्वास-प्रश्वास के प्रति सजग रहें। अपने शरीर में आते और जाते वायु प्रवाह को महसूस करें। अपने आंतरिक ऊर्जा क्षेत्र को महसूस करें। अपना वास्तविक जीवन आपको जिसके साथ निबाहना है, अपना हर कामकाज जिसके साथ करना है, वह आपके मन द्वारा रची जाने वाला कोई काल्पनिक चित्र नहीं है, बल्कि वह है *यह पल, वर्तमान पल*। खुद से पूछिए कि क्या आपको इस पल में, वर्तमान पल में, कोई समस्या है-अगले पल, अगले वर्ष, आने वाले कल या अगले पांच मिनटों में नहीं बल्कि ठीक इस पल में? इस पल में क्या कोई गड़बड़ है? वर्तमान के साथ आप हमेशा ही बड़ी अच्छी तरह रह सकते हैं, अच्छी तरह

काम कर सकते हैं, लेकिन भविष्य के साथ आप कैसे रह सकते हैं, कैसे काम कर सकते हैं-और न ही आपको ऐसा करने की नौबत आती है। ज़रूरी जवाब, सही समाधान, आवश्यक शक्ति, सही कदम और संसाधन-ये सब यथासमय और आवश्यकता के अनुसार आपको उपलब्ध हो जायेंगे, न उससे पहले होंगे, न बाद में।

"एक न एक दिन मैं इसे करके रहूंगा।" क्या आपका कोई लक्ष्य आपका ध्यान इतना अधिक ले रहा है कि आपका वर्तमान पल सिमट कर आपके लक्ष्य तक पहुंचने का एक साधन मात्र बन कर रह गया है? जो कुछ भी आप करते हैं, क्या उसे करने में मिलने वाले आनंद को यह निकाल बाहर कर रहा है?

क्या आप इस इंतज़ार में ही रहते हैं कि जीवन को जीना कब शुरू किया जाए? अगर आपके मन का ढर्रा यही है तो आप चाहे कुछ भी हासिल कर लें, चाहें आप कुछ भी पा लें, लेकिन आपका वर्तमान कभी सुखद व सुखमय नहीं रहेगा; केवल भविष्य सुखद *प्रतीत* होता रहेगा। क्या यह स्थाई असंतोष व अपूर्णता का नुस्खा नहीं है? क्या आपको "इंतज़ार" करने की लत है? अपना कितना समय आप इंतज़ार करने में बिता देते है? डाकघर में, ट्रैफ़िक जाम में, हवाई अड्डे पर इंतज़ार करना, या किसी के आने का, काम ख़त्म होने इत्यादि का इंतज़ार करना-इन्हें मैं छोटे इंतज़ार कहता हूं। लेकिन, कुछ और भी इंतज़ार होते हैं जिन्हें मैं "बड़ा इंतज़ार" कहता हूं और उनमें शामिल हैं अगली छुट्टियों का, एक बेहतर जॉब का, बच्चों के बड़े होने का, एक सचमुच सार्थक संबंध का, सफलता का, खूब पैसा कमाने का, कुछ बन जाने का, आत्मज्ञ होने का इंतज़ार। आमतौर पर, लोग ऐसे ही किसी बड़े इंतज़ार में अपनी पूरी ज़िंदगी ही बिता देते हैं, या कहें कि इस इंतज़ार में ज़िंदगी शुरू ही नहीं कर पाते हैं।

इंतज़ार दरअसल मन की एक अवस्था है। मूलतः, इसका अर्थ यह है कि आप भविष्य को चाहते हैं, कि आप वर्तमान को नहीं चाहते। जो आपको मिला है उसे आप नहीं चाहते, आप उसे चाहते हैं जो आपको नहीं मिला है। हर तरह के इंतज़ार के साथ, अनजाने ही, आप एक द्वंद्व , एक टकराव पैदा कर रहे होते हैं-अपने 'यहां' व 'अब' और एक काल्पनिक भविष्य के बीच टकराव; यानी, एक स्थिति तो वह है जहां आप हैं लेकिन वहां होना नहीं चाहते, और एक स्थिति वह है जहां आप नहीं हैं लेकिन वहां आप होना चाहते हैं। इंतज़ार द्वारा आप इन दोनों के बीच द्वंद्व व टकराव पैदा कर रहे होते हैं। इंतज़ार में, वर्तमान को खो देने के कारण आप अपने जीवन की खूबियों को भारी मात्रा में खो देते हैं।

अपनी जीवन की परिस्थिति को सुधारने का प्रयत्न करने में कोई बुराई नहीं है। आप अपने जीवन की स्थिति-परिस्थिति को तो बेहतर कर सकते हैं, लेकिन आप अपने जीवन को बेहतर नहीं कर सकते। जीवन तो आधार है। जीवन आपका गहनतम आंतरिक सत्व है, *बीइंग* है। यह पहले से ही पूर्ण है, संपूर्ण है, परिपूर्ण है। आपकी जीवन-स्थिति में

आपकी परिस्थितियां और आपके अनुभव शामिल रहते हैं। कोई लक्ष्य निर्धारित करने और उसको पाने के लिए प्रयत्न करने में कुछ भी ग़लत नहीं है। ग़लती तब होती है जब हम इसे जीवन को, *बीइंग* को महसूस करने का एक अनुकल्प, एक बदल मान बैठते हैं। उस तक पहुंचने का तो एक ही कल्प है, एक ही विधान है और वह है 'अब'। 'अब' के अभाव में तो आप एक ऐसे वास्तुविद बन जाते हैं जो कि नींव पर तो कुछ ध्यान नहीं दे रहा हो और अपना अधिकांश समय और श्रम केवल ऊपरी संरचना बनाने में लगा रहा हो।

उदाहरण के लिए, बहुत से लोग समृद्धि की इंतज़ार किया करते हैं। लेकिन, वह भविष्य में नहीं आती। जब आप वर्तमान वास्तविकता का सम्मान करते हैं, उसे अंगीकार करते हैं, और उसे पूरी तरह स्वीकार कर लेते हैं-यानी आप जहां हैं, आप जो हैं, जो कुछ आप अब कर रहे हैं-जब आप उसे पूरी तरह स्वीकार कर लेते हैं जो आपके पास है, तब आप उसके लिए कृतज्ञ होते है जो आपके पास है, आप *जो है* के लिए आप कृतज्ञ होते हैं, *बीइंग* के लिए, अपने अस्तित्व के लिए कृतज्ञ होते हैं। वर्तमान के लिए कृतज्ञ होना-यानी, अब के जीवन की प्रचुरता के लिए कृतज्ञ होना-यही सच्ची समृद्धि है। यह भविष्य में नहीं मिल सकती। यही समृद्धि, समयानुसार, फिर नाना रूपों में प्रकट होती रहती है।

जो आपके पास है, उससे अगर आप असंतुष्ट हैं, या वर्तमान अभाव को लेकर आप खिन्न या क्रुद्ध रहते हैं, तो यह बात आपको धनवान बनने के लिए प्रेरित तो कर सकती है, लेकिन आप चाहे लाखों कमा लें, आप अपने अंदर अभाव ही महसूस करते रहेंगे, अपने अंदर खुद को कहीं अपरिपूरित ही महसूस करते रहेंगे। आप ऐसे अनेक सुख तो हासिल कर सकते हैं जो पैसे से खरीदे जा सकते हैं, लेकिन वे आते-जाते रहेंगे और हर बार आपके लिए एक खालीपन का ही एहसास देकर जायेंगे, जिसके कारण आपको शारीरिक व मनोवैज्ञानिक तुष्टिकरण की और भी अधिक आवश्यकता महसूस होगी। तब आप *बीइंग* में निवास नहीं कर रहे होंगे, और इसीलिए 'अब' के जीवन में उस परिपूर्णता को महसूस नहीं कर रहे होंगे जो कि एकमात्र सच्ची समृद्धि है।

इसलिए, इंतज़ार को-'बड़े इंतजार' को-अपने मन की अवस्था बनाना छोड़ दीजिए। जब कभी भी आप खुद को इस इंतज़ार में खिसकता हुआ देखें... तो झटपट उससे बाहर निकल आएं, वर्तमान पल में आ जाएं। बस इसी में रहिए और इसमें ही रहने का आनंद लीजिए। अगर आप वर्तमान में रहते हैं तो आपको कभी किसी चीज़ का इंतज़ार करने की ज़रूरत ही नहीं पड़ेगी। तो, अगली बार जब कोई आपसे कहे, "क्षमा कीजियेगा, आपको इंतज़ार करना पड़ा।" तो आप जवाब में कह सकते हैं, "कोई बात नहीं, मैं इंतज़ार नहीं कर रहा था। मैं तो बस यहां खड़ा होकर खुद का आनंद ले रहा था-खुद में होने का आनंद।"

वर्तमान पल को नकारने के आदी मन की ये कुछ रणनीतियां, कुछ तरकीबें हैं जो कि हमारी सामान्य अचैतन्यता का हिस्सा बनी रहती हैं। इन्हें नज़रअंदाज़ करना बड़ा आसान होता है क्योंकि हमारे सामान्य जीवन का ये काफ़ी बड़ा हिस्सा बन चुकी हैं, यानी ये अनवरत रहने वाले हमारे असंतोष की स्थाई पृष्ठभूमि बन चुकी हैं। फिर भी, अपनी आंतरिक मानसिक-भावनात्मक अवस्था पर आप जितनी अधिक नज़र रखेंगे, उसकी जितनी अधिक *मॉनिटरिंग* करेंगे, उतना ही आसान यह जानना होता जायेगा कि आप कब अतीत के या भविष्य के, यानी अचैतन्यता के जाल में फंस रहे हैं, और इसलिए समय के उस स्वप्न से बाहर निकल कर वर्तमान में आ जाना भी आपके लिए उतना ही सरल हो जायेगा। लेकिन सजग रहिए: मन के साथ तादात्म्य करने वाला यह मिथ्या, अवास्तविक, अप्रसन्न अहं तो सदा-सर्वदा समय में ही रहा करता है। यह जानता है कि वर्तमान पल तो इसके लिए मौत है, और इसलिए यह वर्तमान पल से हमेशा ख़ौफ़ खाता है। वर्तमान पल में से आपको बाहर खींच लेने और समय के जाल में फंसा देने के लिए यह अहं वे सारे जतन करता है जो यह कर सकता है।

आपकी जीवन यात्रा का आंतरिक प्रयोजन

आप जो कुछ कह रहे हैं, मैं उसका सच देख सकता हूं, लेकिन मेरा अब भी यह मानना है कि हमारी जीवन यात्रा का कोई तो प्रयोजन होना ही चाहिए; अन्यथा तो हम लहरों के थपेड़ों के साथ यूं ही इधर से उधर तिरते रहेंगे। प्रयोजन का तात्पर्य भविष्य का होना है। क्या ऐसा नहीं है? वर्तमान में रहते हुए हम उसके साथ समन्वय कैसे कर सकते हैं?

जब आप किसी यात्रा पर जाते हैं, तब यह जानना वाक़ई अच्छा रहता है कि आप कहां जा रहे हैं या कम से कम यह जानना कि किस दिशा में जा रहे हैं, लेकिन यह मत भूलिए कि आपकी यात्रा में जो एकमात्र बात परम महत्व रखती है वह है वह कदम जो आप उस पल उठा रहे होते हैं। यही महत्वपूर्ण होता है-हमेशा ही।

आपकी जीवन यात्रा में एक तो बाह्य प्रयोजन रहता है और एक आंतरिक प्रयोजन। बाह्य प्रयोजन होता है अपने लक्ष्य या गंतव्य पर पहुंचना, जो काम करना आपने निश्चित किया है उसे पूरा करना, कोई उपलब्धि हासिल करना; जिसमें निश्चय ही भविष्य शामिल रहता है। लेकिन, अगर आपका गंतव्य, या वे कदम जो आप भविष्य में उठाने वाले हैं, आपके अवधान का इतना बड़ा हिस्सा हड़प कर जाएं कि वे आपके लिए अब में उठाए जा रहे कदमों से भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाएं, तो आप अपनी आंतरिक यात्रा के प्रयोजन को पूरी तरह खो देते हैं जिसका कि इस बात से कोई सरोकार नहीं होता कि

आप *कहां* जा रहे हैं, या आप *क्या* कर रहे हैं, बल्कि इससे रहता है कि आप हर काम *कैसे* कर रहे हैं। इस आंतरिक प्रयोजन का भविष्य से कोई लेना-देना नहीं होता, बल्कि सब कुछ इस पल में आपकी चैतन्यता की गुणवत्ता से होता है। बाह्य प्रयोजन आकाश और समय के सपाट व सतही आयाम से सरोकार रखता है; जब कि आंतरिक प्रयोजन का संबंध कालनिरपेक्ष 'अब' के उच्चगामी आयाम में आपके *बीइंग* को गहन से गहनतर करने से रहता है। आपकी बाह्य यात्रा में लाखों कदम हो सकते हैं, लेकिन आपकी आंतरिक यात्रा में केवल एक कदम होता है-वह कदम जो आप अब उठा रहे हैं। आपकी सजगता इस एक कदम के प्रति जितनी गहरी होती जायेगी, उतना ही आपको यह बोध होता जायेगा कि इस एक कदम में ही सारे अन्य कदम भी शामिल हैं, और गंतव्य भी। तब यह एक कदम पूर्णता की शैली में रूपांतरित हो जाता है, सौंदर्य और गुण से परिपूर्ण कर्म बन जाता है। वह आपको *बीइंग* में ले जाता है, और आपके कार्यों से उसका प्रकाश प्रस्फुटित होने लगता है। आपकी आंतरिक यात्रा का प्रयोजन भी यही होता है और उसकी उपलब्धि भी यही होती है-स्वयं के भीतर यात्रा करना, अंतर्यात्रा करना।

क्या इस बात का कोई महत्व है कि हम अपना बाह्य प्रयोजन पूरा कर पाते हैं या नहीं, कि क्या हम इस संसार में सफल होते हैं या विफल रहते हैं?

जब तक आपको अपने आंतरिक प्रयोजन का बोध नहीं होगा, तब तक बाह्य प्रयोजन का महत्व बना रहेगा। उसके बाद, बाह्य प्रयोजन एक खेल की तरह हो जायेगा जिसे कि आप बस इसलिए जारी रखते हैं क्योंकि उसका आप आनंद ले रहे होते हैं। यह संभव है कि आप अपने बाह्य प्रयोजन में पूरी तरह असफल हो जाएं लेकिन साथ ही अपने आंतरिक प्रयोजन में पूरी तरह सफल रहें। या इसका उलट भी हो सकता है, जो कि अधिकतर होता भी है, कि आपको बाह्य समृद्धि मिल जाए लेकिन आप आंतरिक रूप से कंगाल ही रहें, या जीसस के शब्दों में, "आप संसार को हासिल कर लें लेकिन अपनी आत्मा को खो बैठें"। लेकिन वास्तव में अंततः, देर या सबेर, बाह्य प्रयोजन का विफल होना तय है, मात्र इस कारण से कि हर सांसारिक वस्तु अस्थायित्व के विधान के अंतर्गत रहा करती है। जितनी जल्दी आपको यह बोध जाए कि आपका बाह्य प्रयोजन आपको कोई स्थायी उपलब्धि नहीं दे सकता, उतना ही अच्छा है। जब आप अपने बाह्य प्रयोजन की सीमितता को जान जाते हैं, तब आप उससे यह अवास्तविक आशा-अपेक्षा रखना छोड़ देते हैं कि यही आपको सुखी बनायेगा; और फिर आप उसे अपने आंतरिक प्रयोजन का सहायक-सहयोगी बना लेते हैं।

अतीत आपके वर्तमान में कभी जीवित नहीं रह सकता

आपने बताया है कि अतीत के बारे में अनावश्यक सोचना-विचारना और चर्चा करना एक ऐसा तरीका है जिसके जरिए हम वर्तमान से दूर ही रहा करते हैं। लेकिन, उस अतीत के अलावा जिसे कि हम याद किया करते हैं और जिसके साथ तादात्म्य भी किया करते हैं, क्या अतीत का एक और स्तर हमारे अंदर मौजूद नहीं रहता जो कि अधिक ही गहरे में बैठा हुआ है? मैं उस अचेतन अतीत की बात कर रहा हूं जो हमारे जीवन को संस्कारग्रस्त किया करता है, ख़ासतौर से शुरुआती बचपन के अनुभवों, और शायद इसके बाद के अनुभवों के जरिए भी। और, हमारी वह सांस्कृतिक संस्कारग्रस्तता तो है ही जो कि जहां हम भौगोलिक रूप से रहते हैं उससे जुड़ी रहती है और वह ऐतिहासिक काल अवधि जिसमें कि हम रहे होते हैं। ये तमाम बातें ही तय करती हैं कि किस तरह हम संसार को देखते हैं, किस तरह प्रतिक्रिया करते हैं, क्या सोचते हैं, हमारे संबंध कैसे रहते हैं, और अपने जीवन को हम किस तरह जीते हैं। हम इस सब के प्रति सचेत कैसे हो सकते हैं और फिर इससे छुटकारा कैसे पा सकते हैं? इसमें कितना समय लगेगा? और, अगर हम ऐसा कर सके तो बाकी क्या बचा रह जायेगा?

भ्रम, भ्रांति, मरीचि का जब नहीं रहते तब क्या बचा रह जाता है?

अपने अंदर के अचेतन अतीत की जांच-पड़ताल करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह वर्तमान पल में किसी विचार, किसी इच्छा, किसी प्रतिक्रिया के रूप में या आपके साथ घटित होने वाली किसी बाहरी घटना के रूप में प्रकट होता ही रहता है। अपने अतीत के बारे में जो कुछ भी आप जानना चाहते हैं उसे वर्तमान की चुनौतियां आपके अंदर से बाहर प्रकट करा देंगी। अगर आप अतीत में खोदते-खोदते नीचे उतरते जायेंगे तो वह एक अथाह गर्त ही सिद्ध होता जायेगा: कुछ न कुछ सामने आता रहेगा। हो सकता है आप ऐसा मानते हों कि अतीत को समझने में या उससे मुक्त होने में आपको समय लगेगा, या दूसरे शब्दों में कहें तो यह मानना कि संभव है भविष्य आपको अतीत से मुक्त कर देगा। यह भ्रम है, भ्रांति है, मरीचि का है। केवल वर्तमान ही आपको अतीत से मुक्त कर सकता है। समय में अधिक समय बिताने से आप समय से मुक्त नहीं हो सकते- यानी आप अतीत और भविष्य में जितना अधिक जायेंगे, उतना ही अधिक उनमें फंसते जायेंगे। वर्तमान की शक्ति में प्रवेश कीजिए। यही है हल।

'अब' की, वर्तमान की शक्ति होती क्या है?

वर्तमान में आपकी उपस्थिति की, विद्यमानता की शक्ति, विचार तंत्र से मुक्त आपकी चैतन्यता-इसके अलावा कुछ नहीं।

इसलिए, वर्तमान के तल पर ही अतीत से निपटिए। अतीत को आप जितना अधिक अपना ध्यान-अवधान देते हैं उसे उतना ही सबल बनाते जाते हैं, और अधिकतर उसी में से आप अपना अहं भी गढ़ते जाते हैं। ग़लत मत समझिए: ध्यान-अवधान आवश्यक तो होता है, लेकिन अतीत को अतीत की तरह देखने के लिए नहीं। वर्तमान पर अपना ध्यान-अवधान दीजिए, अपने व्यवहार पर ध्यान दीजिए, आपकी प्रतिक्रियाएं, मिज़ाज, विचार, भावनाएं, भय, और इच्छाएं-ये जब वर्तमान में पैदा हो रहे हों तब उन पर ध्यान दीजिए। *इन्हीं में बसा है* आपका अतीत। अगर आप इन चीज़ों को ध्यानपूर्वक देखने के लिए वर्तमान में पूरी-पूरी तरह उपस्थित रह सकते हैं-आलोचनात्मक या विश्लेषणात्मक रूप से देखना नहीं बल्कि बिना कोई गुण-दोष निरूपण किए देखना-तब आप अतीत का निपटान कर रहे होंगे, अपनी उपस्थिति की शक्ति से उसका अंत कर रहे होंगे। अतीत में जाकर आप स्वयं को नहीं पा सकते। वर्तमान में रह कर ही आप स्वयं को पा सकते हैं।

क्या अतीत को समझना यह समझने में मददगार साबित नहीं होता है कि हम कुछ काम क्यों करते हैं, कि हम एक ख़ास तरह से प्रतिक्रिया क्यों करते हैं, या क्यों हम अचैतन्य रूप से अपने संबंधों में एक ख़ास तरह का तमाशा खड़ा किया करते हैं, एक सांचा तैयार किया करते हैं, वगैरह, वगैरह?

जब आप अपनी वर्तमान वास्तकिता के प्रति अधिक चैतन्य हो जाते हैं, तब आपको अचानक ही कुछ अंतर्दृष्टि हो सकती है कि *क्यों* आपकी 'कंडीशनिंग' यानी संस्कारग्रस्तता एक ख़ास तरह से काम किया करती है। उदाहरण के लिए, क्यों आपके संबंध कुछ ख़ास ढर्रों में चला करते हैं, और अतीत में हुई बातें आपको याद आ सकती हैं या आप उन्हें अधिक स्पष्ट तौर पर देख सकते हैं। यह अच्छा है और मददगार भी हो सकता है लेकिन यह अनिवार्य नहीं है। जो चीज़ अनिवार्य है वह है आपकी उपस्थिति, वर्तमान में आपकी विद्यमानता। वह *ही* अतीत को विगलित करती है, उसका अंत करती है। वह ही रूपांतरणकारी कारक है। इसलिए अतीत को समझने का प्रयास मत कीजिए, बल्कि जितना हो सके उतना वर्तमान में उपस्थित रहिए। अतीत आपके वर्तमान में टिक ही नहीं सकता। वह तो तभी टिक सकता है जब आप वर्तमान में उपस्थित नहीं रहते हैं।

अध्याय पांच

वर्तमान में विद्यमान रहने की अवस्था

जो आप समझ रहे हैं यह वह नहीं है

आप वर्तमान में उपस्थित रहने की, विद्यमान रहने की अवस्था का उल्लेख प्रमुख रूप से किया करते हैं। मुझे लगता है कि मैं इसे बौद्धिक रूप से तो समझ रहा हूं लेकिन मैं नहीं जानता कि मैंने इसे वास्तव में कभी अनुभव किया है या नहीं। मुझे संदेह है कि जो मैं समझ रहा हूं क्या यह वही है, या वह अवस्था एक अलग ही चीज़ होती है?

जो आप समझ रहे हैं यह वह नहीं है! वर्तमान में उपस्थित रहने के बारे में, विद्यमान रहने के बारे में आप न तो सोच सकते हैं और न ही मन उसे समझ सकता है। इस उपस्थिति को समझना उपस्थित *होना* होता है।

एक प्रयोग करके देखें। अपनी आंखे बंद कीजिए और स्वयं से कहिए, "पता नहीं मेरा अगला विचार क्या होगा।" फिर आप पूरी तरह सतर्क-सचेत हो जाइए और अगले विचार की प्रतीक्षा कीजिए-बिल्कुल उस बिल्ली की तरह जो कि चूहे के बिल को ताक रही हो। कौन सा विचार निकल कर आने वाला है? इसे अभी करके देखिए।

क्या हुआ?

कोई विचार आने से पहले मुझे बहुत देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ी।

बिल्कुल सही। जब तक आप वर्तमान में भरपूर उपस्थिति की अवस्था में रहते हैं, तब तक आप विचार मुक्त रहते हैं। ऐसी अवस्था में वैसे तो आप शांत रहते हैं लेकिन बहुत सजग-सचेत भी रहते हैं। जैसे ही आपका चैतन्य अवधान एक निश्चित स्तर से नीचे पहुंचता है,

त्यों ही विचार कूद कर आ जाता है, मानसिक शोर वापस आ जाता है; नीरवता, शांतता खो जाती हैं। यानी, आप समय में वापस आ जाते हैं।

कहा जाता है कि यह जांचने के लिए कि उनके शिष्य वर्तमान में कितने विद्यमान हैं, कुछ ज़ेन गुरू उनके पीछे चुपके से आते हैं और फिर अचानक ही उन पर छड़ी मार देते हैं। बिल्कुल एक झटका! अगर शिष्य पूरी तरह उपस्थित तथा विद्यमान रहता है और सजग-सचेत अवस्था में रहता है, जीसस के शब्दों में "अगर उसने अपनी कमर कसी हुई है और उसकी जोत प्रज्वलित है", तो उसे पीछे से गुरू के आने का भान हो जाता है, और वह उसे रोक देता है या एक तरफ़ हो जाता है। लेकिन, अगर उस पर छड़ी पड़ ही जाती है तो इसका अर्थ होता है कि वह ख़यालों में कहीं खोया हुआ था, यानी विद्यमान नहीं था, अनुपस्थित था, अचैतन्य था।

प्रतिदिन के जीवन में विद्यमान बने रहना, स्वयं के साथ गहराई से जुड़े रहने में सहायता करता है; अन्यथा, मन, जो कि बेहद चलायमान रहा करता है, अपने साथ आपको ऐसे बहा कर ले जाता है जैसे उफनती नदी ले जाती है।

'स्वयं के साथ गहराई से जुड़े रहने' से आपका क्या अभिप्राय है?

इसका मतलब है अपने शरीर में पूरी तरह से वास करना। अपने शरीर के आंतरिक ऊर्जा क्षेत्र में अपना थोड़ा बहुत अवधान हमेशा रखना। या कहें कि अपने शरीर को भीतर से महसूस करना। शरीर के प्रति सजगता आपको उपस्थित रखती है। वह अपना लंगर 'अब' में डाले रखती है।

"इंतज़ार करने" का गूढ़ अर्थ

एक तरह से, वर्तमान में उपस्थिति की, विद्यमानता की अवस्था की तुलना इंतज़ार करने से की जा सकती है। जीसस ने अपनी कुछ कथाओं में इंतज़ार की उपमा का प्रयोग किया है। यह इंतज़ार आमतौर पर होने वाला ऊबाऊ या बेचैनी किस्म का वह इंतज़ार नहीं है जो कि वर्तमान को नकारने वाला होता है और जिसकी चर्चा मैं पहले कर भी चुका हूं। यह वह इंतज़ार भी नहीं है जिसमें आपके अवधान का फ़ोकस भविष्य के किसी मुकाम पर केंद्रित रहा करता है और जिसमें वर्तमान को एक ऐसे अवांछनीय रोड़े की तरह देखा जाता है जो आपकी और आपकी वांछित चीज़ के बीच में अटका हुआ लगता है। बल्कि, यह कुछ भिन्न गुणों वाला एक अलग तरह का इंतज़ार होता है, वह इंतज़ार जिसमें आपकी पूरी सजगता की आवश्यकता होती है, जिसमें किसी भी पल कुछ भी घटित हो

सकता है, और अगर आप पूरी-पूरी तरह सजग-सचेत नहीं हैं, निश्चल नहीं हैं, तो आप चूक सकते हैं, उसे खो सकते हैं। यह वह इंतज़ार है जिसका जिक्र जीसस ने किया है। इस अवस्था में आपका सारा ध्यान, सारा अवधान, सारी तवज्जो 'अब' में रहती है। किसी दिवास्वप्न के लिए, किसी सोच-विचार के लिए, कुछ याद करने या कोई प्रत्याशा करने के लिए उसमें कुछ होता ही नहीं है। उसमें न कोई तनाव रहता है, न कोई भय रहता है, कुछ रहता है तो बस सजग, सचेत उपस्थिति, विद्यमानता। उसमें आप अपने संपूर्ण *बीइंग* के साथ, अपने शरीर के एक-एक कोशाणु के साथ उपस्थित रहते हैं। उस अवस्था में, वह "आप" जो अतीत व भविष्य को ढो रहा होता है, वह वहां रहता ही नहीं। लेकिन फिर भी महत्व की कोई चीज़ छूटती भी नहीं है। आप सार रूप में आप ही बने रहते हैं। वास्तविकता तो यह है कि पहले की अपेक्षा आप कहीं अधिक परिपूर्ण आप हो जाते हैं, दरअसल यह केवल 'अब' ही है जिसमें आप सचमुच आप रहते हैं।

"एक ऐसे सेवक जैसा बनो जो अपने स्वामी के वापस आने की प्रतीक्षा कर रहा हो"-जीसस ने कहा है। सेवक नहीं जानता कि स्वामी कितने बजे आयेगा। इसलिए वह जगा रहता है, सचेत व निश्चल रहता है, संभल कर रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि स्वामी का आना उसे पता ही न चले। एक अन्य दृष्टांत में, जीसस ऐसी पांच लापरवाह (अचैतन्य) महिलाओं का उल्लेख करते हैं जिनके पास अपने दीयों को जलाए रखने (उपस्थित रहने) के लिए पर्याप्त तेल (चैतन्यता) नहीं है, और इसलिए वे दूल्हे ('अब') को देखने से चूक जाती हैं, और विवाह भोज (आत्मज्ञान) से वंचित रह जाती हैं। ये पांचों उन पांच प्रबुद्ध महिलाओं के बिल्कुल विपरीत हैं जिनके पास काफ़ी तेल (चैतन्यता) है।

जिस व्यक्ति ने ये ईसोपदेश लिखे थे, वह भी इन नीति कथाओं के अर्थ को नहीं समझ पाया था, इसलिए इनके लिखे जाने के दौरान ही पहला ग़लत अर्थ और ग़लत वर्णन इनमें प्रवेश कर गया था। और, फिर बाद के दोषपूर्ण व्याख्याओं के चलते, इनके वास्तविक अर्थ पूरी तरह खो गए। ये दृष्टांत संसार के अंत के बारे में नहीं हैं बल्कि मनोवैज्ञानिक समय के अंत के बारे मैं हैं। ये नीति कथाएं अहंग्रस्त मन को श्रेष्ठता की ओर ले जाने तथा चैतन्यता की एक बिल्कुल ही नई अवस्था में जीने की संभावना की ओर इशारा करती हैं।

आपकी विद्यमानता की नीरवता व निश्चलता में ही प्रस्फुटित होता है सुन्दरम्

जो वर्णन आपने अभी-अभी किया है, इसे मैं कभी-कभी कुछ पलों के लिए तब महसूस किया करता हूं जब मैं प्रकृति की गोद में अकेला बैठा होता हूं।

जी हां। अंतर्दृष्टि के ऐसे सहसा प्रकाश के लिए ज़ेन गुरूजन *सटोरी* शब्द का प्रयोग करते हैं-एक ऐसा पल जिसमें मन तो अनुपस्थित रहता है लेकिन आप पूरी तरह उपस्थित रहते हैं। हालांकि *सटोरी* कोई स्थाई रूपांतरण नहीं होता, फिर भी जब भी ऐसा पल आए तब कृतज्ञ होइए, क्योंकि यह आपको आत्मज्ञता का, *एन्लाइटेन्मैंट* का स्वाद तो चखा ही देता है। हो सकता है कि आपको इसका अनुभव सचमुच अनेकों बार हुआ हो लेकिन आपको न तो यह पता था कि यह है क्या और न ही आपको इसका महत्व मालूम था। प्रकृति के सौंदर्य के प्रति, उसकी विशालता और पावनता के प्रति सजग होने के लिए वर्तमान में विद्यमान रहने की आवश्यकता होती है। क्या आपने कभी रात के साफ़ आकाश की अनंतता को नज़र भर कर ध्यान से देखा है, उसकी नितांत नीरवता, निश्चलता और अपरिमेय विशालता से क्या आप कभी चकित-विस्मित हुए हैं? क्या आपने जंगल में बहती किसी छोटी जलधारा की कल-कल ध्वनि को सुना है, सचमुच सुना है? या गर्मियों की किसी शांत शाम को कोयल की कूक को सुना है? इन सब चीज़ों के प्रति सजग होने के लिए मन का ठहरना, शांत होना, खामोश होना ज़रूरी है। अपनी समस्याओं के पुलिंदे को सिर से उतार कर कुछ देर के लिए नीचे रख देना होगा-अतीत के, भविष्य के और अपने सारे ज्ञान के पुलिंदे को भी-वरना आप देख कर भी देख नहीं पायेंगे और सुन कर भी सुन नहीं पायेंगे। आपका पूरी तरह उपस्थित होना, विद्यमान होना आवश्यक है।

बाहरी रूप व आकार के सौंदर्य के अलावा भी बहुत कुछ ऐसा है जिसे कोई नाम नहीं दिया जा सकता, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता और जो कि एक गहरा, आंतरिक और पवित्र मूल तत्व है। जब कभी भी और जहां कहीं भी सौंदर्य है, वहां यही मूल तत्व किसी न किसी माध्यम से जगमगा रहा होता है। यह आपके समक्ष प्रकट तभी होता है जब आप वर्तमान में उपस्थित हों, विद्यमान हों। क्या ऐसा नहीं लगता कि वह अनाम तत्व और आपकी विद्यमानता एक ही चीज़ हैं? क्या यह आपकी उपस्थिति, आपकी विद्यमानता के बिना भी कभी प्रकट हो सकता है? इसमें गहरे उतरिए। स्वयं खोज कीजिए।

जब आप विद्यमानता के पलों का अनुभव करते हैं, तब शायद आपको यह भान भी नहीं होता होगा कि आप मनरहित अवस्था में हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि इस अवस्था और विचार प्रवाह के बीच अंतराल बहुत कम रहता है। आपकी *सटोरी* अवस्था को आए कुछ पल ही होते हैं कि मन वापस आ कूदता है, लेकिन *सटोरी* वहां थी अवश्य वरना तो आप उस सौंदर्य को अनुभूत ही नहीं कर पाते। मन सौंदर्य को न तो पहचान सकता है और न ही रच सकता है। केवल उन कुछ पलों के लिए, जब कि आप पूरी तरह उपस्थित थे, विद्यमान थे, तब वह सौंदर्य, वह पवित्रता भी आ उपस्थित हुई थी। उस अंतराल के

संकीर्ण होने के कारण और आपमें सतर्कता व जागरूकता का अभाव होने के कारण, आप उस प्रत्यक्ष बोध के, सौंदर्य के प्रति विचाररहित उस सजगता के, और विचार द्वारा उसे नाम देने व अर्थ निकालने के बीच के बुनियादी अंतर को शायद देख ही नहीं पाए थे। समय का अंतराल इतना कम था कि यह सब बस एक ही प्रक्रिया लगी होगी। यह सत्य है कि इसमें ज्यों ही विचार का प्रवेश हुआ तो आपके पास उस सब की केवल स्मृति ही शेष रह गई।

प्रत्यक्ष बोध और विचार के बीच समय का अंतराल जितना अधिक होगा, मानव के रूप में उतनी ही गहराई आपको उपलब्ध होगी, यानी आप उतने ही अधिक चैतन्य होंगे।

बहुत से लोग अपने मन के कारागार में इस क़दर क़ैद रहते हैं कि प्राकृतिक सौंदर्य का तो उनके लिए जैसे कोई वजूद ही नहीं है। भले ही वे कह सकते हों, "वाह, कितना सुंदर फूल है", लेकिन वह केवल एक कंप्यूटर की तरह बोलना होता है, क्योंकि न तो वे नीरव तथा निश्चल रहते हैं, न ही उपस्थित रहते हैं, वे तो फूल को सचमुच देखते भी नहीं हैं, न वे उसकी सुगंध को महसूस करते हैं और न ही उसकी पावनता को – बिल्कुल वैसे ही जैसे वे स्वयं को नहीं जानते हैं, न उन्हें अपने मूलतत्व का पता है, न अपनी पवित्रता का।

चूंकि हम मन के प्रभुत्व वाली संस्कृति में रह रहे हैं, इसलिए कुछ अपवादों को छोड़ कर, अधिकांश चित्रकला, वास्तु, संगीत और साहित्य सौंदर्यविहीन हो गया है, निस्सार हो गया है। इसका कारण यह है कि जो लोग उनकी रचना कर रहे हैं वे एक पल के लिए भी खुद को अपने मन से अलग नहीं कर पाते हैं। इसलिए वे लोग कभी भी अपने भीतर उस स्थान के स्पर्श में व संपर्क में नहीं आ पाते हैं जहां से सच्चा सृजन और सौंदर्य उदित होता है। मन को अगर छुट्टा छोड़ दिया जाए तो वह विकटरूपता की, भंयकरता की ही रचना करता है – केवल आर्ट-गैलरियों में ही नहीं बल्कि सर्वत्र। ज़रा शहरों का नज़ारा देखिए, औद्योगिक बंजर जमीन को देखिए। किसी भी सभ्यता ने कभी भी इतना गंदापन, इतना भद्दापन, इतना घिनौनापन पैदा नहीं किया।

विशुद्ध चेतना को पहचानना

क्या उपस्थिति और बीइंग, एक ही बात है?

जब आप *बीइंग* के प्रति चैतन्य हो जाते हैं, तब वास्तव में होता यह है कि *बीइंग* भी अपने प्रति चैतन्य हो जाता है। और, जब *बीइंग* अपने प्रति चैतन्य हो जाता है – तो वह हो जाती है उपस्थिति, विद्यमानता। चूंकि *बीइंग*, चैतन्यता, और जीवन पर्यायवाची ही हैं, इसलिए

हम कह सकते हैं कि उपस्थिति का अर्थ है चेतना का अपने ही प्रति चैतन्य हो जाना, या जीवन को आत्म-चेतना प्राप्त हो जाना। लेकिन, इन शब्दों में उलझ कर मत रह जाइए और न ही इसे समझने की कोशिश ही कीजिए। इसमें ऐसा कुछ नहीं है जिसे कि उपस्थित रह सकने से पहले आपको समझने की आवश्यकता हो।

आपने जो अभी-अभी कहा है उसे मैं समझता हूं, लेकिन लगता है कि इसमें यह भी संकेत है कि बीइंग वह परम अनुभवातीत यथार्थ अभी भी पूर्ण नहीं हुआ है, कि वह अभी भी विकसित होने की प्रक्रिया में है। क्या ईश्वर को भी निज विकास के लिए समय की आवश्यकता पड़ती है?

हां, लेकिन अगर केवल अभिव्यक्त ब्रह्मांड के सीमित परिप्रेक्ष्य से देखा जाए, तो। बाइबिल में ईश्वर घोषणा करता है, "मैं ही आदि हूं और मैं ही अंत हूं, और मैं ही समस्त जीवन हूं।" जिस कालनिरपेक्ष साम्राज्य में ईश्वर निवास करता है, जो कि *आपका* भी घर है, उसमें आदि और अंत एक ही हैं, और वह उस समस्त पदार्थों का सत्त हैं जो अभी तक हुए हैं और आगे भी होंगे, वही एकत्व और पूर्णत्व की एक अव्यक्त अवस्था में शाश्वत रूप से उपस्थित हैं – मानव मन की समझ और कल्पना से पूरी तरह परे। लेकिन, अलग-अलग रूपों में व्यक्त होने वाले इस संसार में कालनिरपेक्ष संपूर्णता तो एक असंभव और अकल्पनीय अवधारणा ही मानी जायेगी। यहां तो चैतन्यता, जो कि शाश्वत स्रोत से प्रसर्जित प्रकाश ही है, उसे भी विकास प्रक्रिया के अंतर्गत मान लिया जाता है, लेकिन ऐसा हमारे सीमित बोध के कारण होता है। परम अर्थ में ऐसा नहीं है। फिर भी, इस संसार में चेतना के विकास के बारे में मैं थोड़ा विस्तार से आपको बताने जा रहा हूं।

जिस किसी भी चीज़ का अस्तित्व है, उसमें *बीइंग* है, ईश-सत्त है, कुछ मात्रा में चेतना है। एक पत्थर में भी अल्प विकसित चेतना विद्यमान रहती है, अन्यथा तो वह होता ही नहीं, और उसके अणु-परमाणु छिन्न-भिन्न हो जाते। सब कछ सजीव है। सूर्य, पृथ्वी, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, मनुष्य – सब में चेतना भिन्न-भिन्न मात्रा में व्यक्त हो रही है, वह चेतना ही रूप-आकार में प्रकट हो रही है।

चेतना जब रूप-आकार में, विचार के रूप में, भौतिक रूप में प्रकट होती है तब संसार की सृष्टि होती है। केवल इस पृथ्वी पर ही जीवन के लाखों रूपों को देखिए। जल में, थल पर, नभ में – और फिर जीवन के हर रूप की लाखों प्रतिकृतियां बनती रहती हैं। किस प्रयोजन से? क्या रूपों और आकारों के साथ कोई खेल खेल रहा है? यही वह प्रश्न है जिसे पूरब के जिज्ञासु पूछा करते थे। उन्होंने इस संसार को लीला की संज्ञा दी, यानी एक प्रकार का दिव्य खेल जो ईश्वर खेल रहा है। ज़ाहिर है कि प्रत्येक जीव रूप इस खेल में कोई बहुत महत्व नहीं रखता। समुद्र में, अधिकतर जीव रूप जन्म के बाद लंबे समय

तक जीवित नहीं रह पाते। मानव रूप भी बहुत जल्दी ही मिट्टी में मिल जाता है, और जब जाता है तो ऐसे चला जाता है जैसे कि वह कभी था ही नहीं। क्या यह दुखद है, क्रूर है? ऐसा आपको तभी लगेगा जब आप हर रूप को एक अलग पहचान दे देंगे, अगर आप यह भूल जायेंगे कि जीव की चेतना तो ईश्वर-सत्त ही है जो कि रूप में व्यक्त हुई है। लेकिन ऐसा आप तब तक नहीं *जान सकते* जब तक कि आपको यह बोध नहीं हो जाता कि आपका अपना ईश्वर-सत्त विशुद्ध चेतना ही है।

आपके एक्वेरियम में अगर किसी मछली का जन्म हो और आप उसका नाम जॉन रख दें, उसका जन्म प्रमाणपत्र बना दें, उसे उसकी वंशावली बता दें, लेकिन दो मिनट बाद ही कोई दूसरी मछली उसे खा जाए, तो यह दुखद लगता है। लेकिन यह दुखद इसलिए लगता है क्योंकि आपने उसे एक अलग आत्मा होने की धारणा बना ली थी, जब कि वह तो एक ही थी। आपने एक गतिशील प्रक्रिया के एक छोटे से अंश को, एक आणविक कदम को थाम लिया था, और उसमें से एक अलग अस्तित्व बना डाला था।

चेतना नाना रूप धारण करती रहती है और ऐसा वह तब तक करती रहती है जब तक कि वे रूप इतने उलझ नहीं जाते कि वह पूरी तरह उन्हीं में निमग्न रहने लगे। आज के मनुष्यों में, चेतना ने खुद को अपने रूपों के साथ पूरी तरह तादात्म्य कर लिया है। वह खुद को केवल एक रूप के रूप में जानता है और इसीलिए यह अपने शारीरिक अथवा मनोवैज्ञानिक रूप के विनष्ट हो जाने के भय में रहा करता है। यही अहंग्रस्त मन है, और इसी में सारे विकार तथा विकृति हुआ करती हैं। अब तो ऐसा लगता है जैसे इसके विकास पथ पर इसके साथ कहीं कुछ बहुत बड़ी गड़बड़ी हो गई है। लेकिन, यह भी तो लीला का ही एक भाग है। इसी गड़बड़ी द्वारा रचे गए दुखों का दबाव, अंततः, चेतना को रूपों की तादात्म्यता से बाहर निकलने के लिए और उनके स्वप्न-संसार से जागने के लिए मजबूर कर देता है। तब उसमें आत्म-चेतना का पुनः संचार होता है, लेकिन तब वह उस स्तर से काफ़ी गहराई में होती है जहां वह तब थी जब इसने खुद को खो दिया था।

इस प्रक्रिया को जीसस ने उस खोए हुए बेटे के दृष्टांत के रूप में सुनाया है जो कि अपने पिता का घर छोड़ देता है, फिर अपना सारा पैसा उड़ा देता है, कंगाल हो जाता है और अंततः परेशान होकर घर लौटने को मजबूर हो जाता है। जब वह घर लौटता है तो उसका पिता उसे पहले से भी *ज़्यादा प्रेम* करने लगता है। बेटे की अवस्था हालांकि वैसी ही है जैसी कि पहले थी, लेकिन फिर भी वैसी नहीं रही थी। उसमें गहराई का एक और आयाम जुड़ गया था। यह दृष्टांत अचैतन्य पूर्णता से प्रकटतः अपूर्णता में से होते हुए की गई एक यात्रा का और "बुराई" से चैतन्य पूर्णता की ओर की जाने वाली यात्रा का वर्णन करता है।

अपने मन के द्रष्टा व अवलोकनकर्ता बने रहते हुए वर्तमान में उपस्थित रहने का गहन तथा व्यापक महत्व क्या अब आप देख पा रहे हैं? जब भी आप अपने मन का

अवलोकन करते हैं, तब आप मन वाले अपने रूप में से चैतन्यता को वापस ग्रहण कर लेते हैं, और फिर वही चैतन्यता मन की द्रष्टा या साक्षी बन जाती है। परिणामस्वरूप, यह द्रष्टा – यानी रूप-आकार से परे विशुद्ध आपकी चेतना – अधिक सबल होती जाती है और मन की रूप गढ़ने वाली क्षमता दुर्बल होती जाती हैं। जब हम मन का अवलोकन करने की बात करते हैं, तब हम एक ऐसी घटना का वैयक्तिकरण कर रहे होते हैं जो सृष्टि से जुड़ी है और सचमुच महत्वपूर्ण है: आपके माध्यम से, चेतना रूप-आकार के साथ वाली तादात्म्यता की अपनी स्वप्नावस्था से जाग कर उस रूप-आकार से आ बाहर रही होती है। यह घटना फ़िलहाल एक ऐसी घटना का एक अंश होते हुए उसके आने का पूर्वाभास दे रही होती है जो कि, कलैंडर वाले समय के लिहाज़ से, अभी कहीं सुदूर भविष्य में संभावित है। उस घटना को कहते हैं – प्रलय, संसार का अंत।

चेतना जब शारीरिक और मानसिक रूपों व छवियों के साथ कर ली गई अपनी तादात्म्यता से खुद को मुक्त कर लेती है, तब वह विशुद्ध चेतना बन जाती है जिसे हम *एन्लाइटेन्ड* चेतना या उपस्थिति या विद्यमानता कहते हैं। कुछ लोगों में ऐसा घटित हो चुका है, और ऐसा लगता है कि एक बड़ी संख्या में लोगों के साथ देर-सबेर ऐसा होना नियत है, हालांकि इस बात की कोई गारंटी नहीं है कि ऐसा *होगा ही*। अधिकांश लोग अभी भी चेतना के अहंग्रस्तरूप की गिरफ़्त में हैं, यानी वे मन के साथ खुद को तादात्म्य किए हुए हैं और वे मन द्वारा ही संचालित किए जा रहे हैं। अगर जल्दी ही उन्होंने खुद को अपने मन से मुक्त नहीं किया तो इस मन के द्वारा ही एक दिन वे तबाह कर दिए जायेंगे। खुद को वे बढ़ते हुए भ्रम, भ्रांति, द्वंद्व, टकराव, हिंसा, रुग्णता, निराशा, हताशा और पागलपन के भंवरों में फंसा हुआ पायेंगे। अहंग्रस्त मन एक डूबते जहाज जैसा हो गया है- अगर आप इसमें से बाहर नहीं निकलेंगे तो इसके साथ आपका डूबना तय है। सामूहिक अहंग्रस्त मन आज इस धरती पर बसने वाली सबसे अधिक ख़तरनाक रूप से पगलाई हुई और बरबाद करने वाली हस्ती बन गया है। ज़रा सोचिए कि अगर इस धरती पर रहने वाली मानवी चेतना में कोई बदलाव नहीं आया तो क्या होगा!

पहले से ही, अधिकांश लोगों के लिए, अपने मन से राहत पाने का केवल एक ही तरीका रहा है कि कभी-कभी वे चेतना के विचाररहित स्तर पर लौट आएं। हर कोई यह हर रात को सोते हुए यही तो करता है। लेकिन यही काम किसी हद तक सैक्स, शराब, और कुछ ड्रग्स के जरिए भी किया जाता है जो कि मन की हरकतों की अधिकता को दबाने का काम करती हैं। अगर शराब, *ट्रैंक्विलाइज़र्स, एंटीडिप्रैसैंट्स*, और साथ ही अवैध ड्रग्स न होते – जिनकी कि बड़ी भारी मात्रा में खपत है – तो आदमी के मन का पागलपन और भी ज़्यादा भड़कता हुआ दिखाई देता। मेरा तो यही मानना है कि ड्रग्स लेने वालों की

एक बड़ी संख्या को अगर उनकी ड्रग्स से वंचित कर दिया जाए तो वे खुद के लिए और दूसरों के लिए भी एक ख़तरा बन सकते हैं। ये ड्रग्स, दरअसल, लोगों को उनके ही गड़बड़झाले में पड़ा रहने देती हैं। ड्रग्स का विश्वव्यापी उपयोग मन के पुराने ढर्रे को तोड़ने और उच्चतर चैतन्यता में उभरने में केवल विलंब कर रहा है। हालांकि, ड्रग्स के वैयक्तिक उपयोगकर्ता अपने मन द्वारा खुद पर प्रतिदिन किए जाने वाले जुल्म से कुछ राहत तो हासिल कर लेते हैं, लेकिन पर्याप्त चैतन्य उपस्थिति की संभावना से वंचित रह जाने के कारण वे विचारों से ऊपर नहीं उठ पाते हैं और इसलिए उन्हें सही अर्थ में मुक्ति नहीं मिल पाती है।

मन से नीचे चेतना के स्तर पर वापस आ जाना-यानी हमारे प्राचीन पूर्वजों का जो स्तर विचार वाले स्तर पर आने से पहले रहा था, और जो पशुओं और पेड़-पौधों का अभी भी है, उस स्तर पर आ जाना-यह हमारे लिए कोई विकल्प नहीं है बल्कि विवशता है, आवश्यकता है, क्योंकि इसके अलावा हमारे पास कोई और चारा ही नहीं है। मानव जाति को अगर बचे रहना है तो उसे अगली अवस्था में आना ही होगा। चेतना समूचे ब्रह्मांड में करोड़ों रूप-आकारों में विकास पथ पर आगे जा रही है। इसलिए अगर हमने ऐसा नहीं भी किया तो भी ब्रह्मांड के पैमाने पर इससे कोई फ़र्क़ पड़ने वाला नहीं है। चेतना में की गई वृद्धि कभी बेकार नहीं जाती, इसलिए वह किसी और रूप में प्रकट हो जाती है। लेकिन जो तथ्य मैं यहां कह रहा हूं और आप सुन रहे हैं या पढ़ रहे हैं वह स्पष्ट संकेत है कि नई चेतना ने इस पृथ्वी पर पैर रखने की जगह बना ली *है*।

यह कोई व्यक्तिगत मामला नहीं है: मैं आपको कुछ सिखा-पढ़ा नहीं रहा हूं। आप चेतना हैं, और आप खुद को सुन रहे हैं। पूरब में एक कहावत है: "शिक्षक और शिक्षार्थी साथ मिल कर शिक्षा का निर्माण करते हैं।" फिर भी, शब्द अपने आप में कोई महत्व नहीं रखते। वे स्वयं सत्य नहीं होते, बल्कि वे तो केवल सत्य की ओर संकेत करते हैं। मैं उपस्थिति में से बोलता हूं, और जब मैं बोलूं तब आप उसी अवस्था में, यानी उपस्थिति की अवस्था में, होकर मेरे साथ आ सकते हैं। हालांकि हर शब्द जो मैं बोलता हूं उसका एक इतिहास है, सचमुच, और वह अतीत से आया हुआ है-जैसे कि सभी भाषाएं हैं; लेकिन जो शब्द मैं आपसे बोलता हूं, वे उपस्थिति की प्रबल ऊर्जा वाली तरंग के वाहक होते हैं, भले ही वे शब्द रूप में कुछ भी अर्थ रखते हों।

उपस्थिति का, विद्यमानता का एक और भी अधिक सक्षम वाहक है-मौन। इसलिए जब आप इसे पढ़ रहे हों या मुझे बोलते हुए सुन रहे हों, तब शब्दों के बीच और शब्दों के नीच-नीचे रहने वाले मौन पर ध्यान दीजिए। बीच में पड़ने वाले अंतरालों पर सजग रहिए। आप चाहे कहीं भी हों, इस मौन को सुनना उपस्थित रहने का एक सरल और सीधा तरीका है। भले ही वहां शोर हो, लेकिन आवाजों के बीच-बीच में और उनके नीच-नीचे हमेशा ही एक खामोशी हुआ करती है। उस खामोशी को सुनना आपके अंदर तुरंत एक

नीरवता, एक निश्चलता पैदा कर देता है। आपके भीतर की नीरवता ही बाहर की नीरवता को देख सकती है। और, उपस्थिति के अलावा, विद्यमानता के अलावा मौन व नीरवता भला और क्या होती है, विचार के जंजाल से मुक्त चेतना के अलावा उपस्थिति भला और क्या होती है? यही है वह उल्लास से संपन्न सभ्यता जिसके बारे में हम बात कर रहे हैं।

क्राइस्ट: आपकी दिव्य विद्यमानता की वास्तविकता

किसी एक शब्द के प्रति आसक्त मत हो जाइए। अगर आपको अधिक सार्थक लगे तो आप "क्राइस्ट" के बजाय उपस्थिति, विद्यमानता शब्द का भी प्रयोग कर सकते हैं। क्राइस्ट आपका ईश-सत्त-*गॉड एसेंस* -है, ईश-सत्ता को पूरब में कभी-कभी स्व भी कहा भी जाता है। क्राइस्ट और उपस्थिति में अंतर केवल इतना है कि क्राइस्ट का मतलब है आपके भीतर वास करने वाली दिव्यता, भले ही आप उसके प्रति सजग रहते हों या नहीं, जब कि उपस्थिति का, विद्यमानता का अर्थ है आपकी जाग्रत दिव्यता या ईश-सत्त-*गॉड एसेंस*।

क्राइस्ट के बारे में बहुत सारी ग़लत फ़हमियां और भ्रामक धारणाएं साफ़ हो जायेंगी जब आप यह बात समझ जायेंगे कि क्राइस्ट में न कुछ अतीत था और न ही कुछ भविष्य। यह कहना कि क्राइस्ट *थे* या *होंगे,* यह एक विरोधाभासी बात होगी। जीसस थे। वे एक व्यक्ति थे जो दो हज़ार साल पहले रहे थे और उन्होंने दिव्य विद्यमानता का बोध किया था। और, इसीलिए उन्होंने कहा था, "अब्राहम से पहले भी, मैं था।" उन्होंने यह नहीं कहा, "अब्राहम ने जब जन्म लिया तब मैं पहले से ही था।" इसका अर्थ तो यह होता कि वे समय की परिधि में और रूपाकार वाली पहचान की सीमा में ही थे। किसी ऐसे वाक्य में, जो कि भूतकाल से शुरू किया गया हो, उसमें प्रयुक्त किए गए शब्द *मैं हूं* एक मूलभूत परिवर्तन की ओर, काल के आयाम से मुक्त होने की ओर संकेत करते हैं। विशाल गहनता वाला एक ज़ेन जैसा वक्तव्य है यह। जीसस ने उपस्थिति के, विद्यमानता के, आत्मज्ञान के अर्थ को तर्कमूलक विचार के माध्यम से न समझा कर उसे सीधे-सीधे बताने का प्रयास किया। वे काल द्वारा नियंत्रित, यानी भूत या भविष्य द्वारा नियंत्रित, चेतना के आयाम से परे कालनिरपेक्ष के साम्राज्य में चले गए थे। शाश्वतता का आयाम इस संसार में आ गया था। दरअसल, शाश्वतता का अर्थ अनंत समय का होना नहीं है बल्कि समय का न होना है। व्यक्ति जीसस इस तरह क्राइस्ट बने थे-विशुद्ध चेतना के संवाहक। और, बाइबिल में ईश्वर ने खुद को क्या परिभाषित किया है? क्या ईश्वर ने यह कहा है, "मैं हमेशा था और हमेशा रहूंगा?" नहीं, बिल्कुल नहीं। इससे तो भूत और भविष्य को वास्तविकता प्रदान

कर दी जाती। ईश्वर ने कहा, "मैं हूं क्योंकि मैं हूं/मैं जो हूं वो हूं।" कोई काल नहीं है यहां, केवल विद्यमानता है, उपस्थिति है।

क्राइस्ट का "दोबारा आना" मानवी चेतना का रूपांतरण होना है। यह काल से विद्यमानता में, उपस्थिति में आना है, विचार से विशुद्ध चेतना में आना है, न कि किसी मनुष्य का आगमन होना है। अगर "क्राइस्ट" कल को किसी रूप में पुनः वापस आ जाएं तो वे आपसे इसके अलावा और क्या कह सकते हैं, "मैं सत्य हूं। मैं दिव्य विद्यमानता हूं। मैं शाश्वत जीवन हूं। मैं आपके भीतर हूं। मैं यहां हूं। मैं 'अब' हूं।

क्राइस्ट का कभी व्यक्तिकरण मत कीजिए। क्राइस्ट को किसी रूप की पहचान मत दीजिए। अवतार, दिव्य माताएं, आत्मज्ञान प्राप्त गुरू, इने-गिने वे जो कि वास्तविक हैं, ये सभी व्यक्ति के रूप में कुछ भी विशेष नहीं हैं। किसी मिथ्या अहं को न थामते हुए, उसका बचाव न करते हुए, उसे खुराक न देते हुए, ये लोग आम लोगों से कहीं अधिक सरल, अधिक सादे और अधिक साधारण हुआ करते हैं। प्रचंड अहं वाला कोई भी व्यक्ति इन्हें कोई महत्व नहीं देता है और प्रायः इन्हें अनदेखा ही कर दिया करता है।

अगर आप किसी *एन्लाइटेन्ड* शिक्षक की ओर आकर्षित हुए हैं तो इसलिए क्योंकि स्वयं आपमें उसकी इतनी विद्यमानता है कि आप किसी दूसरे में आप उसे पहचान लेते हैं। ऐसे बहुत से लोग थे जो जीसस या बुद्ध को पहचान ही नहीं पाए, क्योंकि ऐसे लोगों की कमी नहीं है, और न कभी रही है, जो कि बनावटी और पाखंडी गुरुओं की तरफ़ ही आकर्षित हुआ करते हैं। अहंग्रस्त लोग हमेशा किसी बड़े अहग्रस्तं की ओर आकर्षित हुआ करते हैं। अंधकार कभी प्रकाश को नहीं पहचान सकता। केवल प्रकाश ही प्रकाश को पहचान सकता है। इसलिए ऐसा मत मान लीजिए कि प्रकाश आपके बाहर कहीं है, या यह कि वह किसी ख़ास रूप में ही आ सकता है। अगर केवल आपका गुरू ही ईश्वर का अवतरण है तो फिर आप क्या है? किसी भी प्रकार की एकनिष्ठता तो किसी एक रूप के साथ तादात्म्य हो जाना है, और किसी रूप के साथ तादात्म्यता का अर्थ है अहं, भले ही वह कैसा भी छद्मवेश क्यों न धारण कर ले।

गुरू की विद्यमानता को किसी नाम व रूप से परे अपनी ही पहचान के प्रतिबिंब को देखने के लिए और अधिक सघन रूप से स्वयं विद्यमान रहने के लिए प्रयुक्त कीजिए। जल्दी ही आप पायेंगे कि विद्यमानता में कुछ भी "मेरा"-"तेरा" नहीं है। विद्यमानता, उपस्थिति बस एक है।

वर्तमान में आपकी विद्यमानता के, उपस्थिति के प्रकाश को अधिक प्रदीप्त करने के लिए यह काम एक समूह में करना काफ़ी मददगार हो सकता है। उपस्थिति की अवस्था में रहने वाले लोगों का एक साथ मिल-बैठना एक अत्यधिक सघन सामूहिक ऊर्जा क्षेत्र को

पैदा करता है। यह न केवल उस समूह के हर सदस्य की उपस्थिति के, विद्यमानता के, परिमाण को बढ़ा देता है, बल्कि सामूहिक मानवी चेतना को उसकी प्रबल मन वाली अवस्था से मुक्त कराने में भी सहायता करता है। इससे विद्यमानता की अवस्था अधिकाधिक व्यक्तियों को सुलभ होने लगती है। लेकिन, जब तक कि समूह का कम से कम एक सदस्य पहले से ही और स्थिर रूप से विद्यमानता में स्थापित न हो चुका हो और इसिलए उस अवस्था की ऊर्जा तरंग को थाम न सकता हो, तब तक यह ख़तरा बना रहता है कि वहां मौजूद कोई अहंग्रस्त मन आसानी से खुद को हावी कर सकता है और समूह के सारे प्रयास पर पानी फेर सकता है। हालांकि, यह सामूहिक प्रयास बहुत महत्व रखता है, लेकिन मात्र यही पर्याप्त नहीं है, न तो इस पर निर्भर हो जाने के लिए आपको इसमें जाना चाहिए और न ही आपको किसी शिक्षक या गुरू पर निर्भर होने के लिए इसमें जाना चाहिए-सिवाय उस बीच वाली अवधि के कि जब आप विद्यमानता के, उपस्थिति के, अर्थ को समझ रहे हों और उसका अभ्यास कर रहे हों।

अध्याय छः

आंतरिक शरीर

आपका अंतरतम स्व ही *बीइंग* है

एक दिन आपने अपने भीतर गहरे पैठने या अपने शरीर में स्थित रहने के बारे में कहा था। क्या आप बता सकते हैं कि इसका अर्थ क्या है?

यह शरीर ही *बीइंग* के साम्राज्य में पहुंचने का प्रवेश द्वार बन सकता है। आइए इसे थोड़ा और गहराई से समझें।

मैं अभी भी पूरी तरह नहीं समझ पाया हूं कि बीइंग से आपका अभिप्राय क्या है।

"पानी? वह क्या होता है? मैं उसे नहीं जानती।" अगर मछली का दिमाग़ मानव जैसा होता तो वह यही कहती।

अच्छा होगा अगर आप *बीइंग* को समझने की कोशिश करना बंद कर दें। आपको पहले ही *बीइंग* की काफ़ी झलक मिल चुकी है, लेकिन मन तो हमेशा ही इसे ठूंस-ठांस कर एक छोटे से डिब्बे में भर देने और फिर उस पर एक नाम का ठप्पा लगा देने की फ़िराक में रहा करता है। लेकिन ऐसा किया नहीं जा सकता। *बीइंग* ज्ञान का, जानकारी का विषय नहीं हो सकता। क्योंकि, *बीइंग* में कर्ता और कर्म दोनों एक दूसरे में विलीन हो जाते हैं।

बीइंग को नाम और रूप के पार सदा-विद्यमान *मैं हूं* की तरह अनुभूत किया जा सकता है। अनुभूत करना और उस अनुभूति से यह जानना कि आप हैं और फिर उसी गहरी पैठ की अवस्था में वास करना, यही आत्मज्ञ होना है, *एंलाइटेन्मैंट* है, यही वह सत्य है जिसे जीसस ने कहा है कि वह सत्य तुम्हें मुक्त कर देगा।

मुक्त किस से?

इस *भ्रम* से कि आप अपने भौतिक शरीर और अपने मन के अलावा कुछ नहीं हैं। बुद्ध ने इसे "आत्म-विभ्रम" कहा है, और इसे ही असली भूल बताया है। इस विभ्रम के परिणामस्वरूप पैदा होने वाले तरह-तरह के भय से मुक्त होइए -यह वह भय है जो तब तक आपका लगातार उत्पीड़न करता रहता है जब तक कि आप खुद के अस्तित्व के भाव को केवल इस अस्थाई और आसानी से आहत हो जाने वाली छवि के साथ जोड़े रखते हैं। और, *पाप* से मुक्त होइए, यानी उस दुख से बाहर निकलिए जो आप अनजाने ही खुद पर और दूसरों पर तब तक थोपते रहते हैं जब तक कि आपका अहं का यह भ्रांत-भाव उन सब बातों की बागडोर अपने हाथ में लिए रखता है जो आप सोचते हैं, कहते हैं और करते हैं।

शब्दों के पार देखिए

यह पाप शब्द मुझे बिल्कुल अच्छा नहीं लगता है। इसमें यह भाव रहता है कि मुझे आंका जा रहा है और दोषी ठहराया जा रहा है।

मैं यह समझ सकता हूं। सदियों से, अज्ञान, ग़लतफ़हमी और नियंत्रण करने की इच्छा के कारण, बहुत से भ्रामक दृष्टिकोणों और व्याख्याओं की परतें कुछ शब्दों पर चढ़ती चली गई हैं, जैसे *पाप शब्द*; लेकिन उन शब्दों में सच का पुट तो शामिल रहता ही है। अगर आप उन व्याख्याओं के पार जाकर उस शब्द को देख पाने में असमर्थ रहते हैं और इसीलिए उस सच को नहीं पहचान पाते हैं जिसकी ओर कि वह शब्द संकेत कर रहा होता है, तो आप उस शब्द का प्रयोग मत कीजिए। शब्दों के सतही स्तर पर ही अटके मत रहिए। कोई भी शब्द किसी अर्थ तक पहुंचने का एक साधन मात्र होता है, और कुछ नहीं। उसका वह एक सारांश रूप मात्र है। किसी मार्ग-सूचक स्तंभ की तरह ही, यह खुद से परे किसी जगह की ओर संकेत मात्र कर रहा होता है। *शहद* शब्द शहद नहीं होता। शहद के बारे में आप जितना चाहें अध्ययन कर लें, बातचीत कर लें लेकिन उसे तब तक सचमुच नहीं *जान* सकेंगे जब तक कि आप उसे चख नहीं लेते, और जब आप उसे चख लेते हैं तब वह शब्द आपके लिए उतने महत्व का नहीं रह जाता। तब आप उस शब्द के साथ ही चिपके रहना पसंद नहीं करेंगे। इसी प्रकार, *ईश्वर* शब्द पर आप लगातार और जीवन भर सोच-विचार कर सकते हैं, बातचीत कर सकते हैं, लेकिन क्या इसका अर्थ यह है कि जिस वास्तविकता की ओर यह शब्द संकेत कर रहा है उसे आप जान गए हैं या उसकी

झलक आपको मिल गई है? किसी शब्द से चिपके रहना उस मार्ग-सूचक स्तंभ के साथ या एक मानसिक छवि के साथ एक जुनूनी जुड़ाव हो जाने जैसा है।

इसका उलट भी उतना ही सही है: किसी भी कारण से, अगर आप *शहद* शब्द को नापसंद करते हैं तो संभव है कि इस कारण आप उसे कभी चखना ही न चाहें। यदि आपको *ईश्वर* शब्द के प्रति प्रबल अरुचि है, जो कि आसक्ति का नकारात्मक रूप ही है, तब आप केवल उस शब्द को ही नहीं नकार रहे होते हैं, बल्कि उस वास्तविकता को भी नकार रहे होते हैं जिसकी ओर यह शब्द संकेत करता है। तब आप उस वास्तविकता को अनुभूत करने की संभावना पर ही कुठाराघात कर रहे होते हैं। और, वास्तव में, इस सब का गहरा संबंध अपने मन के साथ आपका तादात्म्य रहना ही है।

इसलिए, अगर कोई शब्द आपके लिए काम नहीं कर रहा है तो उसे छोड़ दीजिए और उसकी जगह वह शब्द रख लीजिए जो आपके लिए काम करता हो। अगर आपको *पाप* शब्द पसंद नहीं है तो आप उसकी जगह अचैन्यता या पागलपन रख सकते हैं। वह आपको सत्य के निकट ले जायेगा, उस शब्द के पीछे स्थित वास्तविकता के निकट ले जायेगा, अपेक्षाकृत उस शब्द के जिसका कि दीर्घ काल से दुरुयोग होता आ रहा है, जैसे *पाप*। फिर आपको अपराध-भाव होने की संभावना भी नहीं रह जायेगी।

मुझे ये शब्द भी पसंद नहीं हैं। ये जताते हैं कि मुझमें कुछ ग़लत है, कि मुझे आंका जा रहा है।

वाक़ई, आपमें कुछ ग़लत है-लेकिन आपको आंका नहीं जा रहा है।

आपको व्यक्तिगत रूप से आहत करने का मेरा कोई इरादा नहीं है, लेकिन क्या आप उसी मानव जाति के नहीं हैं जिसने कि बीसवीं शती में अपने ही करोड़ों बिरादरों की हत्या कर डाली थी?

आपका मतलब है सामुदायिकता से जुड़ा अपराध-भाव?

सवाल अपराध-भाव का सवाल नहीं हैं, लेकिन जब तक आप अपने अहंग्रस्त मन के वशीभूत हैं तब तक आप इस सामूहिक पागलपन का एक हिस्सा ही तो हैं। शायद आपने अहंग्रस्त मन के वशीभूत हुई इस मानव अवस्था को ध्यान से और गहराई तक नहीं देखा है। अपनी आंखें खोलिए और उस भय को, उस हताशा-निराशा को, उस लोभ-लालच को, और उस हिंसा को देखिए जो चारों तरफ़ व्याप्त है। उस अकल्पनीय जघन्य क्रूरता और कष्ट को देखिए जो एक दूसरे पर और धरती के अन्य जीव-जंतुओं पर मनुष्य ढाते आए हैं और ढा रहे हैं। आपको इसकी निंदा-आलोचना करने की आवश्यकता नहीं है। केवल अवलोकन कीजिए। यह है पाप। यह है पागलपन। यह है अचैतन्यता। साथ ही,

अपने मन का अवलोकन करना भी मत भूलिए। इस पागलपन की जड़ें वहां भी होंगी, उन्हें तलाशिए।

अपनी अदृश्य और अविनाशी वास्तविकता की तलाश

आपने कहा है कि अपने भौतिक स्वरूप के साथ तादात्म्य करना भ्रम व भ्रांति का हिस्सा है, तो कैसे यह शरीर, यह भौतिक स्वरूप आपको बीइंग का बोध करा सकता है?

जिस शरीर को आप देख सकते हैं, छू सकते हैं, वह आपको *बीइंग* में नहीं ले जा सकता। देखा और स्पर्श किया जा सकने वाला यह शरीर तो केवल एक बाहरी आवरण है, या कहें कि यह तो एक गहरी वास्तविकता का वह रूप है जिसे एक सीमित और विकृत अर्थ में देखा जा रहा है। *बीइंग* के साथ जुड़ाव की अपनी सहज अवस्था में, इस गहरी वास्तविकता को, यानी आपके भीतर विराजमान जीवंत चिर उपस्थिति को, एक अदृश्य आंतरिक देह के रूप में हर पल महसूस किया जा सकता है। इसलिए, "शरीर में वास करना" शरीर को भीतर से महसूस करना होता है, ऐसा करना शरीर के भीतर प्राण को महसूस करना है, और इस तरह यह जानना भी है कि आप केवल यह आवरण मात्र नहीं हैं बल्कि इस से पार और परे हैं।

लेकिन यह तो उस यात्रा की शुरुआत भर है जो कि आपको नीरवता, निश्चलता और शांतता के साम्राज्य में इतनी गहराई तक ले जायेगी जहां तक कि आप अभी तक गए ही नहीं थे, लेकिन ये नीरवता, निश्चलता और शांतता अत्यधिक शक्ति और स्पंदित जीवन से ओतप्रोत होंगी। आरंभ में, आपको इसकी केवल कुछ क्षणभंगुर झलक ही मिलेंगी, लेकिन उन्हीं के जरिए आपको यह बोध होता जायेगा कि इस विचित्र संसार में-जो कि जन्म और मृत्यु के बीच दोलायमान रहता है, और जो थोड़े ही समय रहने वाले सुखों और उनके पीछे-पीछे चले आने वाले दुखों वाला है और अंततः विनष्ट होने वाला है-ऐसे संसार में आप एक बेकार और बेमतलब का केवल एक पुर्ज़ा मात्र नहीं हैं। अपने बाहरी आवरण के तले आप किसी ऐसी चीज़ से जुड़े हुए हैं जो कि इतनी विशाल, इतनी अपरिमेय, और पवित्र है कि उसे समझना, अभिव्यक्त करना या बताना संभव नहीं है, हालांकि इस समय मैं बता भी रहा हूं। मैं इसे इसलिए नहीं बता रहा हूं कि मैं आपको बताऊं और आप विश्वास कर लें, बल्कि इसलिए कि आप इसे स्वयं जान सकें।

जब तक आपका मन आपका समूचा अवधान हड़पता रहेगा, तब तक आप *बीइंग* से कटे ही रहेंगे। जब तक ऐसा होता है-और अधिकांश लोगों के साथ ऐसा लगातार ही होता रहता है-तब तक आप अपने शरीर में नहीं होते हैं। मन आपकी सारी चैतन्यता को

सोखता रहता है और उसे बदल कर वह अपना माल बना लेता है। आदतन सोचते रहना एक सामूहिक बीमारी बन चुकी है। इसलिए, मन की हलचल से ही आपको यह पता चल पाता है कि आप कौन हैं। तब, आपकी पहचान, आपका अस्तित्व चूंकि *बीइंग* से संबद्ध नहीं रहता है, इसलिए वह हमेशा ही खुद को ख़तरे में महसूस करने लगता है और हमेशा ही 'कुछ न कुछ चाहिए' वाली मानसिकता में रहने लगता है, जो कि एक प्रबल भावना के रूप में भय पैदा करती रहती है। एक चीज़ जो कि सचमुच महत्वपूर्ण है वह तब आपके जीवन से लुप्त हो जाती है, और वह है आपके गहन स्व का बोध-आपकी अदृश्य और अविनाशी वास्तविकता।

अपनी *बीइंग* के प्रति चैतन्य रहने के लिए आपको अपने मन से अपनी चैतन्यता को वापस लेने की आवश्यकता है। आध्यात्मिक यात्रा आरंभ करने के लिए सबसे बुनियादी कामों में से एक काम यही है। यह चैतन्यता की उस विपुल मात्रा को स्वतंत्र कर देगा जो कि अभी तक मजबूरन सोचने की लत में उलझी रहा करती है। इसे करने का एक अत्यंत प्रभावी तरीका तो यह है कि अपने अवधान के फ़ोकस को सोचने से हटा कर अपने शरीर में केंद्रित किया जाए जहां कि पहली ही बार में *बीइंग* को महसूस किया जा सकता है- एक ऐसी अदृश्य ऊर्जा के रूप में जो कि उसे जीवन प्रदान करती है जिसे आप भौतिक शरीर के रूप में देखते व मानते हैं।

अपने आंतरिक शरीर के साथ जुड़ना

कृपया इसे अभी ही करके देखें। इस अभ्यास के करने में आंखों को बंद करना मदद करेगा। बाद में, जब "शरीर में होना" आपके लिए सहज और सरल हो जाए तो फिर आंखें बंद करने की आवश्यकता नहीं रह जायेगी। अपना पूरा ध्यान, पूरा अवधान अपने शरीर में ले जाइए। अपने शरीर को अंदर से महसूस कीजिए। क्या वह जीवंत है? क्या आपके हाथों में, बाहों में, पैरों में, आपके पेट में, वक्ष में जीवंतता है? क्या आप उस सूक्ष्म ऊर्जा क्षेत्र को महसूस कर रहे हैं जो कि आपके सारे शरीर में व्याप्त है, और उसके हर अंग को, हर कोशाणु को स्पंदित जीवन देता है। क्या आप इसे समूचे शरीर के हर अंग में एक साथ और एक ही ऊर्जा क्षेत्र की तरह महसूस कर सकते हैं? कुछ समय तक अपने आंतरिक शरीर को महसूस करने पर अपना फ़ोकस बनाए रखिए। इसके बारे में सोचना शुरू मत कर दीजिए। आप जितना अधिक फ़ोकस रखेंगे, यह अनुभूति उतनी ही सबल और स्पष्ट होती जायेगी। ऐसा लगेगा जैसे हर कोशाणु अधिक सजीव होता जा रहा है, और अगर आपकी कल्पना शक्ति तेज़ है तो आपको ऐसा भी लग सकता है जैसे आपका शरीर प्रदीप्त हो रहा है। हालांकि ऐसे आभास आपको अस्थाई रूप से ही मदद कर सकते

हैं, इसलिए किसी भी ऐसी उभरती छवि पर ध्यान देने के बजाय उस पर अधिक ध्यान दीजिए जो आपको महसूस हो रहा है। कोई छवि कितनी भी सुंदर व सबल क्यों न हो, वह एक रूप-आकार में ढल चुकी है, इसलिए अधिक गहरे उतरने की संभावना वहां बहुत कम रह जाती है।

अपने को महसूस करना आकाररहित, समयरहित और थाहरहित होता है। उसमें आप हमेशा ही गहरे, और गहरे जा सकते हैं। अगर आप अभी इस अवस्था में बहुत कुछ महसूस नहीं कर पा रहे हैं तो उसी पर अपना पूरा ध्यान व अवधान दीजिए जो कि आप महसूस *कर सकते हैं*। हो सकता है कि आपके पैर में या हाथ में हल्की सी झनझनाहट महसूस हो रही हो। इस समय के लिए यही काफ़ी है। उस एहसास पर फ़ोकस कीजिए। आपका शरीर जीवंत हो रहा है। बाद में हम इसका और अभ्यास करेंगे। अब अपनी आंखें खोल लीजिए, लेकिन कमरे में इधर-उधर देखते हुए भी, थोड़े-बहुत अवधान को शरीर की आंतरिक ऊर्जा पर केंद्रित रखे रहिए। आपका आपकी रूप-आकार वाली पहचान और सार-तत्व वाली पहचान के, यानी आपके सच्चे स्वरूप के बीच के सीमा द्वार पर ही रहा करता है। इसके साथ अपने संपर्क को कभी मत तोड़िए।

अपना रूपांतरण कीजिए अपने शरीर के माध्यम से

ऐसा क्यों है कि अधिकांश धर्मों ने शरीर को नकारा है, निंदित किया है, इसे अमान्य किया है? ऐसा लगता है कि आध्यात्मिक जिज्ञासुओं और निरूपकों ने शरीर को एक बाधा माना है, बल्कि इसे पाप का घड़ा भी कहा है।

इतने कम जिज्ञासु ही बोधी क्यों बन पाए?

शरीर के स्तर पर, मनुष्य पशुओं के बहुत निकट हैं। अनिवार्य शारीरिक कार्यकलापों में हममें और पशुओं में बिल्कुल समानता है, जैसे सुख व पीड़ा महसूस करना, सांस लेना, खाना, पीना, मलोत्सर्ग करना, सोना, सहवासी तलाशना और प्रजनन करना, और जनमना और मरना भी। परमात्मा से विलग होकर जीवात्मा के रूप में इस मायालोक में आने के एक लंबे अरसे के बाद, मनुष्यों को अचानक यह पता चला कि वे तो एक पशु जैसे शरीर में हैं और इस बात से वे बहुत परेशान हो उठे। "खुद को मूर्ख बत बनाओ। तुम किसी जानवर से ज़्यादा कुछ और नहीं हो।" यही वह सच था जो उनके सामने खड़ा हो

गया था। लेकिन किसी सत्य को स्वीकार करना बड़ा कठिन होता है। आदम और हौवा ने खुद को नग्न पाया, तो वे घबरा गए। अचेतन रूप से, अपने पशु जैसे शरीर को अस्वीकृत करने, उसे अमान्य करने की प्रवृत्ति उनमें तेज़ी से घर कर गई। यह ख़तरा कि सहज वृत्ति जैसे आवेग उन पर हावी हो सकते हैं और वे उन्हें पूरी तरह अचैतन्यता की अवस्था में वापस ले जा सकते हैं-सचमुच यह एक बड़ा और वास्तविक ख़तरा था। तब शरीर के कुछ अंग और कुछ शारीरिक कार्यकलाप लज्जा और वर्जना के घेरे में आ गए, विशेष रूप से यौनाचार। उनकी चेतना का प्रकाश अभी भी उतना प्रबल नहीं था कि वे अपनी पशु प्रवृत्ति के प्रति मित्रवत हो जाते, वह जैसी भी है उसे *वैसी ही रहने* देते, और अपने उस आयाम का आनंद भी लेते-यानी, अकेले ही उसमें गहरे उतरते-उसमें छिपी दिव्यता को पाने के लिए, उस माया के भीतर वास्तविकता का पता लगाने के लिए। अतः, उन्होंने वही किया जो वे कर सकते थे-उन्होंने अपने शरीर से अपना नाता तोड़ना शुरू कर दिया। उन्होंने यह मानना शुरू कर दिया कि यह उनका शरीर है, न कि यह कि वे स्वयं यह शरीर हैं।

जब धर्म पैदा हुए, तब यह 'शरीर से नाता तोड़ना' और भी अधिक प्रबल होने लगा, जैसे "तुम यह शरीर नहीं हो" वाला सिद्धांत। युगों-युगों से, पूरब और पश्चिम में असंख्य लोग शरीर को नकारते हुए, उसे अमान्य करते हुए ही ईश्वर, मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण और *एन्लाइटेनमैंट* को पाने का प्रयास करते आ रहे हैं। धीरे-धीरे, इस सोच ने इंद्रिय सुखों को नकारने व निंदित करने का रूप ले लिया-विशेषकर यौन सुख को; और फिर उपवास तथा वैराग्य का रूप ले लिया। शरीर को दुर्बल करने और दंड देने की कोशिश में वे लोग उसे पीड़ा भी पहुचांने लगे क्योंकि वे इसे पाप का घड़ा मानते थे। ईसाई धर्म में इसे शरीर का तप कहा जाता था। दूसरे धर्मों ने समाधि अवस्था में जाकर शरीर से पलायन करने या शरीर से बाहर निकलने के अनुभव करने की कोशिश की। बहुत से लोग अभी भी ऐसा कर रहे हैं। बुद्ध के बारे में भी कहा जाता है कि उन्होंने छः वर्षों तक उपवास और तपस्या के द्वारा शरीर को नकारने का अभ्यास किया था, लेकिन उन्हें आत्मज्ञान, *एंलाइटेनमैंट* तब तक प्राप्त नहीं हुआ जब तक कि उन्होंने वह अभ्यास छोड़ नहीं दिया।

तथ्य यह है कि शरीर को नकार कर, या उससे संघर्ष करके, या शरीर से बाहर निकलने का अनुभव करने से, कभी किसी को आत्मज्ञान-*एंलाइटेनमैंट* -नहीं हुआ। हालांकि ऐसे अनुभव आकर्षक और मंत्रमुग्ध कर देने वाले हो सकते हैं, और आपको इस भौतिक रूप से मुक्त होने का एक आभास दे सकते हैं, लेकिन अंततः आपको इस शरीर में ही वापस लौट आना होगा जिसमें कि रूपांतरण का आधारभूत कार्य होना होता हैं। रूपांतरण शरीर के *माध्यम* से होता है, शरीर से दूर जा कर नहीं। यही कारण है कि किसी सच्चे गुरू ने शरीर से संघर्ष करने या उससे विमुख होने का समर्थन कभी नहीं किया, उनके बाद उनके मनोविहारी चेलों ने भले ही किया हो।

शरीर के बारे में, पुरातन शिक्षाओं में से कुछ ही अंश अब तक शेष हैं, जैसे जीसस का यह वक्तव्य कि "तुम्हारा सारा शरीर प्रकाश से प्रदीप्त हो उठेगा", या वे अंश कुछ मिथकों के रूप में शेष हैं जैसे कि यह विश्वास कि जीसस ने अपना शरीर त्याग नहीं किया था बल्कि उसके साथ एकाकार रहे, और वे सशरीर स्वर्ग सिधारे थे। आज कोई नहीं जानता कि इन छोटी-छोटी बातों में या इन मिथकों में क्या अर्थ छिपा हुआ है, लेकिन यह विश्वास कि "आप अपना शरीर नहीं हैं" सारे संसार में फैल गया है और लोगों को शरीर को नकारने और इससे पलायन करने की ओर ले गया है। इसके चलते, असंख्य जिज्ञासु और मुमुक्षु लोग आध्यात्मिक ज्ञानप्राप्ति से वंचित रहते आते आए हैं।

शरीर का महत्व बताने वाली उन लुप्त बातों को क्या वापस लाना संभव है, या कि उनके शेष टुकड़ों में से उनकी पुनः रचना करना क्या संभव है?

इसकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। सारी आध्यात्मिक शिक्षाओं का 'परम स्रोत ' एक ही है। इस अर्थ में, गुरू केवल एक ही रहा है जो कि नाना रूपों में प्रकट होता रहा है। मैं भी वही गुरू हूं, और आप भी वही हैं-जब आप अपने अंतरतम में विद्यमान उस 'परम स्रोत ' तक पहुंच जाने योग्य हो जायेंगे। किंतु, उस तक पहुंचने का मार्ग इस आंतरिक शरीर से होकर ही जाता है। भले ही सारी आध्यात्मिक शिक्षाओं का उद्भव एक ही 'परम स्रोत ' से हुआ हो, लेकिन उन्हें जब शब्द दे दिए जाते हैं, या उन्हें लिख दिया जाता है, तब ज़ाहिर है कि वे शब्दों का समूह बन कर रह जाती हैं-और, जैसा कि हम चर्चा कर चुके हैं, कोई शब्द किसी मार्ग-संकेतक से अधिक कुछ नहीं होता। ये सारी शिक्षाएं ऐसे ही मार्ग-संकेतक हैं जो कि वापस उसी 'परम स्रोत ' की ओर ही संकेत करती हैं।

मैं उस सत्य के बारे में चर्चा कर चुका हूं जो आपके शरीर में छिपा हुआ है, लेकिन आपके लिए मैं उन गुरुओं की लुप्त शिक्षाओं का सार-संक्षेप प्रस्तुत करने जा रहा हूं-तो लीजिए एक और मार्ग संकेतक प्रस्तुत है। जब आप इसे पढ़ें या सुनें तो कृपया अपने आंतरिक शरीर को महसूस करने की कोशिश करें।

शरीर पर प्रवचन

जिसे आप एक घनीभूत भौतिक संरचना के रूप में देख रहे हैं और जिसे आप अपना शरीर बता रहे है, जो कि रोग, वृद्धावस्था और मृत्यु के अधीन रहा करता है, वह अंततः अवास्तविकता ही है-आप यह नहीं है। यह तो आपकी उस सारभूत वास्तविकता की मिथ्या धारणा है जो कि जन्म और मृत्यु से परे है। आपके मन की सीमाबद्धताओं के

कारण, और *बीइंग* से संपर्क टूट जाने के कारण, इस धारणा ने शरीर के अलग होने को और इसके डरों को सही ठहराने के लिए इस भ्रामक विश्वास को प्रमाण बना लिया है। लेकिन अपने इस शरीर से विमुख मत होइए क्योंकि इस अस्थायित्व के, सीमितता के और मृत्यु के प्रतीक इस शरीर के अंदर ही, जिसे कि आप अपने मन की मरीचिका मान रहे हैं, इसी में आपकी तत्वभूत, अमर, अनश्वर वास्तविकता छिपी हुई है। सत्य की तलाश में अपना अवधान कहीं और मत ले जाइए, क्योंकि अपने शरीर के भीतर के अलावा उसे कहीं और पाया ही नहीं जा सकता।

अपने शरीर के विरुद्ध जंग मत छेड़ दीजिए, क्योंकि ऐसा करते समय आप अपनी ही वास्तविकता से लड़ रहे होते हैं। आप अपना शरीर *ही हैं*। जिस शरीर को आप देख सकते हैं, स्पर्श कर सकते हैं, वह तो केवल एक पतला आभासी परदा है। लेकिन, इसके नीचे स्थित है वह अदृश्य जो कि *बीइंग* में, अव्यक्त व अप्रकट जीवन में जाने का प्रवेश द्वार है। इसी आंतरिक शरीर के माध्यम से ही तो आप उस अव्यक्त व अप्रकट 'परम जीवन' से अपृथक्य रूप से जुड़े हुए है जो न जन्म लेता है, न मरता है, और शाश्वत रूप से विद्यमान रहता है। इसी आंतरिक शरीर के माध्यम से आप ईश्वर के साथ रहा करते हैं, सदा-सर्वदा।

आपकी जड़ें आपके अंतरतम में गहरे तक रहें

सबसे महत्वपूर्ण यह है कि उस अवस्था में रहा जाए जिसमें कि आप अपने आंतरिक शरीर के साथ स्थाई रूप से जुड़े रहें-उसे हर समय महसूस करते रहें। यह आपके जीवन को तीव्रता से गहनता देगा, उसे रूपांतरित करेगा। अपनी चैतन्यता को आप जितना अधिक अपने इस आंतरिक शरीर की ओर ले जायेंगे, उसकी जीवंतता की मात्रा उतनी ही अधिक बढ़ती जायेगी-बिल्कुल वैसे ही जैसे डिमर-स्विच को आगे घुमाने से विद्युत प्रवाह बढ़ जाता है और उससे प्रकाश तेज़ होता जाता है। ऊर्जा और ओजस्विता के इस उच्च स्तर पर, नकारात्मकता आपको प्रभावित नहीं कर पाती है, और आप ऐसी नई परिस्थितियों को आकर्षित करने लगते हैं जो कि इस उच्चतर अवस्था को अभिव्यक्त करती हैं।

जितना अधिक हो सके उतना अधिक, अगर आप अपने शरीर में अपना ध्यान-अवधान केंद्रित रखते हैं तो आप *अब* में स्थिर रहते हैं। तब आप खुद को बाहरी संसार में खोयेंगे नहीं, और न ही अपने मन की भूलभुलैया में भटकेंगे। विचार और भावनाएं, भय और इच्छाएं-किसी हद तक ये तब भी रहेंगी, लेकिन वे आप पर हावी नहीं रहेंगी।

ज़रा देखिए कि इस पल आपका ध्यान-अवधान कहां है। या तो आप मुझे सुन रहे हैं या इस किताब के शब्दों को पढ़ रहे हैं। यह तो है आपके ध्यान का फ़ोकस। लेकिन बाहरी तौर पर आप अपने चारों ओर के वातावरण से, लोगों इत्यादि से भी अवगत हैं। इसके अलावा, मुझे सुनते हुए या पढ़ते हुए, इसके बारे में आपके अंदर कोई मानसिक गतिविधि भी हो रही होगी, एक मानसिक टीका-टिप्पणी भी चल रही होगी। लेकिन फिर भी, इनमें से किसी को भी आपके *समूचे* अवधान को सोख लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। देखिए कि क्या आपका ध्यान-अवधान इस समय भी आपके आंतरिक शरीर पर रह सकता है। अपने ध्यान-अवधान का कुछ अंश अपने भीतर भी रखिए। सारे का सारा बाहर मत बह जाने दीजिए। अपने पूरे शरीर को भीतर से महसूस कीजिए, जैसे कि यह एक ही ऊर्जा-पुंज है। यह कुछ ऐसा ही है जैसे कि आप अपने पूरे शरीर से सुन या पढ़ रहे हों। आने वाले दिनों और सप्ताहों में इसे अपना अभ्यास बनाइए।

अपने मन को या बाहरी संसार को अपना सारा ध्यान-अवधान मत दे दीजिए। निश्चय ही, जो कुछ आप कर रहे हैं उस पर फ़ोकस कीजिए, लेकिन साथ ही और जब-जब भी संभव हो, अपने आंतरिक शरीर को भी महसूस करते रहिए। अपनी जड़ें अपने अंदर जमाए रखिए। और, तब देखिए कि इससे आपकी चैतन्यता की अवस्था में और जो कुछ आप कर रहे हैं उसकी गुणवत्ता में कैसा परिवर्तन आ जाता है।

जब भी आप कहीं प्रतीक्षारत हों, चाहे कहीं भी हों, तो वह समय अपने आंतरिक शरीर को महसूस करने में व्यतीत कीजिए। इस तरह से ट्रैफ़िक जैम में फंसे होना या किसी कतार में खड़े होना भी आनंदप्रद हो जाता है। खुद को 'अब' में से बाहर निकाल कर और उसे मानसिक रूप से कहीं दूर भटकाने के बजाय, अपने ही शरीर में गहरे उतरने के जरिए 'अब' में और गहरे उतरिए।

आंतरिक शरीर के प्रति सजग रहने की यह कला आपमें जीवन जीने के एक बिल्कुल ही नए ही अंदाज़ में विकसित होती जायेगी, और *बीइंग* के साथ जुड़े रहने की अवस्था में बदलती जायेगी। यह आपके जीवन को एक ऐसी गहराई प्रदान करती जायेगी जिसे आपने पहले कभी अनुभव नहीं किया होगा।

जब आप अपने शरीर के भीतर अवस्थित रहते हैं तब अपने मन को एक द्रष्टा के रूप में साक्षी बने रहना आसान हो जाता है। बाहर चाहे कुछ भी हो रहा हो, वह आपको फिर विचलित नहीं कर पाता है।

जब तक आप वर्तमान में विद्यमान नहीं रहते-और अपने शरीर में वास करना इस विद्यमानता का हमेशा ही एक आवश्यक अंग होता है-तब तक आप अपने मन के द्वारा दौड़ाए जाते रहेंगे। अपने सिर में मौजूद वह *स्क्रिप्ट* जो आपने बहुत पहले रट ली थी, यानी आपके मन की *कंडीशनिंग*, वही आपकी सोच और व्यवहार पर हुकूमत चलाया करती है। उसके नियंत्रण से कभी आप थोड़े-थोड़े समय के लिए भले ही थोड़ा मुक्त हो

जाते हों, लेकिन एक लंबे अरसे के लिए शायद ही कभी उससे मुक्त हो पाते हों। यह बात तब ख़ास तौर से लागू होती है जब कोई 'बात बिगड़ गई हो' या कोई हानि, क्षति हो गई हो या कुछ उलटा-पुलटा हो गया हो। तब आपकी *कंडीशंड* प्रतिक्रिया स्वत: होती है, खुद-ब-खुद होती है, प्रत्याशित होती है, और उस आधारभूत भावना द्वारा हांकी जा रही होती है जो कि चेतना की मन के साथ एकाकार वाली अवस्था में रह रही होती है, यानी भय की भावना।

इसलिए, यह अपना स्वभाव बना लीजिए कि अक्सर आने वाली ये चुनौतियां जब भी आपके सामने आएं, तब आप तुरंत अपने अंदर उतर जाएं और अपने शरीर के इस आंतरिक ऊर्जा क्षेत्र पर अपना यथासंभव अधिकतम फ़ोकस करें। इसमें कोई बहुत देर नहीं लगेगी, बल्कि कुछ पल ही लगेंगे, लेकिन यह अभ्यास आपको उसी पल करना होगा जिस पल वह चुनौती आपके सामने आ खड़ी हुई हो। इसमें थोड़ी सी भी देरी से आपकी *कंडीशंड* मानसिक-भावनात्मक प्रतिक्रिया बीच में आ कूदेगी और आप पर हावी हो जायेगी। जब आप अपने भीतर फ़ोकस करते हैं और अपने आंतरिक शरीर को महसूस करते हैं, तब आप एकदम स्थिर, शांत और *प्रेज़ैंट* हो जाते हैं क्योंकि तब आप अपनी चेतना को मन से अलग कर लेते हैं। उस अवस्था में कोई अनुक्रिया करना यदि आवश्यक होती भी है तो वह अनुक्रिया इसी गहन स्तर से उठ कर आती है। जैसे किसी दीपक की लौ की अपेक्षा सूर्य अपरिमित रूप से अधिक उज्ज्वल होता है, ठीक उसी तरह आपके मन की अपेक्षा *बीइंग* में अपरिमित रूप से अधिक प्रज्ञा होती है।

जब तक आप सचेतन रूप से अपने आंतरिक शरीर के संपर्क में रहते हैं, तब तक आप एक वृक्ष के समान रहते हैं जिसकी जड़ें धरती में गहराई तक समाई रहती हैं, या उस गगन चुंबी भवन की तरह हो जाते हैं जिसकी नींव गहरी और ठोस होती है। दूसरी वाली उपमा का उल्लेख जीसस ने अपने उस नीति कथा में किया है जिसका अर्थ आमतौर पर ग़लत लगाया गया है। इस कथा में दो व्यक्ति हैं जो अपना-अपना मकान बनाते हैं। एक तो उसे रेत पर बनाता है, बिना नींव के, और जब आंधी और बाढ़ आती हैं तो वह मकान गिर जाता है और बह जाता है। दूसरा व्यक्ति ज़मीन में तब तक गहरा खोदता है जब तक कि नीचे ठोस चट्टान नहीं आ जाती, तब वह वहां नींव डालकर मकान बनाता है जिसका बाढ़ भी कुछ नहीं बिगाड़ पाती है।

पहले क्षमा कीजिए, फिर मंदिर में प्रवेश कीजिए

जब मैंने अपना अवधान आंतरिक शरीर पर लगाने की कोशिश की तो मुझे बड़ी बेचैनी सी महसूस हुई। एक व्याकुलता का अनुभव हुआ और कुछ वमन जैसा मन हुआ। इसलिए

मैं वह सब अनुभूति नहीं कर पाया जिनका आप ज़िक्र कर रहे हैं।

जो कुछ आपको महसूस हुआ वह एक ऐसा विलंबकारी भाव था जिससे शायद आप परिचित नहीं थे, और उससे आपका परिचय तब तक नहीं होता है जब तक कि आप आपने शरीर को अपना कुछ अवधान देने की शुरुआत नहीं कर देते हैं। जब तक आप कुछ अवधान नहीं देते हैं तब तक वह भाव तक आपको पहुंचने देने से रोकेगा, जो उसके ही नीचे गहराई में अवस्थित है। अवधान का अर्थ यह नहीं है कि आप उसके बारे में *सोचने लगें*। इसका अर्थ है भावना का भरपूर अवलोकन करना, उसे पूरी तरह महसूस करना, और इस तरह उसे पहचानना, और उसे स्वीकार करना-यथावत स्वीकार करना। कुछ भावनाएं तो आसानी से पहचानने में आ जाती हैं, जैसे क्रोध, भय, दुख इत्यादि। अन्य भावनाओं को पहचानना ज़रा मुश्किल होता है। वे एक अस्पष्ट और धुंधला सा एहसास मात्र हो सकती हैं-बेचैनी का, भारीपन का, खिंचाव का, किसी भावुकता व शारीरिक सनसनाहट की एक बीच की स्थिति का। जो भी हो, महत्वपूर्ण यह नहीं है कि आप उसे कोई नाम दे सकते हैं या नहीं, बल्कि महत्वपूर्ण यह है कि क्या उस एहसास को, उस महसूसने को आप यथासंभव अधिक से अधिक अपनी सजगता में ला सकते हैं या नहीं। अवधान ही रूपांतरण की कुंजी है-और अवधान में स्वीकारना भी शामिल रहता है। अवधान प्रकाश का एक किरणपुंज होता है-यह आपकी चैतन्यता की फ़ोकस की गई वह शक्ति होता है जो कि हर चीज़ को तत्वांतरित करके स्वयं में आत्मसात कर लेता है।

एक पूरी तरह सक्रिय शरीर में कोई भावना कुछ ही समय के लिए टिक पाती है। वह आपके *बीइंग* की सतह पर उठने वाली एक क्षणिक हिलोर जैसी होती है। लेकिन, अगर आप अपने शरीर के अंदर नहीं रह रहे हैं तब कोई भी भावना आपके अंदर कई-कई दिनों और हफ़्तों तक टिकी रह सकती है, या अपनी ही जैसी अन्य भावनाओं के साथ घुलमिल सकती है और फिर मिलजुल कर संचित-दुख का रूप धारण कर सकती है-बिल्कुल किसी परजीवी की तरह जो कि आपके भीतर वर्षों तक रह सकता है, जो कि आपकी ऊर्जा पर ही पलता है, आपके शरीर को रोगों का घर बना देता है, और आपके जीवन को घोर यातनामय बना देता है। (संचित-दुख के बारे में अध्याय 2 में सविस्तार बताया गया है।)

इसलिए, अपने अवधान को इस भावना को महसूस करने पर रखिए, और यह देखिए कि क्या आपका मन किसी व्यथा कथा का, किसी शिकायत का राग अलापने में लगा हुआ है, जैसे किसी पर दोषारोपण करना, खुद पर तरस खाना, या कुढ़न, खीज, नाराज़गी, अप्रसन्नता का भाव रखना जो कि इस भावना को खुराक दे रहा हो। यदि ऐसा है तो इसका अर्थ यह हुआ कि आपने क्षमा नहीं किया है। अक्सर, क्षमा न करने का भाव कभी किसी व्यक्ति के प्रति रहा करता है तो कभी खुद के प्रति, लेकिन यह किसी घटना

या किसी स्थिति के प्रति भी रह सकता है-भूत, वर्तमान या भविष्य-जिसे कि आपके मन ने स्वीकार करने से इंकार कर दिय हो। जी हां, भविष्य के प्रति भी 'स्वीकार न करने' की आपकी मनस्थिति का होना संभव है, जैसे मन द्वारा अनिश्चितता को स्वीकार करने से इंकार कर देना, यह बात स्वीकार करने से इंकार कर देना कि भविष्य तो मन के नियंत्रण से बाहर ही है। क्षमा करना होता है अपनी शिकायत को छोड़ देना, उसे त्याग देना और उस व्यथा के बारे में सोचते व बातें करते रहना बंद कर देना। यह स्थिति तब स्वतः हो जाती है जब आपको यह बोध हो जाता है कि शिकायत करने का स्वभाव अहं के मिथ्या भाव को बलवान करने के अलावा कुछ नहीं करता। क्षमा करना जीवन के प्रति कोई प्रतिरोध न रखना है-जीवन को आपके माध्यम से होने देना, चलने देना है। क्षमा न करने का परिणाम होता है पीड़ा, कष्ट और दुख, जीवन ऊर्जा का सीमित-संकुचित प्रवाह, और कई मामलों में शारीरिक रुग्णता।

ज्यों ही आप पूरी तरह क्षमा कर देते हैं, त्यों ही आपके मन की बागडोर आपके हाथों में वापस आ जाती है। क्षमा न करना मन का स्वाभाविक स्वभाव है, बिल्कुल वैसा ही स्वभाव जैसे कि वह अपनी ही एक मिथ्या छवि रच लिया करता है, अहं को रच लिया करता है और उसे पालता है, लड़ाई-झगड़े और द्वंद्व-टकराव के बिना वह जी नहीं सकता है। मन कभी क्षमा नहीं कर सकता, क्षमा केवल आप कर सकते हैं। क्योंकि, आप ही वर्तमान में विद्यमान होते है, आप ही अपने शरीर में प्रवेश करते हैं, आप ही *बीइंग* में से निकलने वाली जीवंत शांति, नीरवता और निश्चलता को अनुभूत कर सकते हैं। इसीलिए जीसस ने कहा था, "मंदिर में प्रवेश करने से पहले, क्षमादान कीजिए।"

अव्यक्त के साथ आपका संबंध

विद्यमानता और भीतरी शरीर के बीच क्या संबंध है?

वर्तमान में विद्यमानता या उपस्थिति विशुद्ध चेतना है-वह चेतना जो कि मन में से वापस आ गई है, नाम व रूप वाले संसार में से वापस आ गई है। आपका आंतरिक शरीर ही अव्यक्त के साथ आपकी कड़ी है, बल्कि यही अपने गहनतम पहलू में अव्यक्त ही है: यह वह परम स्रोत है जिसमें से चेतना उसी तरह प्रकट होती है जैसे कि सूर्य में से प्रकाश प्रकट होता है। आंतरिक शरीर के प्रति सजगता वह चैतन्यता है जो अपने उद्भव को याद कर रही हो और परम स्रोत की ओर वापस लौट रही हो।

क्या अव्यक्त ही बीइंग है?

हां, यह *अव्यक्त* शब्द नकारात्मकता द्वारा उसी को बताने का प्रयास कर रहा है जिसे बताया नहीं जा सकता, सोचा नहीं जा सकता और जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस तरह बताते हुए कि वह क्या नहीं है, यह उस ओर संकेत करता है जो वह है। जब कि, *बीइंग* एक सकारात्मक शब्द है। लेकिन देखिए कि इन दोनों ही शब्दों में से किसी के भी प्रति अनुरक्त मत हो जाइयेगा या उनमें विश्वास करना आरंभ मत कर दीजियेगा। वे केवल मार्गसंकेतक हैं, इसके अलावा कुछ नहीं।

आपने कहा है कि विद्यमानता दरअसल चेतना है जो कि मन में से वापस आ गई है। यह वापसी कर कौन रहा है?

आप। लेकिन चूंकि अपने सारभूत रूप में आप ही चेतना हैं, इसलिए हम यह भी कह सकते हैं कि नाम व रूप वाले सपने में से चेतना का जागना है यह। इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारा अपना रूप व आकार प्रकाश के एक विस्फ़ोट के साथ समाप्त हो जायेगा। आप अपने वर्तमान स्वरूप में रहना जारी रख सकते हैं, लेकिन साथ-साथ अपनी गहराई में उस निराकार और अमर के प्रति सजग भी रह सकते हैं।

मुझे यह स्वीकार करना होगा कि यह मार्ग, यह तरीका मेरी समझ से बाहर है, लेकिन मेरे अंदर कहीं गहरे में लग रहा है कि जो आप बता रहे हैं उसका मुझे भान है। यह एक एहसास से अधिक कुछ है। क्या मैं खुद को छल रहा हूं?

नहीं, ऐसा नहीं है। एहसास आपको इस सत्य के निकट ले जायेगा कि अपनी सोच से भी अधिक आप कौन हैं। मैं आपको ऐसा कुछ भी नहीं बता सकता जो कि आपके भीतर गहरे में पहले से ही नहीं है। अपने भीतर से तार जोड़ते हुए जब आप एक विशेष अवस्था तक पहुंच जाते हैं, तब आप उस सत्य का साक्षात्कार कर पाते हैं जिसे कि आप सुन रहे होते हैं। अगर अभी तक आप उस अवस्था तक नहीं पहुंचे हैं तो अपने शरीर के प्रति सजगता का अभ्यास आपको आवश्यक गहराई तक अवश्य ले जायेगा।

आयु की प्रक्रिया के प्रभाव को मंद करना

इसके अलावा भी, आंतरिक शरीर के प्रति सजगता के कुछ और शारीरिक लाभ हैं। उनमें से एक है इस भौतिक शरीर पर बढ़ती आयु के प्रभाव का कम होना, मंद होना।

हालांकि यह बाह्य शरीर आमतौर पर तेज़ी से बूढ़ा होता दीखने लगता है, लेकिन आंतरिक शरीर में समय के साथ परिवर्तन नहीं होता है-सिवाय इसके कि आप इसे और अधिक गहराई तक महसूस कर सकते हैं, अधिक परिपूर्णता से महसूस कर सकते हैं। अगर अभी आप बीस साल के हैं तो आंतरिक शरीर का ऊर्जा क्षेत्र आपको तब भी ऐसा ही महसूस होगा जब आप अस्सी साल के हो जायेंगे। तब भी, वह ऐसा ही जीवंत स्पंदन वाला होगा। शरीर से बहिर्मुखी रहने की और अपने मन के मायाजाल में तल्लीन रहने की आपकी आदत जैसे-जैसे शरीर में अंतर्मुखी होने की और 'अब' में विद्यमान रहने की अवस्था में परिवर्तित होती जाती है, वैसे-वैसे आपका यह भौतिक शरीर अधिक हल्का, अधिक निर्मल और अधिक जीवंत होता जाता है। चूंकि शरीर में अधिक चैतन्यता होती जाती है, इसलिए इसकी आणविक संरचना सचमुच ही कम घनत्व वाली होती जाती है। अधिक चैतन्यता का अर्थ होता है भौतिकता के विभ्रम का कम होते जाना।

अपने बाह्य शरीर के साथ तादात्म्य कर लेने की तुलना में जब आप अपने कालनिरपेक्ष आंतरिक शरीर के साथ अधिक तादात्म्य होते जाते हैं, जब वर्तमान में विद्यमान रहना आपकी चैतन्यता का सहज स्वभाव बन जाता है और अतीत व भविष्य आपके ध्यान पर हावी नहीं रहते हैं, तब आप अपने मन-मानस में तथा शरीर के कोशाणुओं में समय का और अधिक संचय नहीं करते हैं। अतीत तथा भविष्य का मनोवैज्ञानिक भार रूपी समय का यह संचयन आपके कोशाणुओं की स्वयं-पुनर्निर्माण करने की क्षमता को बहुत बुरी तरह प्रभावित करता है। इसलिए, अगर आप आंतरिक शरीर में वास करने लगते हैं तो बाह्य शरीर की वृद्ध होने की गति अत्यंत मंद हो जाती है, और जब होती भी है तब आपके कालनिरपेक्ष सत्व का वह प्रकाश आपके बाह्य शरीर में से झलकने लगता है, और आप अपनी आयु के अनुरूप वृद्ध प्रतीत नहीं होते हैं।

क्या इसका कोई वैज्ञानिक साक्ष्य भी है?

इसे आप आज़मा कर देखें और आप स्वयं इसका साक्ष्य *हो* जायेंगे।

रोग प्रतिरोध प्रणाली को मज़बूत करना

शारीरिक क्षेत्र के लिए इस अभ्यास का एक अन्य लाभ यह है कि यह रोग प्रतिरोध प्रणाली को तब बहुत मज़बूत बना देता है जब आप मानसिक रूप से भी शरीर में रहने लगते हैं। आप जितनी अधिक चैतन्यता शरीर में लाते जाते हैं, आपकी रोग प्रतिरोध प्रणाली उतनी ही मज़बूत होती जाती है। ऐसा लगता है जैसे तब आपका हर कोशाणु

जाग गया हो और प्रफुल्लित रहने लगा हो। आपके शरीर को आपकी तवज्जो अच्छी लगती है। यह स्वरोगहारी का, *सैल्फ़ हीलिंग* का, भी एक कारगर रूप होती है। अधिकांश रोग आपके अंदर तब प्रवेश करते हैं जब आप अपने शरीर में विद्यमान नहीं रहते हैं। अगर घर का स्वामी घर में न रह रहा हो तो तरह-तरह के खुराफ़ाती लोग उस घर में घुस कर उसे अपना घर बना लेते हैं। जब आप घर में रह रहे होते हैं तब इन अवांछित तत्वों का आपके घर में घुसना मुश्किल हो जाता है।

ऐसा नहीं है कि इस अभ्यास से केवल आपके शरीर की ही रोग प्रतिरोधक प्रणाली मज़बूत होती हो बल्कि आपकी मानसिक रोग प्रतिरोध प्रणाली भी बहुत मज़बूत हो जाती है। यह प्रणाली दूसरों के उस नकारात्मक मानसिक-भावनात्मक बल क्षेत्र से आपका बचाव करती है जो कि प्रायः एक संक्रामक रोग जैसा हुआ करता है। अपने शरीर में रहना आपको सुरक्षा प्रदान करता है-कोई ढाल प्रदान करके नहीं बल्कि आपके समूचे ऊर्जा क्षेत्र के जीवन-स्पंदन की प्रबलता को बढ़ा कर, ताकि कमतर बल के साथ स्पंदन करने वाली कोई भी चीज़, जैसे भय, क्रोध, अवसाद, विषाद आदि, अपने अस्तित्व को लेकर एक बिल्कुल अलग रहने लगें। तब वे आपकी चेतना के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर पाते हैं, और अगर करते भी हैं तो उनकी रोकथाम करने की आवश्यकता आपको नहीं करनी पड़ती है क्योंकि वे आपमें से होते हुए बस गुज़र जाते हैं। देखिए, जो कुछ भी मैं कह रहा हूं उसे केवल स्वीकार या अस्वीकार मत कीजिए, बल्कि इसे आज़माइए।

सैल्फ़ हीलिंग के लिए एक ऐसी सीधी-सरल लेकिन बड़ी ही सबल ध्यान की विधि है जिसे अपनी रोग प्रतिरोधक प्रणाली को बढ़ाने की आवश्यकता महसूस होने पर आप कभी भी कर सकते हैं। यह ध्यान करना तब विशेष रूप से प्रभावी रहता है जब किसी रोग का पहला लक्षण आप महसूस करें, लेकिन यह ध्यान ऐसे रोगों में भी कारगर रहता है कि जब वे पहले से ही आपके अंदर अपने पैर पसार चुके हों-बशर्ते कि आप इसे थोड़ी-थोड़ी देर बाद करते रहें और पूरी शिद्दत के साथ फ़ोकस कर के करें। किसी नकरात्मकता द्वारा आपके ऊर्जा क्षेत्र में की गई किसी टूट-फूट का भी निराकरण यह ध्यान कर देता है। लेकिन फिर भी, हर क्षण अपने शरीर में रहने के अभ्यास का यह कोई विकल्प नहीं है, क्योंकि उस अभ्यास के बिना इसका प्रभाव बड़ा अस्थाई रहेगा। तो, वह ध्यान प्रस्तुत है:

जब कुछ पलों के लिए आप फ़ुरसत में हों, विशेष रूप से रात को सोने से पहले वाले आख़री पलों में या सुबह जागने पर सबसे पहले वाले पलों में, तब अपने शरीर में चैतन्यता को अधिकतम "भर" लीजिए। कमर के बल लेट जाइए। अपनी आंखें बंद कीजिए। अपने शरीर के विभिन्न अंगों पर एक-एक करके अपने अवधान का फ़ोकस करना शुरू कीजिए, जैसे पहले हाथ पर, फिर पैर, बाहें, टांगें, पेट, छाती, सिर इत्यादि पर। इन अंगों के अंदर जीवन ऊर्जा को जितनी अधिक सघनता से आप महसूस कर सकते हैं, कीजिए। हर अंग के साथ इसी प्रकार लगभग पंद्रह सैकंड तक रहिए। फिर

अपने अवधान को कई बार अपने पूरे शरीर में एक लहर की तरह दौड़ने दीजिए, जैसे हाथों से पैरों की ओर और फिर वापस हाथों की ओर। इसमें केवल एक-दो मिनट ही लगेंगे। इसके बाद, अपने आंतरिक शरीर को उसकी संपूर्णता में महसूस कीजिए, ऊर्जा के एक अखंड क्षेत्र के रूप में। इस दौरान भरपूर तौर पर विद्यमान रहिए, अपने शरीर के हर एक कोशाणु में उपस्थित रहिए। अगर आपका मन कभी आपका ध्यान शरीर से बाहर ले जाने में कामयाब हो जाए और आप खुद को किसी विचार में भटकता हुआ पाएं तो चिंता मत कीजिए। जैसे ही आप देखें कि ऐसा हो गया है, तैसे ही अपने ध्यान और अवधान को वापस अपने शरीर में लें आएं।

अपने श्वास-प्रश्वास द्वारा अपने शरीर में प्रवेश करना

कई बार, जब मेरा मन बहुत सक्रिय हो जाता है और तब यह इतना गतिशील हो जाता है कि इस पर से अपना ध्यान हटाना और उसे अपने आंतरिक शरीर में ले जाना मेरे लिए असंभव सा हो जाता है। ऐसा तब ख़ास तौर पर होता है जब मैं किसी चिंता या व्यग्रता में होता हूं। क्या आप कोई उपाय बतायेंगे?

जब कभी भी आप पाएं कि आंतरिक शरीर के संपर्क में आना कठिन हो रहा है, तब सबसे पहले अपने सांस पर फ़ोकस करना प्रायः आसान रहता है। सजग रूप से सांस लेना, जो कि अपने आपमें एक ध्यान ही है, आपको धीरे-धीरे शरीर के संपर्क में ले आता है। जैसे-जैसे आपकी सांस आपके शरीर में अंदर व बाहर जा रही हो, अपने अवधान के साथ उसका अनुगमन करें। अंदर जाती सांस के साथ पेट का तनिक फूलना और फिर बाहर जाती सांस के साथ उसका सिकुड़ना-इसे महसूस करें। अगर आप आसानी से कल्पना में देख सकते हैं तो अपनी आंखे बंद कर लीजिए और स्वयं को प्रकाश से घिरा हुआ देखिए या किसी ज्योतिर्मय तत्व में निमग्न महसूस कीजिए-चैतन्यता के सागर में। तब, उस प्रकाश में, उस ज्योति में सांस भरिए, और महसूस कीजिए कि वह ज्योतिर्मय तत्व आपके शरीर में भरता जा रहा है और उसे देदीप्यमान भी करता जा रहा है। फिर धीरे-धीरे उस एहसास पर अधिक फ़ोकस करते जाइए। तब आप अपने शरीर में होंगे। लेकिन, किसी भी कल्पना चित्र के मोह में बंध मत जाइए।

अपने मन का रचनात्मक प्रयोग कीजिए

अगर आपको किसी विशेष प्रयोजन के लिए अपने मन का प्रयोग करने की आवश्यकता आ ही पड़े तो आप उसका प्रयोग अपने आंतरिक शरीर के संयोजन के साथ करें। अपने मन का रचनात्मक उपयोग आप तभी कर सकते हैं जब आप बिना विचार के चैतन्य रहते हैं। और, ऐसी अवस्था में प्रवेश करने का सरलतम उपाय है अपने शरीर के माध्यम से वहां तक पहुंचना। जब कभी भी आपको किसी उत्तर, किसी समाधान या किसी रचनात्मक सोच की आवश्यकता हो, तब आप अपने आंतरिक ऊर्जा क्षेत्र पर अपने अवधान को फ़ोकस करते हुए कुछ पलों के लिए विचार करना बंद कर दीजिए। उस नीरवता, शांतता, निश्चलता को महसूस कीजिए। जब आप विचार करने की स्थिति में वापस आयेंगे तो वह विचार ताज़ातरीन होगा, और रचनात्मक होगा। किसी भी विचार की गतिविधि में, यह अपनी आदत बना लें कि विचार करने के और अपने अंदर की आवाज़ सुनने के बीच, कुछ पलों के लिए आना-जाना रखें।। इसे यूं कहा जा सकता है: केवल अपने मन-मस्तिष्क से न सोचें बल्कि अपने समूचे शरीर से सोचें।

सुनने की कला

जब आप किसी को सुन रहे हों तब उसे केवल मन-मस्तिष्क से न सुनें बल्कि अपने समूचे शरीर से सुनें। उसे सुनते हुए अपने आंतरिक शरीर के ऊर्जा क्षेत्र को महसूस करते रहें। ऐसा करना आपके अवधान को विचार करने से दूर ले जाता है और एक नीरव, निश्चल व शांत रिक्त स्थान बना देता है जो यह संभव कर देता है कि आप मन द्वारा हस्तक्षेप किए जाए बिना वास्तव में सुन पाएं। तब आप उस व्यक्ति के लिए रिक्त स्थान बना रहे होते हैं- उसके होने के लिए रिक्त स्थान। यह आपके द्वारा उसे दिया जा सकने वाला सबसे मूल्यवान उपहार होगा। अधिकांश लोग यह जानते ही नहीं हैं कि सुना कैसे जाए, क्योंकि उनके अवधान के अधिकतर हिस्से को तो विचार द्वारा हथिया लिया जाता है। दूसरा क्या कह रहा है, इस पर ध्यान देने के बजाय उनका ध्यान अपने ही विचार पर रहा करता है, और उस चीज़ पर तो बिल्कुल भी नहीं रहता है जिसका वास्तव में महत्व है: एूसरे व्यक्ति के शब्दों और मन के नीचे विराजमान उसकी *बीइंग*। वास्तव में, दूसरे की *बीइंग* को आप अपनी *बीइंग* के माध्यम से ही महसूस कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। यही ऐक्य का बोध करने का आरंभ है, यही प्रेम है। *बीइंग* के गहनतम तल पर, आप उस सर्वस्व के साथ एक हैं जो है।

अधिकांश संबंधों में लोग एक दूसरे के साथ मानसिक संवाद-परिसंवाद ही कर रहे होते हैं, परस्पर संप्रेषण नहीं कर रहे होते हैं, आध्यात्मिक समागम में नहीं रह रहे होते हैं।

इस ढंग में कोई भी संबंध पनप नहीं सकता, और यही कारण है कि चारों ओर संबंधों में इतना द्वंद्व रहता है, इतना टकराव रहता है। जब आपका मन आपके जीवन को चला रहा हो तब द्वंद्व, टकराव, कलह, क्लेश लड़ाई, झगड़ा होना तो लाज़मी है। अपने आंतरिक शरीर के संपर्क में रहने से एक ऐसा मनरहित स्वच्छ रिक्त स्थान बन जाता है जिसमें संबंध खिल सकता है, फल-फूल सकता है।

अध्याय सात

अव्यक्त में प्रवेश करने के द्वार

अपने शरीर में गहरे उतरना

मैं अपने शरीर के भीतर शक्ति महसूस कर सकता हूं, विशेष रूप से भुजाओं में, पैरों में, लेकिन जैसा कि आपने पहले बताया है, मैं और गहरे में नहीं उतर पाता हूं।

इसे ध्यान जैसा कुछ न बनाएं। इसमें कोई बहुत लंबा समय नहीं लगेगा। दस से पंद्रह मिनट काफ़ी होंगे। सबसे पहले यह सुनिश्चित कर लीजिए कि आपके आसपास कोई ऐसी चीज़ तो नहीं है जो बाहरी तौर से खलल डाले, जैसे फ़ोन या लोग। फिर, एक कुर्सी पर बैठ जाइए, लेकिन कमर टिका कर नहीं। अपनी रीढ़ को सीधा रखिए। ऐसा करने से सचेत रहने में मदद मिलेगी। ध्यान के लिए अपनी पसंद का कोई आसन, कोई मुद्रा चुन लीजिए।

यह सुनिश्चित कर लीजिए कि आपका शरीर शिथिल है, तनावरहित है। अपनी आंखें बंद कर लीजिए। कुछ गहरी-गहरी सांस लीजिए। महसूस कीजिए कि आपके पेट के निचले हिस्से में सांस आ-जा रही है, जैसा कि आमतौर पर होता भी है। ध्यान से देखिए कि अंदर आती और बाहर जाती सांस के साथ यह किस तरह थोड़ा फूलता और फिर थोड़ा सिकुड़ता है। फिर अपने शरीर के समूचे ऊर्जा क्षेत्र का बोध कीजिए। उसके बारे में सोचें नहीं-उसे बस महसूस कीजिए। ऐसा करने से आपके मन में गई हुई आपकी चैतन्यता वापस आपके पास आ जाती है। अगर आपको फ़ायदेमंद लगे तो आप "प्रकाश होने" की कल्पना भी कर सकते हैं, जिसे कि मैं पहले बता चुका हूं।

जब आप अपने आंतरिक शरीर को स्पष्ट रूप से एक एकल ऊर्जा क्षेत्र की तरह महसूस करने लगें तब उसकी किसी भी तरह की काल्पनिक छवि को बना लेने से बचें और अपना फ़ोकस केवल उसे महसूस करने पर ही रखें। अगर कर सकें तो अपने इस

भौतिक शरीर की किसी मानसिक छवि को भी छोड़ दें। इसके बाद जो कुछ शेष बचेगा वह होगी अखिल व अखंड विद्यमानता की या *बीइंगनैस* की अनुभूति, और तब आपका आंतरिक शरीर आपको असीम और अपार महसूस होने लगेगा। तब अपने अवधान को उस एहसास में और भी गहराई में ले जाइए। उसके साथ एक हो जाइए। उस ऊर्जा क्षेत्र में विलीन हो जाइए, ताकि अवलोकनकर्ता और अवलोकित जैसी, आप और आपके शरीर जैसी, यानी द्वैत जैसी कोई स्थिति न रहे। ऐसी अवस्था में आंतरिक शरीर और बाहरी शरीर का भेद भी मिट जाता है और इसलिए आंतरिक शरीर जैसा कुछ नहीं रहता है। अपने शरीर में गहरे उतर कर आप शरीर के पार चले गए होते हैं।

विशुद्ध *बीइंग* के इस राज्य में तब तक रहते रहिए जब तक आप सहज-सरल महसूस करें; और फिर इस शरीर के प्रति, अपनी श्वास-प्रश्वास के प्रति, अपनी ज्ञानेंद्रियों के प्रति सजग होते जाइए, और अपनी आंखें खोल लीजिए। कुछ देर तक, ध्यानमग्न भाव से अपने चारों ओर देखिए-यानी, मानसिक रूप से किसी चीज़ को कोई नाम या पहचान न देते हुए-और ऐसा करते हुए अपने आंतरिक शरीर को अनुभूत करते रहिए।

उस निराकार तक पहुंचना, उसके संपर्क में आना, वास्तव में मुक्त होना है। यह आपको रूपाकार के बंधन से और रूपाकार के साथ आपकी तादात्म्यता से मुक्त कर देता है। विभिन्न रूपों में प्रकट होने से पूर्व अभिन्न रूप जीवन है यह। हम इसे समस्त पदार्थों का अव्यक्त, अप्रकट और अदृश्य स्रोत कह सकते हैं, समस्त *बीइंग्स* का महा *बीइंग* कह सकते हैं। यह गहन नीरवता, निश्चलता व शांति का साम्राज्य है, लेकिन साथ ही आह्लाद और अत्यंत जीवंतता का भी। जब भी आप वर्तमान में विद्यमान रहते हैं, तब आप इस परम स्रोत से आने वाले प्रकाश के लिए, विशुद्ध चेतना के लिए किसी हद तक "पारदर्शी" हो जाते हैं। आप यह भी अनुभव करते हैं कि वह प्रकाश उससे भिन्न नहीं हैं जिससे कि आप हैं, बल्कि उसी ने आपके सार रूप को रचा है।

'ची' का स्रोत

क्या यह वही अव्यक्त, अप्रकट है जिसे पूरब में 'ची' कहा जाता है, एक प्रकार की ब्रह्मांडीय जीवन शक्ति?

नहीं, यह वह नहीं है। यह अप्रकट तो ची का *स्रोत* है। ची आपके शरीर का आंतरिक ऊर्जा क्षेत्र है। यह आपके बाहरी स्वरूप और उस स्रोत के बीच एक पुल है। वह पुल इस प्रकट

रूप संसार के और उस परम अप्रकट के बीच अवस्थित है। ची को एक नदी या एक शक्ति-प्रवाह माना जा सकता है। अगर आप अपनी चैतन्यता का फ़ोकस आंतरिक शरीर की गहनता में ले जाते हैं तो आप इस नदी के मार्ग से वापस चलते हुए उसके परम स्रोत की ओर जा रहे होते हैं। ची गति है और अप्रकट स्थिरता है। जब आप पूर्ण स्थिरता की अवस्था में पहुंच जाते हैं, जो कि स्थिर होने के बावजूद जीवन-स्पंदन से परिपूर्ण रहती है, तब आप अपने आंतरिक शरीर के पार, ची के पार जाते हुए उस परम स्रोत के, उस अप्रकट के निकट पहुंच जाते हैं। उस अप्रकट और इस भौतिक जगत के बीच की कड़ी है यह ची।

इसलिए, अगर आप अपने अवधान को आंतरिक शरीर की गहनता में ले जाते हैं तो आप उस बिंदु तक पहुंच सकते हैं, उस ऐक्यता में, उस अद्वैतता में पहुंच सकते हैं जहां यह जगत उस अप्रकट में विलीन हो जाता है और वह अप्रकट ही ची के शक्ति-प्रवाह का रूप ले लेता है जो कि फिर जगत बन जाता है। जन्म और मृत्यु का मिलन-स्थल है यह। जब अपकी चेतना बहिर्मुखी जो जाती है, तब मन और जगत उत्पन्न होने लगता है, दृष्टिगोचर होने लगता है। और, जब आपकी चेतना अंतर्मुखी हो जाती है, तो वह अपने मूल स्रोत को जान जाती है और अपने घर को, अप्रकट को लौट जाती है। फिर, जब कभी आपकी चेतना इस प्रकट जगत में पुनः वापस आती है, तब आप उस रूपाकार वाली पहचान को, व्यक्तित्व को पुनः धारण कर लेते हैं जिसे आपने अस्थाई रूप से छोड़ दिया था। तब आपका एक नाम होता है, एक जीवन परिस्थिति होती है, अतीत होता है, भविष्य होता है। लेकिन मूलभूत रूप से आप वही व्यक्ति नहीं रह जाते हैं जो कि आप पहले थे: अपने भीतर आपको वास्तविकता की वह झलक दिखाई देती है जो कि "इस जगत की" नहीं होती है, हालांकि वह उससे पृथक भी नहीं होती है, बिल्कुल उसी तरह जैसे वह आपसे पृथक नहीं होती है।

तो, आपका आध्यात्मिक अभ्यास ऐसा हो: जब आप अपना जीवन व्यतीत करें तो अपने मन तथा बाह्य जगत को अपने अवधान का 100 प्रतिशत हिस्सा मत दीजिए। थोड़ा-बहुत अपने अंदर भी रखिए। इस बारे में मैं पहले भी बता चुका हूं। दिन-प्रतिदिन के अपने कार्यकलाप करते हुए भी अपने आंतरिक शरीर को महसूस करते रहिए, ख़ासतौर से तब जब कि आप किसी संबंध को बरत रहे हों या प्रकृति की गोद में हों। इस नीरवता, निश्चलता, स्थिरता को, इस शांति को अपने भीतर गहराई तक महसूस कीजिए। द्वार खुला रखिए। उस अप्रकट के प्रति जीवन भर चैतन्य रहना बिल्कुल संभव है। जो कुछ भी बाहर घटित हो रहा है, उसमें भी आप उसे कहीं पृष्ठभूमि में अगाध नीरवता, निश्चलता, व शांतता की एक ऐसी अनुभूति के रूप में महसूस करते रहेंगे जो कि आपका साथ छोड़ कर कभी न जाती हो। तब आप अप्रकट व प्रकट के बीच, ईश्वर और जगत के बीच एक

सेतु बन जाते हैं। उस स्रोत से जुड़ जाने की यही वह अवस्था है जिसे हम आत्मज्ञान होना कहते हैं, *एन्लाइटेनमैंट* कहते हैं।

यह धारणा मत पाल लीजिए कि अप्रकट प्रकट से पृथक हुआ करता है। वह ऐसा हो भी कैसे सकता है? हर रूप के अंदर जीवन वही तो है, हर अस्तित्व के तत्व रूप में वही तो है। वही इस जगत में व्याप्त है। आइए, थोड़ा विस्तार से बताता हूं।

स्वप्नरहित निद्रा

हर रात, जब आप गहरी और स्वप्नरहित निद्रा में होते हैं तब उस अप्रकट में ही यात्रा कर रहे होते हैं। तब आप उस अप्रकट में विलीन हो गए होते हैं। तब आप उससे वह जीवनी-शाक्ति ग्रहण कर रहे होते हैं जो आपको तब संबल देती है जब आप प्रकट जगत में, नाना रूपों के इस जगत में, वापस आ जाते हैं। यह शक्ति भोजन से भी कहीं अधिक जीवनदायिनी होती है: "आदमी केवल रोटी से ज़िंदा नहीं रहता है।" लेकिन स्वप्नरहित अवस्था में रहते हुए आप सचेतन रूप से अप्रकट में नहीं जाते हैं। हालांकि शरीर की गतिविधियां चल रही होती हैं, लेकिन उस अवस्था में "आप" नहीं होते हैं। क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि कैसा लगेगा अगर आप पूरी तरह चैतन्य रहते हुए स्वप्नरहित निद्रा की अवस्था में चले जाएं? उसकी कल्पना करना असंभव है क्योंकि उस अवस्था में कोई सामान-सामग्री तो रहती ही नहीं हैं जिसकी कि कल्पना की जा सके।

वह अप्रकट आपको तब तक मुक्त नहीं करता जब तक कि आप चैतन्य होकर उसमें प्रवेश नहीं करते हैं। इसीलिए जीसस ने यह नहीं कहा था: सत्य आपको मुक्त कर देगा, बल्कि यह कहा था: "आप सत्य को जानिए और वह सत्य ही आपको मुक्त कर देगा।" यह कोई अवधारणा वाला सत्य नहीं है, बल्कि यह तो शाश्वत जीवन वाला वह सत्य है जो कि किसी भी नाम व रूपाकार से परे रहता है, और जिसे प्रत्यक्षतः ही जाना जा सकता है अन्यथा बिल्कुल नहीं। लेकिन, स्वप्नरहित निद्रा में सचेत रहने का प्रयास मत कीजियेगा। इसमें आपको सफलता न मिलने की ही संभावना अधिक है। अधिकतम इतना हो सकता है कि शायद आप स्वप्नावस्था में सचेत रहें, लेकिन उससे आगे नहीं। इसे स्पष्ट तथा विशद स्वप्न देखना कहा जाता है जो कि रुचिकर व सम्मोहक तो हो सकता है लेकिन मुक्तिप्रद नहीं होता।

इसलिए, अपने आंतरिक शरीर को एक ऐसे द्वार की तरह प्रयुक्त कीजिए जिसमें से होकर आप अप्रकट में प्रवेश करें, और उस द्वार को खुला रखें ताकि आप उस परम स्रोत से हर समय जुड़े रहें, संपर्क में रहें। जहां तक आपके आंतरिक शरीर की बात है, इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि आपका बाह्य भौतिक शरीर बूढ़ा है या युवा है, दुर्बल है या

सबल है। आंतरिक शरीर समय-निरपेक्ष रहता है। अगर आप अभी भी आंतरिक शरीर को महसूस नहीं कर पाए हैं तो अन्य द्वारों में से किसी अन्य का प्रयोग करें, हालांकि अंततः वे सभी एक ही हैं। उनके बारे में थोड़ा-बहुत तो मैं पहले ही बता चुका हूं, लेकिन एक बार फिर मैं उनका संक्षिप्त विवरण नीचे दे रहा हूं।

अन्य द्वार

'अब' को मुख्य द्वार के रूप में देखा जा सकता है। यह हर अन्य द्वार का अनिवार्य अंग है, आंतरिक शरीर का भी। 'अब' में सघन रूप से विद्यमान रहे बिना आप *अपने शरीर* में नहीं हो सकते।

समय और प्रकट जगत जटिल रूप से उसी तरह संबद्ध हैं जैसे कि समय-निरपेक्ष 'अब' और अप्रकट। जब आप सघन वर्तमान-पल की सजगता के माध्यम से मनोवैज्ञानिक समय का अंत कर देते हैं, तब आप अप्रकट के प्रति चैतन्य हो जाते हैं- प्रत्यक्ष रूप से भी और परोक्ष रूप से भी। प्रत्यक्षतः इसे आप अपनी सजग विद्यमानता की कांति और शक्ति के रूप में देखते हैं जिसमें कि कोई अंतर्वस्तु नहीं रहती, केवल विद्यमानता रहती है, उपस्थिति रहती है। परोक्षतः, आप मस्तिष्कीय क्षेत्र में और उसी के जरिए अप्रकट के प्रति सजग हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, आप ईश-सत्व को हर प्राणी में, हर फूल में, हर पत्थर में महसूस करते हैं: "जो भी है, वह पवित्र है।" इसीलिए थॉमस की नीतिकथाओं में, जीसस पूरी तरह से अपने सत्व या क्राइस्ट-स्वरूप में से बोलते हुए कहते हैं: "लकड़ी को फाड़ो, मैं उसमें मिलूंगा। कोई भी पत्थर उठाओ, तुम मुझे वहीं पाओगे।"

अप्रकट में प्रवेश करने का एक अन्य द्वार है विचार को विराम देना। इसे एक बड़े ही सरल तरीके से शुरू किया जा सकता है, जैसे सजग रूप से, अत्यंत सचेत रूप से, सांस लेना या देखना, जैसे किसी फूल को इस तरह देखना कि उस देखने के साथ कोई मानसिक टीका-टिप्पणी या व्याख्या न चल रही हो। अविराम चलने वाले विचार-प्रवाह में एक अंतराल बनाने के अनेक तरीके हैं। ध्यान यही तो करता है। विचार तो प्रकट के प्रदेश का हिस्सा होता है। निरंतर चलने वाली मन की गतिविधि आपको रूपाकार वाले जगत में बंदी बनाए रखती है और ऐसा अपारदर्शी व मैला परदा बन जाती है जो कि अप्रकट के प्रति चैतन्य होने से, निराकार के प्रति चैतन्य होने से और स्वयं आपमें तथा समस्त पदार्थों व प्राणियों में विराजमान ईश-सत्व के प्रति चैतन्य होने से आपको वंचित कर देती है, रोक देती है। जब आप सघन रूप से वर्तमान में विद्यमान रहते हैं, उपस्थित रहते हैं, तब आपको विचार की रोकथाम करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, वाक़ई, क्योंकि

तब मन स्वयं ही थम जाता है। इसीलिए मैंने कहा है कि हर एक द्वार का आवश्यक हिस्सा है 'अब'।

समर्पण-यानी *जो है* के प्रति मानसिक एवं भावनात्मक प्रतिरोध को ख़त्म कर देना-यह भी अप्रकट में प्रवेश करने का एक द्वार बन जाता है। इसका कारण सीधा-सरल है: मन के अंदर से उठने वाला प्रतिरोध लोगों से, स्वयं आप से, आपके चारों ओर के संसार से आपको अलग कर देता है, काट देता है। यह अलगाव की उस भावना को बल दिया करता है जिस पर कि अहं अपने अस्तित्व के लिए निर्भर रहा करता है। अलगाव की भावना जितनी अधिक प्रबल होगी, उतना ही अधिक आप प्रकट के साथ, नाना रूपों वाले इस जगत के साथ आबद्ध रहेंगे। रूपाकार वाले जगत के साथ आप जितना अधिक आबद्ध रहेंगे, आपकी रूपाकार वाली विशिष्टता उतनी ही अधिक पुष्ट, उतनी ही अधिक अभेद्य होती चली जायेगी। आपका द्वार बंद है और इसलिए आप अपने आंतरिक आयाम से, गहनता के आयाम से कटे रहते हैं। समर्पण की अवस्था में, आपकी रूपाकार वाली विशिष्टता नरम तथा शिथिल हो जाती है और किसी हद तक पारदर्शी हो जाती है, जैसी कि वह पहले हुआ करती थी, और इस तरह से अप्रकट आपमें से चमकने लगता है।

यह आपके ऊपर है कि आप ऐसा कौन सा द्वार खोलते हैं जो कि आपकी चेतना को अप्रकट तक पहुंचा दे। अपने आंतरिक शरीर के ऊर्जा क्षेत्र के संपर्क में रहिए, सघन रूप से उपस्थित रहिए, मन के साथ तादात्म्य मत होइए, *जो है* के प्रति समर्पित रहिए, ये सभी वे द्वार हैं जिनका आप प्रयोग कर सकते हैं-लेकिन आपको किसी एक का ही प्रयोग करना है।

निश्चित रूप से, प्रेम भी तो इन द्वारों में से एक होना चाहिए?

नहीं, वह नहीं है। इन द्वारों में से कोई भी एक द्वार जब खुलता है तब एकत्व के "अनुभव-बोध" के रूप में प्रेम वहां मौजूद रहता है। प्रेम कोई द्वार नहीं है, बल्कि यह वह है जो द्वार में से होता हुआ इस संसार में आता है। जब तक आप पूरी रह अपनी नाम-रूप वाली पहचान के पिंजरे में रहते हैं तब तक आपमें प्रेम नहीं आ सकता। आपका काम प्रेम को तलाश करना नहीं है, बल्कि वह द्वार खोजना है जिसके जरिए प्रेम प्रवेश कर सके।

निःशब्दता

आपने जितने द्वार अभी-अभी बताए हैं, क्या इनके अलावा भी कुछ और द्वार हैं?

हां, हैं। अप्रकट प्रकट से पृथक नहीं रहता है। वह तो समस्त संसार में व्याप्त है, लेकिन वह इतनी अच्छी तरह छिपा रहता है कि लगभग हर कोई उसे देखने में, उसे पाने में पूरी तरह से चूक जाता है। अगर आप जान जाएं कि उसे कहां देखा जाए तो आप उसे सर्वत्र पायेंगे। तब, हर पल एक द्वार खुल रहा होता है।

क्या आप सुन रहे हैं कि दूर कहीं एक कुत्ता भौंक रहा है? या कोई कार गुज़र रही है? ध्यान से सुनिए। क्या आप उसमें अप्रकट की विद्यमानता महसूस कर सकते हैं? नहीं कर सकते? उस निःशब्दता पर ध्यान दीजिए जिसमें से होते हुए अवाज़ें आती हैं और जिसमें में वापस चली जाती हैं। आवाज़ों पर अधिक ध्यान देने के बजाय उस निःशब्दता पर अधिक ध्यान दीजिए। बाह्य निःशब्दता पर ध्यान देने से आंतरिक निःशब्दता आती है: मन तब नीरव, निश्चल, शांत रहने लगता है।

हर आवाज़ निःशब्दता में से पैदा होती है, और निःशब्दता में ही विलीन हो जाती है, और अपने जीवन काल में भी वह निःशब्दता से ही घिरी रहती है। निःशब्दता आवाज़ को होने की समर्थता प्रदान करती है। निःशब्दता हर आवाज़ का, हर ध्वनि का, संगीत के हर स्वर का, हर गीत का, हर शब्द का एक अंतरंग किंतु अप्रकट अंग होती है। इस जगत में अप्रकट भी उसी प्रकार विद्यमान है जैसे निःशब्दता। इसीलिए कहा गया है कि इस जगत में ईश्वर के समान अगर कुछ है तो वह है निःशब्दता। आपको केवल इतना करना है कि उस पर अवधान दें। बातचीत के दौरान भी, शब्दों के बीच के अंतराल के प्रति, वाक्यों के बीच निःशब्द अंतराल के प्रति, सचेत रहें। जब आप ऐसा करेंगे तो आपके भीतर नीरवता, निश्चलता और शांति के आयाम बढ़ने लगेंगे। अपने अंदर नीरव तथा निश्चल हुए बिना आप निःशब्दता को अपना अवधान नहीं दे सकते। बाहर निःशब्दता, भीतर निःशब्दता। अब आप अप्रकट में प्रवेश कर सकते हैं।

आकाशः रिक्त स्थान

जैसे कि किसी भी शब्द, किसी भी ध्वनि, किसी भी आवाज़ का होना निःशब्दता के बिना नहीं हो सकता, ठीक वैसे ही किसी भी चीज़ का अस्तित्व शून्य के बिना, आकाश के बिना, रिक्त स्थान के बिना नहीं हो सकता, क्योंकि यही तो उसका होना संभव करता है। प्रत्येक भौतिक पदार्थ, पिंड या शरीर शून्य से ही तो आता है, शून्यता से ही घिरा रहता है और अंततः शून्यता में ही लौट जाता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक भौतिक पिंड के भीतर "कुछ" की अपेक्षा "कुछ नहीं" अधिक है। भौतिक विज्ञानी हमें बताते हैं कि पदार्थ का ठोस लगना एक भ्रम है। ठोस प्रतीत हाने वाले पदार्थों में भी, और आपके शरीर में भी, लगभग 100 प्रतिशत शून्यता है-अपने आकार की तुलना में अणुओं के बीच रहने वाले भी

फ़ासले काफ़ी ज़्यादा हैं। और तो और, हर अणु के भीतर भी अधिकांशतः स्थान रिक्त ही है। जो है उसमें ठोस पदार्थ के कणों की तुलना में स्पंदन आवर्ती ही अधिक है, बिल्कुल संगीत के स्वर संकेतों की तरह। बौद्ध लोगों ने इसे 2500 वर्ष पहले जान लिया था। सर्वश्रेष्ठ कहे जाने वाले प्राचीन बौद्ध ग्रंथों में एक है 'हृदय सूत्र', उसमें कहा गया है-"आकार शून्य है, शून्य आकार है।" हर पदार्थ का, हर चीज़ का सारभूत है शून्य, आकाश, रिक्त स्थान।

अप्रकट भी इस जगत में केवल निःशब्दता की तरह ही विद्यमान नहीं है, बल्कि संपूर्ण ब्रह्मांड में वह आकाश रूप में भी व्याप्त है-भीतर भी और बाहर भी। इसको भी हम ऐसे ही चूक जाते हैं जैसे निःशब्दता को चूक जाते हैं। हर कोई आकाश में स्थित पदार्थों पर ध्यान देता है, लेकिन स्वयं आकाश पर, रिक्त स्थान पर, शून्य पर कौन ध्यान देता है?

आपके कहने का अर्थ यह लग रहा है कि "रिक्तता" या "कुछ नहीं-पन" केवल 'कुछ' नहीं होता, बल्कि उसमें कुछ रहस्यमय गुण भी होता है। यह 'कुछ नहीं-पन' होता क्या है?

आप ऐसा प्रश्न नहीं पूछ सकते। दरअसल, आपका मन 'कुछ नहीं' को 'कुछ' बनाने की कोशिश कर रहा है। जैसे ही आप इसे 'कुछ' बना देंगे, त्यों ही आप इसे खो देंगे। 'कुछ नहीं-पन'-यानी, आकाश, रिक्तता, शून्यता-वह इस इंद्रियगम्य जगत में अप्रकट का मूर्त रूप में प्रकट होना है। कोई इसके बारे में केवल इतना ही कह सकता है, हालांकि यह भी एक तरह का विरोधाभास ही होगा। इसे ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता। आप "कुछ नहीं" पर शोध नहीं कर सकते, डॉक्टरेट की डिग्री नहीं ले सकते। वैज्ञानिक लोग जब आकाश का अध्ययन करते हैं तो आमतौर पर वे उसे कुछ बना देते हैं, और इस तरह उसके सार से पूरी तरह चूक जाते हैं। इसीलिए, शायद आपको आश्चर्य हो कि नवीनतम सिद्धांत यह प्रतिपादित किया गया है कि आकाश क़तई रिक्त नहीं है, वह किसी पदार्थ से भरा हुआ है। जब आप कोई सिद्धांत गढ़ लेते हैं तब उसके साबित करने के लिए प्रमाण जुटाना कोई कठिन काम नहीं रह जाता है, कम से कम तब तक कि जब तक कोई एक नया सिद्धांत लेकर न आ जाए।

"कुछ नहीं" आपके लिए अप्रकट का प्रवेश द्वार केवल तभी बन सकता है जब आप इसे समझने की, इसे पकड़ने की कोशिश न कर रहे हों।

लेकिन क्या इस समय हम वही तो नहीं कर रहे हैं?

बिल्कुल नहीं। मैं तो आपको वे संकेत दे रहा हूं कि आप अपने जीवन में किस तरह अप्रकट के आयाम को ला सकते हैं। हम उसे समझने की कोशिश नहीं कर रहे हैं। उसमें समझने को कुछ है ही नहीं।

आकाश का कोई "अस्तित्व" नहीं होता। "अस्तित्व" का अर्थ है "वजूद का, शरीर का होना, जो कि स्पष्ट दिखाई दे"। आप आकाश को समझ नहीं सकते क्योंकि उसका कोई शरीर नहीं होता, वह अलग खड़ा दिखाई नहीं देता। लेकिन, भले ही इसका कोई अस्तित्व न हो लेकिन यह हर अन्य चीज़ के अस्तित्व को संभव बनाता है। इसी तरह, निःशब्दता का भी कोई अस्तित्व नहीं होता, और न ही अप्रकट का होता है।

तो, तब क्या होता है जब आप आकाश में स्थित वस्तुओं पर से अपना ध्यान हटा लेते हैं और आकाश ही के प्रति सजग हो जाते हैं? इस कमरे का सार क्या है? ये फ़र्नीचर, तस्वीरें इत्यादि इस कमरे *में* हैं लेकिन ये चीज़े यह कमरा नहीं हैं। फ़र्श, दीवारें, और छत- ये इस कमरे की सीमाओं को दर्शाती हैं, लेकिन ये भी यह कमरा नहीं हैं। तो फिर इस कमरे का सार क्या है, यानी वह मुख्य चीज़ क्या है जो इसे कमरा बनाती है? आकाश, जी हां, इसका खाली स्थान। इसके बिना यहां कोई 'कमरा' ही नहीं होगा-*नो रूम*। क्योंकि कक्ष का शाब्दिक अर्थ ही है 'भीतरी अवकाश, रिक्त स्थान' (और अंग्रेज़ी के 'रूम' शब्द का भी शाब्दिक अर्थ यही है-'स्पेस')। आकाश या रिक्त स्थान या शून्य चूंकि कुछ नहीं होता इसलिए हम कह सकते हैं कि जो *नहीं है* वह कहीं अधिक महत्वपूर्ण है अपेक्षाकृत उसके जो कि है। इसलिए आपके चारों तरफ़ व्याप्त आकाश के प्रति सजग रहिए, उसका बोध रखिए। उसके बारे में सोचिए नहीं, उसे महसूस कीजिए, जैसा वह है। "कुछ नहीं" को अपना ध्यान और अवधान दीजिए।

जब आप ऐसा करेंगे तब आपके भीतर चेतना की जगह कुछ बदल जायेगी। उसका कारण बताता हूं। कमरे की खाली जगह में रखी हुई वस्तुओं, जैसे फ़र्नीचर, दीवारों आदि सामान की तरह ही आपके मन में भी मानसिक सामान भरा होता है: विचार, भावनाएं, और ज्ञानेंद्रियों के विषय। और आकाश का आंतरिक प्रति रूप है चेतना, जो कि आपके मानसिक सामान को उसी प्रकार अस्तित्व प्रदान करती है जैसे आकाश सभी चीजों को अस्तित्व प्रदान करता है। इसलिए, अगर आप अपना ध्यान *चीज़ों* से हटा लें-जैसे कोई खाली जगह में रखी चीज़ें हटा लें-तब आपका ध्यान स्वतः ही अपने मानसिक सामान से भी हट जायेगा। दूसरे शब्दों में, ऐसा नहीं हो सकता कि आप आकाश यानी खाली जगह के बारे में, या निःशब्दता के बारे में, सोचें भी और उसे महसूस भी करें। अपने चारों तरफ़ के रिक्त स्थान के बारे में सजग होने के साथ ही आप मनरहितता वाली रिक्तता के बारे मे, विशुद्ध चेतना के बारे में, यानी अप्रकट के बारे में भी सजग हो जाते हैं, बोधमय हो जाते हैं। इस तरह, आकाश का ध्यान रखना आपके लिए एक प्रवेश द्वार बन जाता है।

रिक्तता और निःशब्दता, ये दोनों उसी 'कुछ' के, और उसी 'कुछ नहीं' के दो पहलू हैं। ये आंतरिक आकाश और आंतरिक नीरवता के मूर्त रूप हैं, यानी निश्चलता के, शांति के, समूची सृष्टि के असीम सृजनशील गर्भ हैं ये। अधिकांश लोग इस आयाम से बिल्कुल अनजान रहते हैं। उनके अंदर न कोई आंतरिक आकाश है, न कोई आंतरिक नीरवता है। वे असंतुलित रहते हैं। दूसरे शब्दों में, वे जगत को जानते हैं, या ऐसा वे मानते तो हैं ही, लेकिन वे ईश्वर को नहीं जानते। सार के प्रति अचेत व अनभिज्ञ रहते हुए वे अपने शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक स्वरूप के साथ पूरी तरह तादात्म्य कर लिया करते हैं। और, चूंकि हर रूप अस्थिर व अस्थाई होता है, इसलिए वे भयभीत रहा करते हैं। यही भय उन्हें खुद को तथा दूसरों को समझने में भारी ग़लती का कारण बनता है, और जगत को देखने के विकृत नज़रिए का भी कारण बन जाता है।

यदि अंतरिक्ष से टपकी कोई आपदा इस संसार का अंत कर दे तो भी अप्रकट उससे पूरी तरह अप्रभावित ही रहेगा। 'ए कोर्स इन मिरैकिल्स' में इस बात को एक कटु सत्य के रूप में कहा गया है, "जो वास्तविकता में है उसे कोई संकट हो ही नहीं सकता। और, जो अवास्तविक है उसका अस्तित्व नहीं टिका रह सकता। इसी पर स्थित है ईश्वर की शांति।"

जब आप सजग रूप से अप्रकट से जुड़े रहते हैं तब आप प्रकट का मूल्य-महत्व समझते हैं, उसे प्रेम करते हैं, गहराई से उसका आदर करते हैं, जीवन के हर रूप को उसके रूप से परे एक 'अखंड जीवन' की अभिव्यक्ति की तरह लेते हैं। आप यह भी जान जाते हैं कि हर रूप का अंत होना उसकी नियति है और अंततः बाहरी कोई भी चीज़ कोई मायने नहीं रखती। तब, जीसस के शब्दों में, "तुमने जगत को पार कर लिया है।" और बुद्ध के शब्दों में, "आप भवसागर पार करके दूसरे किनारे पर पहुंच गए हैं।"

आकाश और समय का वास्तविक स्वभाव

अब ज़रा इस पर ग़ौर कीजिए: अगर निःशब्दता के अलावा किसी और चीज़ का अस्तित्व ही न होता, तो आपके लिए तो वह जैसे होती ही नहीं, आप यह भी नहीं जान पाते कि वह है क्या। जब कोई शब्द होता है, कोई ध्वनि होती है, केवल तभी निःशब्दता का पता चलता है। इसी प्रकार, यदि केवल आकाश ही होता, केवल रिक्त स्थान ही होता जिसमें कि कोई भी वस्तु न होती तो आपके लिए तो जैसे आकाश होता ही नहीं। अपने आपको चैतन्यता के एक ऐसे बिंदु के रूप में कल्पना कीजिए जो कि आकाश की व्यापकता में तैर रहा है-उसमें न कोई तारा है, न कोई आकाश-गंगा है, केवल रिक्तता है। अचानक ही, आपको लगेगा जैसे आकाश में कोई व्यापकता ही नहीं है, कोई फैलाव ही नहीं है, जैसे वह है ही नहीं। तब आपको न कोई गति लगेगी और न ही यहां से वहां जाने की

चलायमानता लगेगी। आकाश को अस्तित्व में आने के लिए, कोई फ़ासला बताने के लिए कम से कम दो बिंदुओं का संदर्भ तो चाहिए ही। आकाश का अस्तित्व तभी होता है जब एक के दो हो जाते हैं, "दो" के "दस हज़ार" हो जाते है, जैसा कि लाओ त्से ने प्रकट संसार को बताया है, तब आकाश अधिकाधिक व्यापक हो जाता है। इस प्रकार, संसार और आकाश का जन्म एक साथ होता है।

आकाश के बिना कुछ नहीं हो सकता, लेकिन फिर भी आकाश कुछ नहीं है। इस ब्रह्मांड के अस्तित्व में आने से पहले, अगर आप कहना चाहें तो *बिग बैंग* से पहले, कोई विशाल रिक्त स्थान नहीं था जिसे कि भरा जाना हो। न कोई आकाश था और न ही कोई चीज़ थी। केवल अप्रकट था-अद्वैत। वह अद्वैत, वह एक जब 'एकोहम बहुस्याम' से अनेक हो गया तब अचानक ही आकाश का होना प्रतीत हुआ जिसने कि बहुतों को होने दिया। यह आकाश आया कहां से? क्या यह ईश्वर द्वारा रचा गया था ताकि वह अपनी सृष्टि को उसमें रख सके? बिल्कुल नहीं। आकाश 'कुछ नहीं' है, इसलिए इसे कभी रचा ही नहीं गया।

स्वच्छ आकाश वाली किसी रात्रि में बाहर निकलें। नंगी आंखों से दिखाई पड़ने वाले हज़ारों हज़ार तारे तो उस आकाश में मौजूद तारों की केवल एक अत्यल्प मात्रा है। अत्यंत सक्षम दूरबीनों से एक हज़ार मिलियन आकाशगंगाएं तो अभी तक खोजी जा चुकी हैं। 'अंतरिक्ष के द्वीप' जैसी हर आकाशगंगा में हज़ारों लाख तारे होते हैं। इससे भी अधिक जो बात विस्मयाभिभूत कर देने वाली है वह है आकाश की असीमता और अनंतता, और इसकी वह गहनता और निश्चलता जो कि इस विशालता को होने देती है। इस बात से अधिक विस्मयकारी लेकिन मुग्ध कर देने वाली बात कोई और नहीं हो सकती कि आकाश की विशालता और नीरवता अगम्य है लेकिन फिर भी यह क्या है? आंतरिक शरीर-रिक्तता, केवल विशाल रिक्त स्थान।

इस ब्रह्मांड में हमारे मस्तिष्क तथा हमारी ज्ञानेंद्रियों के जरिए देखा व महसूस किया जाने वाला यह आकाश हमें जैसा प्रतीत होता है वह अप्रकट तथा अव्यक्त ही तो है, मूर्त रूप में। ईश्वर का "शरीर" है यह। और, सबसे बड़ा चमत्कार यह है कि वह नीरवता तथा विशालता जो इस ब्रह्मांड के अस्तित्व को होने देती है, वह केवल बाह्य आकाश में ही नहीं हैं बल्कि वह आपके भीतर भी विद्यमान है। जब आप नितांत रूप से, परिपूर्ण रूप से विद्यमान रहते हैं तब अकस्मात ही आपकी इससे मुलाक़ात मनरहित अवस्था के शांत आंतरिक आकाश के रूप में होती है। आपके भीतर यह असीम गहन रूप में रहता है, विस्तार रूप में नहीं। क्योंकि, आकाशीय विस्तार अंततः अनंत व अथाह गहनता का ही एक मिथ्या बोध होता है-उस अनुभवातीत वास्तविकता का एक स्वाभाविक गुण ही होता है।

अल्बर्ट आइंस्टीन ने कहा है कि आकाश और समय अलग-अलग नहीं हैं। मेरी समझ में यह बात बिल्कुल नहीं आती, लेकिन मुझे लगता है कि वे यह कह रहे हैं कि समय आकाश का चैथा आयाम है। वे इसे ''आकाश-समय का अबाध क्रम'' बता रहे हैं।

जी हां। बाहरी तौर पर आप जिन्हें आकाश और समय के रूप में देखते हैं, वे क़तई तौर पर भ्रम ही हैं, लेकिन उनमें सत्य का एक मूल तत्व रहता है। वे ईश्वर, अनंतता और शाश्वतता के दो ऐसे सारभूत सहज लक्षण हैं जिन्हें ऐसे अनुभूत किया जाता है जैसे कि उनका अस्तित्व आपसे बाहर कहीं हो। आपके भीतर, आकाश और समय का एक-एक आंतरिक प्रतिरूप रहा करता है जो कि दोनों के ही, और आपके भी, सच्चे स्वरूप को प्रकट किया करता है। जब कि आकाश मनरहित अवस्था की स्थिर, निश्चल, और अथाह गहनता होती है, तो समय का प्रतिरूप होती है विद्यमानता, *प्रेज़ैंस*, यानी शाश्वत 'अब' के प्रति सजगता। यह याद रखिए कि इन दोनों में कोई अंतर नहीं है, कोई भेद नहीं है। अपने भीतर जब आकाश और समय को अप्रकट के रूप में-यानी, मनरहितता तथा विद्यमानता के रूप में-प्रत्यक्ष देख-समझ लिया जाता है, तब बाहरी आकाश और समय आपके लिए वजूद तो रखते हैं लेकिन उनका महत्व कम ही रह जाता है। यह संसार भी आपके लिए तब वजूद तो रखता है लेकिन वह आपको फिर बांध नहीं पाता है।

इसलिए, इस संसार का असल प्रयोजन संसार में अटके रहना नहीं है बल्कि इससे पार पाना है। जैसे कि यदि आकाश में कोई चीज़ न होती तो आप आकाश से अनभिज्ञ ही रहते, उसी प्रकार अप्रकट को जानने के लिए, उसके होने का बोध करने के लिए संसार की आवश्यकता तो पड़ती ही है। आपने शायद बुद्ध का यह कथन तो सुना ही होगा, ''अगर कोई भ्रम न होते तो कोई *एन्लाइटेनमैंट* भी न होता।'' यह संसार के माध्यम से और अंततः आपके माध्यम से ही होता है कि अप्रकट स्वयं को जान पाता है। ब्रह्मांड को व्यक्त करने, उसे प्रकट करने के दिव्य प्रयोजन के लिए ही आप यहां आए हैं। *इस बात से पता चलता है कि आप कितने महत्वपूर्ण हैं*!

चैतन्य मृत्यु

जिस स्वप्नरहित निद्रा की चर्चा मैं पहले कर चुका हूं, उसके अलावा एक और भी स्वतः मिलने वाला प्रवेश द्वार है। यह द्वार शारीरिक मृत्यु के समय कुछ देर के लिए खुलता है। अगर अपने जीवनकाल में आप आध्यात्मिक बोध के सभी अन्य अवसरों को चूक गए हैं, तब भी एक अंतिम द्वार आपके लिए आपके देहावसान के समय खुलने वाला है।

ऐसे अनगिनत किस्से हैं जो उन लोगों ने सुनाए हैं जिन्होंने इस द्वार को एक प्रदीप्त प्रकाश के रूप में प्रत्यक्ष देखा और फिर वे मृत्यु का सान्निध्य कहे जाने वाले अनुभव के बाद जीवन में वापस लौट आए। उनमें से कई लोगों ने वहां एक परम आनंदमय निराकुलता, अनुद्विग्नता, प्रसन्नता और गहन शांति की अनुभूति होने की बात कही है। *तिब्बतन बुक ऑफ़ डैथ* में इसे "परम आकाश के रंगहीन प्रकाश की ज्योतिर्मय शोभा" कहा गया है और उसे "स्वयं आपका सच्चा स्वरूप" बताया गया है। यह द्वार बहुत थोड़े समय के लिए ही खुलता है, और अगर अपने जीवनकाल में आप अप्रकट के रूबरू नहीं हुए हैं तो बहुत संभव है कि आप इसे चूक जाएं। अधिकांश लोग बड़ी मात्रा में फालतू प्रतिरोध, अत्यधिक भय, इंद्रिय भोग के साथ अत्यधिक लगाव और इस प्रकट संसार के साथ अत्यधिक तादात्म्यता को अपने साथ ढोए-ढोए चलते हैं। इसलिए, वे उस द्वार को देखते तो हैं लेकिन भय से पीछे मुड़ जाते हैं और फिर चैतन्यता खो देते हैं। उसके बाद जो कुछ होता है वह स्वतः होता है, बिना इच्छा किए होता है। अंततः जन्म और मरण का अगला चक्र तो होना ही होता है, लेकिन उनकी उपस्थिति इतनी सुदृढ़ नहीं होती कि वह चैतन्य अमरता के लिए काफ़ी हो।

तो क्या इस द्वार में से गुज़रने का अर्थ पूरी तरह अंत हो जाना नहीं है?

जैसा कि अन्य प्रवेश द्वारों के साथ होता है, आपका प्रदीप्त वास्तविक स्वरूप तो बना रहता है लेकिन आपका भौतिक व्यक्तित्व नहीं रहता है। जो भी हो, आपके व्यक्तित्व में जो कुछ भी वास्तविक या सच में महत्वपूर्ण होता है वह आपका सच्चा स्वरूप होता है जो प्रकाशित होता है। वह कभी लोप नहीं होता। जिसका मूल्य है, महत्व है, जो *वास्तविक* है वह कभी लोप नहीं होता।

मृत्यु का आगमन और स्वयं मृत्यु, यानी इस भौतिक देह का अंत होना, यह हमेशा ही आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्ति का एक महान अवसर रहा है। दुर्भाग्य से इस अवसर को प्रायः खो दिया जाता है क्योंकि हम एक ऐसी संस्कृति में रहते हैं जिसका मृत्यु संबंधी ज्ञान बिल्कुल उसी तरह शून्य है जैसे उसका ज्ञान उन विषयों के संबंध में शून्य है जिनका कि वास्तव में महत्व है।

प्रत्येक प्रवेश द्वार मृत्यु का प्रवेश द्वार होता है-मिथ्या की मृत्यु का प्रवेश द्वार। जब आप इसमें से गुज़रते हैं तब आप अपनी मनोवैज्ञानिक व मनरचित छवि को अपनी पहचान मानना बंद कर देते हैं। आपको तब यह ज्ञान हो जाता है कि मृत्यु तो एक भ्रांति है, वैसी ही भ्रांति जैसी कि अपने नाम-रूप के साथ आपकी तादात्म्यता की भ्रांति। भ्रांति का अंत हो जाना-यही है मृत्यु। मृत्यु दुखदायी तभी होती है जब आप भ्रांति से चिपके रहते हैं।

अध्याय आठ

आत्मज्ञान से परिपूर्ण संबंध

जहां भी आप हैं वहीं से 'अब' में प्रवेश कीजिए

मैं हमेशा यही मानता आया हूं कि किसी पुरुष व स्त्री के बीच संबंध में प्रेम के बिना सच्चा आत्मज्ञान, सच्चा एन्लाइटेनमैंट संभव ही नहीं है। क्या प्रेम वह चीज़ नहीं है जो हमें पुनः परिपूर्ण करता है? उस सुख के बिना किसी का जीवन भरपूर कैसे हो सकता है?

क्या यह बात आपके अनुभव पर खरी उतरी है? क्या आपके साथ ऐसा हुआ है?

अभी तक तो नहीं, लेकिन इसके अलावा और क्या हो सकता है? मैं जानता हूं कि ऐसा होगा ही।

दूसरे शब्दों में कहें तो आप *समय* में एक ऐसी घटना होने का इंतज़ार कर रहे हैं जो आपको बचा लेगी। क्या यह वही मूलभूत ग़लती नहीं है जिस पर हम चर्चा करते आ रहे हैं? मुक्ति किसी सुदूर स्थान या सुदूर समय में नहीं है। वह यहीं और अभी उपलब्ध है।

आपके इस कथन का क्या अर्थ है कि मुक्ति यहीं और अभी उपलब्ध है? मैं इसे समझा नहीं। मैं यह भी नहीं जानता कि मुक्ति होती क्या है?

अधिकांश लोग ऐंद्रिक सुख पाने के या तरह-तरह का मानसिक परितोष पाने के पीछे भागते रहते हैं क्योंकि उनको लगता है कि ये चीज़ें उन्हें सुख देंगी या उन्हें अभाव अथवा भय की भावना से छुटकारा दिला देंगी। किसी शारीरिक सुख के माध्यम से पाए जाने वाले सुख को, खुशी को, आप जीवित अवस्था की एक ऊंची संज्ञा के रूप में देख सकते हैं, या मनोवैज्ञानिक परितोष के किसी रूप के माध्यम से अहं के अधिक सुरक्षित होने या

परिपूर्ण होने का भाव महसूस कर सकते हैं। यह असंतुष्टि की व अपूर्णता की अवस्था से मुक्ति पाने की खोज होती है। निरपवाद रूप से, जो भी संतुष्टि उन्हें प्राप्त होती है वह अधिक समय नहीं चल पाती है, अल्पावधि की होती है, इसलिए आमतौर पर एक बार फिर, 'यहां' तथा 'अब' से कहीं दूर किसी काल्पनिक बिंदु पर उस संतुष्टि या उपलब्धि की अवस्था की धारणा बना ली जाती है। "जब मुझे *यह* हासिल हो जायेगा, या जब मैं *उससे* मुक्त हो जाऊंगा-तब मैं सुखी हो जाऊंगा।" यही वह अचेतन मानसिक धारणा है जो कहीं भविष्य में मुक्ति होने का भ्रम रच देती है।

असल मुक्ति है पूर्णता, शांति, भरापूरा जीवन, वह होना जो आप हैं, अपने अंदर वे गुण अनुभव करना जिनका विलोम नहीं है यानी *बीइंग* का वह आनंद जो स्वयं से बाहर किसी चीज़ पर निर्भर नहीं रहा करता है। मुक्ति किसी गुज़रते हुए अनुभव की तरह महसूस नहीं की जाती है, बल्कि एक निवास करती हुई *प्रेज़ैंस* की तरह अनुभव की जाती है। ईश्वरवादी भाषा में, यह "ईश्वर को जानना है"-किसी बाहरी चीज़ की तरह नहीं बल्कि स्वयं अपने ही अंतरतम सारतत्व के रूप में। असल मुक्ति होती है स्वयं को जानना-स्वयं को उस समयनिरपेक्ष और निराकार परम जीवन के अपृथक्य अंग के रूप में जानना जिसमें से समस्त जीवन उत्पन्न हुआ है।

असल मुक्ति स्वतंत्र होने की एक अवस्था है-भय से, दुख से, अभाव और अक्षमता वाली सोच की अवस्था से, और इस तरह समस्त इच्छाओं, आकांक्षाओं, अपेक्षाओं से, लोभ से, आसक्ति से स्वतंत्र होने की अवस्था है मुक्ति। यह स्वतंत्र होना है अनियंत्रित विचार प्रवाह से, नकारात्मकता से, और सबसे ऊपर, अतीत व भविष्य को एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता समझ लेने से। आपका मन आपसे कह रहा है कि आप यहां से वहां नहीं पहुंच सकते, कि कुछ तो घटित होना ही चाहिए या स्वतंत्र तथा पूर्ण होने के लिए आपको यह या वह बनना चाहिए। दरअसल, वह कह रहा है कि आपको समय चाहिए-कि स्वतंत्र होने व पूर्ण होने के लिए आपको आवश्यकता है खोजने की, चुनने की, करने की, उपलब्धि की, हासिल करने की, यह या वह बनने की। समय को आप मुक्ति के साधन के रूप में देखते हैं, जब कि सच यह है कि समय मुक्ति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। आप सोचा करते हैं कि आप यहां से वहां नहीं पहुंच सकते लेकिन अभी आप वहां पहुंचने वाले होते कौन हैं क्योंकि अभी आप या तो पूर्ण नहीं हैं या पर्याप्त योग्य नहीं हैं, लेकिन सच तो यह है कि यहीं और अभी ही केवल वह बिंदु है जहां से आप वहां पहुंच *सकते* हैं। आप यह बोध हो जाने पर वहां "पहुचं" जाते हैं कि आप तो पहले से ही वहां हैं। जिस पल आपको यह ज्ञान हो जाता है कि आपको ईश्वर को तलाशने की आवश्यकता नहीं है, उसी पल आपको ईश्वर मिल जाता है। इस प्रकार, मुक्ति का कोई *एकमेव* मार्ग नहीं है: किसी भी परिस्थिति का प्रयोग किया जा सकता है लेकिन किसी भी विशिष्ट परिस्थिति की आवश्यकता नहीं है। लेकिन, गंतव्य का बिंदु केवल एक है: 'अब'।

इस पल से परे, या जो पल आप के समक्ष है उसके अलावा, कहीं कोई मुक्ति नहीं है। क्या आप अकेले हैं, आपका कोई साथी नहीं हैं? तो, यहीं से 'अब' में प्रवेश करें। क्या आप संबंधमय हैं? तो, यहीं से 'अब' के प्रवेश करें।

इस पल के अलावा कुछ और है ही नहीं कि जिसमें कुछ करके या जिसे पा कर आप मुक्ति के निकट तक भी पहुंच सकें। उस मन के लिए इस बात को पचा पाना मुश्किल ही होगा जो यह सोचने का आदी रहा हो कि जो कुछ भी पाने योग्य है वह केवल भविष्य में है। और, न ही अतीत में आपके द्वारा या आपके प्रति किया गया कुछ भी आपको *जो है* को स्वीकार करने से और अपने अवधान को 'अब' की गहराई में उतारने से रोक सकता है। ऐसा आप भविष्य में नहीं कर सकते। इसे आप अभी कीजिए, फिर यह पल कभी नहीं मिलेगा।

प्रेम/अप्रेम के संबंध

जब तक कि आप *प्रेज़ैंस* की, यानी वर्तमान में विद्यमानता की चैतन्य अवस्था में नहीं पहुंच जाते तब तक आपके सभी संबंधों में, विशेषकर घनिष्ठ संबंधों में, टूटन व झीजन बढ़ती चली जाती है, और अंततः वे बिखर जाते हैं। कुछ समय के लिए, वे संबंध भले ही बिल्कुल दुरुस्त नज़र आते हों, जैसे कि जब आप "प्रेम कर रहे" होते हैं, लेकिन, ऊपर-ऊपर से दिखाई देते इस दुरुस्तपन में तब, निरपवाद रूप से, दरारें पड़ने लगती हैं जब आए दिन होने वाली वाद-विवाद की, टकराव की, असंतोष की, भावनात्मक हिंसा की, और शारीरिक हिंसा की भी, घटनाएं बढ़ती चली जाती हैं। ऐसा लगता है कि ज़्यादातर "प्रेम संबंध" लंबा चलने से पहले ही प्रेम/अप्रेम संबंध में बदल जाते हैं। तब, ज़रा सा बटन दबते ही, प्रेम उग्र, क्रूर व आक्रामक हो उठता है, उसमें शत्रु भाव पनपने लगता है, या वह अनुराग से अपने कदम पूरी तरह वापस खींच लेता है। इसे सामान्य सी बात माना जाता है। तब वह संबंध कुछ दिनों तक, कुछ महीनों तक या फिर कुछ वर्षों तक, प्रेम और अप्रेम के बीच झूलता रहता है, और इससे आपको कभी खुशी मिल जाती है तो कभी ग़म। यह आम बात है कि अधिकतर जोड़े इस कभी खुशी और कभी ग़म के दुष्चक्र के आदी हो जाते हैं। यह नाटक उन्हें यह एहसास देता रहता है कि वे जीवित तो हैं ही। सकारात्मक और नकारात्मक ध्रुवों के बीच का यह संतुलन जब बिगड़ जाता है और नकारात्मक तथा विध्वंसकारी घटनाचक्रों की संख्या और सघनता जब बढ़ती चली जाती है, तब लंबा चलने से पहले ही देर-सबेर, ऐसे संबंध अंततः भरभरा कर गिर ही जाते हैं।

ऐसा लग सकता है कि अगर आप केवल इतना कर सकें कि नकारात्मक या विध्वंसात्मक चक्रों को हटा दें तो सब ठीक हो जायेगा और संबंध बड़ी खूबसूरती से फलने-फूलने लगेंगे-लेकिन अफ़सोस, यह संभव नहीं है। ये दोनों ही ध्रुव एक दूसरे पर निर्भर रहा करते हैं। एक के बिना दूसरा रह नहीं पाता है। सकारात्मकता में अप्रकट रहने वाली नकारात्मकता पहले से ही यथावत् मौजूद रहती है। दरअसल, दोनों ही एक ही गड़बड़ी के अलग-अलग पहलू हैं। मैं यहां उस संबंध की बात कर रहा हूं जिसे आम तौर पर *रोमांटिक* संबंध कहा जाता है-सच्चे प्रेम की नहीं जिसमें कि कोई विरोधिता हुआ ही नहीं करती क्योंकि सच्चा प्रेम मन की उपज नहीं होता। सतत प्रेम की अवस्था अति दुर्लभ है-उतनी ही दुर्लभ जितना कि किसी चैतन्य मनुष्य का मिलना। फिर भी, मन के विचार प्रवाह में अगर कभी कोई अंतराल आ जाता है तब तो प्रेम की संक्षिप्त और अस्थाई झलक देखने को मिल ही जाया करती है।

वास्तव में, संबंधों की सकारात्मक अवस्था की अपेक्षा, उनकी नकरात्मक अवस्था को आसानी से पहचाना जा सकता है। और, खुद में नकारात्मकता के स्रोत को पहचानने की अपेक्षा अपने *पार्टनर* यानी पति/पत्नी या साथी में उसे पहचानना अधिक आसान रहता है। यह कई रूपों में प्रकट हो सकता है, जैसे मालिकाना हक़ जताना, ईर्ष्या करना, अधिकार व नियंत्रण में रखना, किनारा करना, गुस्से में बोलना, छोड़ देना, खुद को सही समझना, असंवेदनशील होना, बस खुद से ही सरोकार रखना, भावनात्मक तकाज़ा करना और स्वार्थ साधना, बहस करने, निंदा करने, फ़ैसला सुनाने, दोषारोपण करने या आक्रमण करने के लिए तैयार रहना, क्रोध करना, किसी अभिभावक द्वारा दिए गए पुराने कष्टों के लिए अचेतन रूप से बदला लेना, रोष में रहना और शारीरिक हिंसा करना।

सकारात्मक पक्ष में, आप अपने साथी के साथ "प्रेममय" रहते हैं। यह सबसे पहली और गहरी संतोषप्रद अवस्था होती है। आप गहन रूप से, प्रबल रूप से स्वयं को जीवंत अनुभव करते हैं। अचानक ही जैसे आपके जीवन को एक अर्थ, एक प्रयोजन मिल गया होता है क्योंकि किसी को आपकी ज़रूरत है, चाहत है, वह आपको महत्वपूर्ण होने का एहसास देता है और आप भी उसके लिए यही करते हैं। जब आप दोनों एक साथ होते हैं तब आपको परिपूर्णता की अनुभूति होती है। यह अनुभूति इतनी प्रबल होती है कि बाकी संसार का जैसे कोई ख़ास महत्व न रह गया हो।

लेकिन, आपने देखा होगा कि आपको उस व्यक्ति की ज़रूरत सी महसूस होने लगती है, आपको उसके साथ रहने की तलब रहती है। मानों आपको उसका चस्का लग गया हो। आपके लिए वह एक ड्रग जैसा हो जाता या हो जाती है। जब तक वह ड्रग आपको उपलब्ध रहती है तब तक आप बहुत प्रसन्न और प्रफुल्ल रहते हैं, लेकिन यह आशंका या विचार भी कि अब वह शायद आपको उपलब्ध न रहे, आपको ईर्ष्या करने, मालिकाना हक़ जमाने, भावनात्मक ब्लैकमेलिंग द्वारा मतलब साधने और दोषारोपण

करने की ओर ले जाता है, और यह सब उसे खो देने के भय से उपजा होता है। अगर वह आपको छोड़ कर चला जाए या चली जाए तो यह बात आपके अंदर प्रचंड शत्रुतापूर्ण रवैया पैदा कर देती है, या फिर आपको अत्यंत गंभीर दुख में डुबा देती है। कुछ पलों में ही प्रेमपूर्ण सहृदयता व सौम्यता एक जंगली आक्रामता या त्रासद दुख में बदल जाती है। अब वह प्रेम कहां गया? क्या प्रेम पल भर में पलट कर इतना प्रतिकूल हो सकता है? तो, पहली अवस्था में जो था क्या वह प्रेम ही था या केवल एक चस्का था उस पर कब्ज़ा करने का, उसका संग-साथ पाने का?

चस्का और पूर्णत्व की तलाश

हमें किसी दूसरे का चस्का लगना ही क्यों चाहिए?

इसका कारण कि क्यों रोमांटिक संबंध इतना प्रबल होता है और क्यों संसार भर में उसके लिए इतनी मारा-मारी हुआ करती है, यह है कि व्यक्ति की उस अवस्था में, जब कि उसमें न तो परिपूर्णता व परिपक्वता आई हो और न ही वह *एन्लाइटेन्ड* हुआ हो, तब उसके अपने अंदर गहरे तक बैठी कमी, खालीपन, ज़रूरत, भय और अपूर्णता वाली अवस्था से यह संबंध उसे छुटकारा दिलाता प्रतीत होता है। उस अवस्था के दो आयाम होते हैं- शारीरिक भी और मनोवैज्ञानिक भी।

शारीरिक स्तर पर, ज़ाहिर है कि आप पूर्ण नहीं हैं और न ही कभी होंगे क्योंकि या तो आप पुरुष हैं या स्त्री हैं, यानी पूर्ण का आधा हैं आप। अतः, इस स्तर पर, पूर्ण होने की चाहत-आधा-आधा मिल कर पूरा हो जाने की चाहत-स्त्री-पुरुष-आकर्षण के रूप में प्रकट होती है, यानी पुरुष को स्त्री की आवश्यकता होने के और स्त्री को पुरुष की आवश्यकता होने के रूप में। इसीलिए, सामने वाले की आकर्षण शक्ति के साथ सम्मिलन करने के अपने आवेग को रोक पाना लगभग असंभव हो जाता है। लेकिन, इस शारीरिक आवेग का मूल कारण तो एक आध्यात्मिक आवेग ही होता है, यानी द्वैत का अंत करने की आकांक्षा, पूर्णता में वापस विलीन हो जाने की लालसा। शारीरिक स्तर पर इस अवस्था को पाने का निकटतम उपलब्ध साधन होता है यौन-समागम। इसलिए, यही वह सबसे अधिक तुष्टिदायक अनुभव है जो कि आपका शरीर आपको प्रदान कर सकता है। लेकिन यौन समागम पूर्णता की एक क्षणिक झलक से अधिक और एक तात्कालिक परमसुख से अधिक कुछ नहीं होता। जब तक, अचैतन्य रहते हुए, इसे आप मुक्ति के एक साधन की तरह चाहते रहेंगे तब तक आप नाम-रूप के संसार में अद्वैत के अंत की तलाश में लगे रहेंगे, जहां कि इसे पाया नहीं जा सकता। इसमें आपको स्वर्ग की ललचाने वाली व

तरसाने वाली एक छोटी सी झलक तो दिखा दी जाती है लेकिन आपको वहां रहने नहीं दिया जाता है, और इसलिए आप खुद को पुनः अपने पृथक शरीर में पाते हैं।

शारीरिक स्तर की अपेक्षा, मानसिक स्तर पर अभाव तथा अपूर्णता वाला यह भाव कहीं अधिकता में हुआ करता है। जब तक आप अपने मन के साथ तादात्म्यता बनाए रखते हैं, तब तक अपने होने की अनुभूति आप बाहर से ही अनुभव किया करते हैं। यानी, यह अनुभूति कि आप कौन हैं उसे आप उन चीज़ों से ग्रहण किया करते हैं जिनका अंततः इस बात से कोई संबंध नहीं होता कि आप कौन हैं, और वे चीज़े हैं आपकी सामाजिक भूमिका, संपत्तियां, बाह्य व्यक्तित्व, सफलताएं, विफलताएं, विश्वास-धारणाएं, इत्यदि। यह मिथ्या व मनरचित 'मैं', यह अहं, हमेशा ही खुद को ख़तरे में महसूस किया करता है, असुरिक्षत महसूस किया करता है, और इसीलिए खुद को यह एहसास दिलाते रहने के लिए कि उसका अस्तित्व बरकरार है, वह नई-नई चीज़ों के साथ खुद को तादात्म्य करने की तलाश में रहा करता है। लेकिन उसे स्थाई परिपूर्णता देने के लिए कोई भी चीज़ पूरी नहीं पड़ती है। अतः, उसका भय बना रहता है, अभाव और आवश्यकता वाला उसका भाव बरकरार रहता है।

लेकिन फिर सामने आ जाता है यह ख़ास रिश्ता, यह विशेष संबध। यह अहं की सारी समस्याओं का समाधान और उसकी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति कर देने वाला प्रतीत होता है। कम से कम प्रथम दृष्टया तो वह ऐसा ही लगता है। वे सभी चीज़ें जिनसे आप अब से पहले अपने स्व का भाव ग्रहण किया करते थे, अब वे अपेक्षाकृत महत्वहीन हो जाती हैं। अब आपका बस एक सूत्री लक्ष्य रह जाता है जो बाकी सबका स्थान ले लेता है, जो आपकी ज़िंदगी को एक वज़ह दे देता है और बस उसी के जरिए आप अपनी पहचान को परिभाषित करने लगते हैं, यानी वह व्यक्ति जिसके साथ आप "प्रेम संबंध" में हैं। फिर आपकी स्थिति इस बेपरवाह संसार में एक कटी पतंग जैसी नहीं रह जाती है। अब आपके जीवन का एक ही केंद्र बिंदु हो जाता है: वह जिसे आप प्रेम करते हैं। यह तथ्य कि वह केंद्र बिंदु आपके बाहर हैं और इसलिए आप अभी भी अपने स्व का भाव बाहर से ही ग्रहण कर रहे हैं-यह शुरू में कोई ख़ास महत्वपूर्ण नहीं लगता है। महत्वपूर्ण यह हो जाता है कि अब आपमें अहम्मन्य अवस्था के लक्ष्ण-जैसे अपूर्णता का, भय का, अभाव का, उपलब्धि न होने का भाव- फिर नहीं रहते। तो, क्या वे ख़त्म हो जाते हैं, या वे सतही खुशी के नीचे अब भी जीवित रहते हैं?

अगर अपने संबंध में आप दोनों को महसूस करते हैं, यानी "प्रेम" को भी और प्रेम के विरोधी-आक्रामकता, भावनात्मक हिंसा इत्यादि-को भी, तब संभावना यही है कि आप प्रेम और अहं के साथ अपने लत जैसे लगाव के बीच भ्रमित हो रहे हैं। सच्चे प्रेम का कोई विलोम, विपरीत या विपक्ष नहीं होता। यदि आपका "प्रेम" कुछ भी ऐसा रखता है जो अप्रेम के अंतर्गत आता है, तो आपका "प्रेम" प्रेम नहीं है बल्कि वह तो आपके गहरे 'मैं'

के भाव के लिए और अधिक पूर्णता पाने के लिए एक प्रचंड अहं की आवश्यकता वाला भाव है, यह वह अभाव तथा आवश्यकता वाला भाव है जिसे वह दूसरा व्यक्ति अस्थाई रूप से पूरा कर रहा होता है। अहं इसे मुक्ति का विकल्प मानता है, और एक अल्प अवधि के लिए तो यह मुक्ति जैसा एहसास देता भी है।

लेकिन एक समय ऐसा भी आता है जब आपका साथी कुछ इस तरह का बर्ताव करने लगता है जो कि आपकी आवश्यकताओं को, बल्कि आपके अहं की आवश्यकताओं को, पूरा नहीं करता। तब भय, दुख, और अभाव, जो कि अहम्मन्य चेतना के अंतरंग अंग होते हैं लेकिन "प्रेम संबंध" द्वारा ढक दिए गए होते हैं, वे पुनः सतह पर आ जाते हैं। जैसा कि हर लत और व्यसन के साथ होता है कि जब वह ड्रग आपको मिल जाती है तब तो आप उसकी खुशी और खुमार में रहते हैं, लेकिन निश्चय ही, एक समय ऐसा भी आता है जब वह ड्रग आपके लिए काम करना बंद कर देती है। ऐसे में वे पुराने दुख पुनः आ धमकते हैं, और तब आप उनकी चुभन पहले के मुकाबले कहीं अधिक शिद्दत से महसूस किया करते हैं; और जो बात और भी अधिक परेशान करने वाली है वह यह है कि आप अपने साथी को ही इन दुखों की *वजह* मानने लगते हैं। इसका मतलब है कि आप यह सब बाहर प्रकट करने लगते हैं और अपने साथी पर हर उस बात से जंगली हिंसा वाला आक्रमण करने लगते हैं जो कि आपके ही दुख-दर्द का हिस्सा होती हैं। आपका यह आक्रमण आपके साथी के दुख को भी जगा सकता है, और इसलिए हो सकता है कि वह भी आपके आक्रमण का जवाब आक्रमण से ही देने लगे। इस बिंदु पर आकर भी, आपका अहं अचैतन्य रूप से यही आशा कर रहा होता है कि इन सब गड़बड़ियों पर किया जाने वाला उसका आक्रमण या आक्रमण का प्रयास आपके साथी के व्यवहार में बदलाव लाने के लिए पर्याप्त दंड रहेगा, ताकि आपका अहं आपके दुखों को ढकने के लिए फिर से उनका प्रयोग कर सके।

कोई भी लत पैदा ही तब होती है जब आप अपनी वेदना का, अपने दुख-दर्द का सामना करने और उसमें से होकर गुज़रने से इंकार कर देते हैं। हर एक लत किसी पीड़ा, किसी दुख के साथ शुरू होती है और दुख के साथ ही समाप्त होती है। जिस भी चीज़ की आपको लत लगी हो, जिस भी चीज़ का आपको चस्का लगा हो-चाहे वह शराब पीना हो, कुछ खाना हो, वैध-अवैध ड्रग्स का सेवन हो या कोई व्यक्ति हो-आप अपने दुख को ढांपने के लिए ही उस वस्तु या उस व्यक्ति का इस्तेमाल कर रहे होते हैं। यही कारण है कि आरंभ की सुखभ्रांति की अवधि बीत जाने के बाद, अंतरंग संबंधों में इतनी अधिक अप्रसन्नता, अप्रियता, खेद और वेदना भर जाती है। दरअसल, आपके संबंध उस खेद और वेदना का कारण नहीं होते हैं, बल्कि वे तो उसी खेद, वेदना, अप्रसन्नता, अप्रियता आदि को प्रकाशित कर रहे होते हैं जो आपके अंदर पहले से ही मौजूद थी। प्रत्येक लत यही करती है। हर एक लत एक ऐसे मुकाम पर पहुंच ही जाती है कि जब वह आपके लिए

काम करना बंद कर देती है, और तब आपको अपनी वेदना, अपने दुख-दर्द अधिक चुभीले लगने लगते हैं।

यह एक कारण है कि क्यों लोग हमेशा ही वर्तमान तथा विद्यमान पल से पलायन करने की और भविष्य में किसी प्रकार की मुक्ति की तलाश करने की कोशिश में लगे रहते हैं। अगर वे अपने अवधान का फ़ोकस 'अब' पर करते हैं तो जो जिस पहली चीज़ का सामना उनको करना होगा वह है उनका अपना दुख, अपनी वेदना, और यही वह चीज़ है जिससे वे ख़ौफ़ खाते हैं। काश वे यह जानते कि 'अब' में रहना कितना आसन है, *प्रेज़ैंस* की, विद्यमानता की, उपस्थिति की उस शक्ति के साथ रहना कितना आसान है जो कि अतीत का तथा उसके दुखों का अंत कर देती है, यह वह वास्तविकता है जो भ्रम-भ्रांति को दूर कर देती है। काश कि वे जानते कि 'अब' में वे अपने सच्चे स्वरूप के कितने निकट रहते हैं, ईश्वर के कितने निकट हैं!

वेदना से, दुख-दर्द से बचने की कोशिश में संबंधों से खुद को अलग कर लेना भी कोई समाधान नहीं है। वेदना और दुख तो तब भी मौजूद रहेंगे। किसी निर्जन द्वीप पर तीन साल बिताने या खुद को तीन साल के लिए अपने कमरे में बंद कर लेने की अपेक्षा कई साल के तीन असफल संबंध आपमें जागरण पैदा करने की अधिक क्षमता रखते हैं। लेकिन, अगर आप अपने अकेलेपन में भी सघन रूप से विद्यमान रहें, उपस्थित रहें तो वह भी आपमें जागरण करने का काम करेगा।

लत जैसे संबंध से *एन्लाइटेन्ड* संबंध की ओर

क्या हम किसी लत जैसे संबंध को एक सच्चे संबंध में परिवर्तित कर सकते है?

जी हां। और, इसका सूत्र यह है-'अब' में गहरे से गहरे तक अपने अवधान को लगाते हुए *प्रेज़ैंट* रहना और उस *प्रेज़ैंस* को घनीभूत करते जाना-भले ही आप अकेले रह रहे हों या अपने साथी यानी पति अथवा पत्नी के साथ। प्रेम के फलने-फूलने के लिए आपकी *प्रेज़ैंस* का प्रकाश काफ़ी तेज़ होना चाहिए ताकि विचारकर्ता या संचित दुख आपके ऊपर हावी न हो जाएं और कभी ग़लती से आप यह न समझ बैठें कि आप वे विचारकर्ता और संचित दुख आप ही हैं। विचारकर्ता के तले *बीइंग* के रूप में खुद को पहचान लेना, मानसिक कोलाहल के तले नीरवता व निःशब्दता को पहचान लेना, दुख-दर्द के तले प्रेम और आनंद को पहचान लेना-यही स्वतंत्रता है, मुक्ति है, *एन्लाइटेन्मैंट* है। संचित-दुख के साथ खुद की तादात्म्यता को तोड़ देना ही उस दुख में अपनी *प्रेज़ैंस* को ले आना है और इस तरह

उसका तत्वांतरण कर देना है। विचार प्रक्रिया से अपनी तादात्म्यता को तोड़ देना अपने विचार और व्यवहार का मूक साक्षी बन जाना है, विशेषकर अपने मन के बार-बार दोहराए जाने वाले ढर्रे का और अहं द्वारा किए जा रहे नाटक का।

अगर आप इन सब को "अहंभाव" के साथ जोड़ना बंद कर दें तो मन अपनी लत जैसी प्रवृत्ति को खो देता है जो कि मूलतः निर्णय-निष्कर्ष निकालना ही होता है, और इसीलिए वह *जो है* के प्रति प्रतिरोध किया करता है; और इसी कारण उत्पन्न होते हैं द्वंद्व, टकराव, तमाशे और नए-नए दुख। दरअसल, *जो है* को स्वीकार करने के जरिए ज्यों ही आप निर्णय-निष्कर्ष लेना बंद कर देते हैं, त्यों ही आपका मन मुक्त हो जाता है। तब आपने प्रेम, आनंद और शांति के लिए खाली स्थान उपलब्ध करा दिया होता है। अतः, सबसे पहले तो आप खुद के बारे में कोई निष्कर्ष निकालना बंद कर दें, फिर आप अपने साथी के लिए कोई निष्कर्ष निकालना बंद करें। किसी संबंध में बदलाव लाने के लिए सबसे बड़ा उत्प्रेरक होता है अपने साथी को पूरी तरह स्वीकार करना, जैसा भी या जैसी भी वह है-उसके बारे में कोई निर्णय-निष्कर्ष निकालने की या उसमें किसी भी तरह का कोई परिवर्तन लाने की आवश्यकता महसूस किए बिना ही। ऐसा करना आपको तुरंत ही अहं के पार ले जाता है, और मन के सारे प्रपंचों का तथा आसक्ति के व्यसन का खेल ख़त्म हो जाता है। फिर न कोई शिकार रहता है और न कोई शिकारी, न कोई आरोप लगाने वाला रहता है और न कोई आरोपी। इससे हर तरह की पारस्परिक परवशता भी समाप्त हो जाती है, और किसी दूसरे के अचेतन तौर-तरीकों के अनुसार ढलते रहने का सिलसिला भी ख़त्म हो जाता है। तब आप या तो अलग हो जाते हैं-प्रेम में-या साथ-साथ 'अब' में यानी *बीइंग* में गहरे और गहरे उतर जाते हैं। क्या यह इतना सीधा-सरल है? जी हां, यह इतना सीधा-सरल ही है।

प्रेम तो *बीइंग* की एक अवस्था है। आपका प्रेम कहीं बाहर नहीं है; वह तो आपके ही भीतर गहराई में है। आप उसको कभी नहीं खो सकते हैं, और न ही वह आपको छोड़ कर जा सकता है। वह किसी अन्य व्यक्ति या किसी बाहरी स्वरूप पर निर्भर नहीं रहता है। अपनी *प्रेज़ैंस* की, विद्यमानता की शांत अवस्था में, अपनी स्वयं की नाम-रूपरहित तथा समयनिरपेक्ष वास्तविकता को आप एक ऐसे अप्रकट जीवन के रूप में अनुभूत कर सकते हैं जो कि आपके भौतिक रूपाकार में प्राण डालता है। तब आप हर इंसान और हर प्राणी के भीतर भी जीवन की वही गहराई महसूस करने लगते हैं। तब आप पृथकता और रूप-स्वरूप के पर्दे के पार देख पाते हैं। यही ऐक्य का बोध है। यही प्रेम है।

ईश्वर क्या है? जीवन के सभी स्वरूपों में सन्निहित परम जीवन। प्रेम क्या है? उस परम जीवन की विद्यमानता को स्वयं में और हर प्राणी में महसूस करना। वही हो जाना। अतः, सारा प्रेम ईश्वर का ही प्रेम है।

प्रेम चयनशील नहीं होता, यानी वह चुनता-छांटता नहीं है, बिल्कुल वैसे ही जैसे सूरज चयनशील नहीं होता। प्रेम किसी एक व्यक्ति को वरीयता नहीं देता, तरजीह नहीं देता। वह बहिष्कारक नहीं होता, यानी वह किसी का बहिष्कार नहीं करता। किसी का बहिष्कार करना ईश्वर से प्रेम करना नहीं होता, बल्कि अहं से "प्रेम" करना होता है। तथापि, सच्चा प्रेम जिस शिद्दत से किया जाता है उसमें न्यूनता-अधिकता हो सकती है। कोई ऐसा व्यक्ति हो सकता है जो कि आपके प्रेम का प्रतिवर्तन, प्रतिबिंबन आपको औरों की अपेक्षा अधिक साफ़ तौर पर और अधिक शिद्दत से करता हो, और यदि वह व्यक्ति भी आपके प्रति ऐसा ही महसूस करता हो तो यह कहा जा सकता है कि आप उसके साथ प्रेममय संबंध में हैं। वह कड़ी जो आपको उस व्यक्ति के साथ जोड़ती है, वह वही कड़ी होती है जो आपको बस में आपके बराबर में बैठे व्यक्ति से, या किसी चिड़िया से, किसी पेड़ से, किसी फूल से जोड़ती है। केवल जिस शिद्दत के साथ इसे महसूस किया जाता है उसकी मात्रा अलग-अलग हो सकती है।

लत जैसे किसी संबंध के अलावा भी, कुछ ऐसे पल आते हैं जब आपकी पारस्परिक चस्के जैसी आवश्यकताओं से परे कभी कुछ अधिक वास्तविक व तात्विक चमक उठता है। ये वे पल होते हैं जब आपके व आपके जोड़ीदार के दोनों के ही मन शांत हो गए होते हैं और दोनों के ही संचित-दुख कुछ समय के लिए सुषुप्तावस्था में चले गए होते हैं। ऐसा कभी-कभी शारीरिक अंतरंगता के दौरान हो जाता है, या जब आप दोनों अपने शिशु के जन्म के चमत्कार पर चकित हो रहे होते हैं, या किसी मृत्यु के अवसर पर या तब जब आपमें से कोई एक गंभीर रूप से बीमार हो गया हो-यानी कोई भी ऐसी बात, ऐसी स्थिति जिसने मन को बलहीन या प्रभावहीन कर दिया हो। जब ऐसा होता है तब आपकी *बीइंग,* जो कि प्रायः मन के नीचे दबी रहती है, वह उद्घाटित हो जाती है, और यही वह स्थिति होती है जहां सच्ची सहभागिता संभव हो पाती है।

सच्ची सहभागिता ही संगम है, ऐक्य का बोध है, यही प्रेम है। अगर आप मन और उसके पुराने ढर्रे को पर्याप्त रूप से बाहर कर के *प्रेज़ैंट* रहने में समर्थ नहीं होते हैं, तो यह प्रायः बहुत जल्द ही खो जाया करता है। ज्यों ही मन और मन के साथ आपकी तादात्म्यता वापस लौट आती है, त्यों ही आप आप नहीं रह जाते हैं बल्कि अपनी मानसिक छवि बन जाते हैं, और फिर आप अपने अहं की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए फिर से खेल खेलने लगते हैं, तमाशे करने लगते हैं। आप फिर से एक मानुष-मन बन जाते हैं, मानवोचित गुण वाला होने का स्वांग भरने लगते हैं, दूसरों के मन पर अपना प्रभाव डालने के प्रयास में रहते हैं, एक तरह का नाटक खेलने लगते हैं जिसे आप "प्रेम" कहा करते हैं।

कभी-कभार, प्रेम की एक हल्की सी झलक मिल जाना भले ही संभव हो जाए, लेकिन प्रेम तब तक फल-फूल नहीं सकता जब कि अपने मन के साथ कर ली गई

तादात्म्यता से आप पूरी तरह मुक्त नहीं हो जाते, और आपकी *प्रेज़ैंस* पर्याप्त रूप से इतनी सघन नहीं हो जाती कि वह संचित-दुख को विगलित कर दे, विनष्ट कर दे-या कम से कम आप एक द्रष्टा की तरह तो *प्रेज़ैंट* रह सकें। तब, संचित-दुख आप पर हावी नहीं हो सकेंगे, और इसलिए वे प्रेमघाती नहीं बन पायेंगे।

संबंध-आध्यात्मिक साधना के रूप में

चेतना की अहम्मन्य अवस्था और वे तमाम सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक ढांचे जो इस अवस्था ने खड़े कर लिए थे, जब धराशायी होने के कगार पर पहुंच जाते हैं, तब पुरुष व स्त्री के बीच संबंध उस संकट की गहन स्थिति को प्रतिबिंबित करने लगते हैं जिसमें कि आज की मानवता अपने आप को पा रही है। खुद को अपने मन से तादात्म्य करना चूंकि इंसान में बढ़ता ही जा रहा है, इसलिए अधिकांश रिश्तों की जड़ें *बीइंग* तक पहुंची ही नहीं हैं, और इसलिए वे रिश्ते समस्याओं और टकरावों के वशीभूत होकर दुख-दर्द में तब्दील होते जा रहे हैं।

आज लाखों लोग या तो अकेले रह रहे हैं या एकल अभिभावक के रूप में रह रहे हैं, क्योंकि वे या तो एक घनिष्ठ संबंध स्थापित करने में असमर्थ रहे हैं या पिछले रिश्ते के पागलपन वाले नाटक को दोहराना नहीं चाहते। अन्य लोग, विपरीत लिंग के आकर्षण के साथ समागम के जरिए परिपूर्णता पाने की मृगमरीचिका में एक के बाद दूसरा रिश्ता बनाते रहते हैं और सुख-दुख के एक चक्र से निकल कर दूसरे चक्र में फंसते रहते हैं। लेकिन कुछ अभी भी ऐसे हैं जो बच्चों की ख़ातिर, या उस रिश्ते की आदत पड़ जाने के कारण, या अकेले पड़ जाने के डर से, या किसी अन्य ऐसे "फ़ायदे" के कारण जो कि परस्परता से ही मिल सकता हो, या उस अचेतन चस्के के कारण जो कि जज़्बाती नाटक और दुख की उत्तेजना पैदा करता हो-उस गड़बड़ी भरे रिश्ते में साथ-साथ रहना जारी रखते हैं भले ही उसमें केवल नकारात्मकता ही भरी रहती हो।

तथापि, हर संकट केवल ख़तरे ही लेकर नहीं आता बल्कि अपने साथ अवसर भी लाता है। अगर रिश्ते अहम्मन्य मन को और उसके तौर-तरीकों को बल दे रहे हो, उन्हें बड़ा बना रहे हों, और अपने स्वभावानुसार संचित-दुख को जगा कर उन्हें सक्रिय कर रहे हों, तब ऐसे रिश्ते से पलायन करने के बजाय, क्यों न इस सच को स्वीकार कर लिया जाए? अपनी समस्या के समाधान के रूप में या परिपूर्णता वाला एहसास पाने के साधन के रूप में, उस रिश्ते से बचने के बजाय, या एक आदर्श जोड़ीदार की मृगमरीचिका के पीछे भागने के बजाय, उसके साथ सहयोग क्यों न किया जाए? किसी भी संकट में छिपा हुआ अवसर तब तक उजागर नहीं होता जब तक कि उस स्थिति के तमाम तथ्यों को

समझ न लिया जाए और उन्हें स्वीकार न कर लिया जाए। जब तक आप उन्हें नकारते रहेंगे, जब तक आप उनसे पलायन करते रहेंगे या यह चाहते रहेंगे कि हालात कुछ और होते, तब तक अवसर की खिड़कियां खुलेंगी ही नहीं, और आप उसी परिस्थिति के जंजाल में उलझे रहेंगे, फंसे रहेगे, और वे भी जस की तस बनी रहेंगी या फिर बद से बदतर होती जायेंगी।

तथ्यों को समझ लेने और उन्हें स्वीकार कर लेने से किसी हद तक उनसे मुक्ति मिल जाती है। उदाहरण के लिए, जब आप *जानते हैं* कि रिश्तों में सामंजस्यता नहीं रही है, यानी उनके सुर बिगड़ गए हैं, उनमें तालमेल नहीं रहा है, और जब इस "जानने" को आप संभाले रखते हैं; तब उस जानने के माध्यम से एक नया ही कारक प्रवेश करता है, और फिर उस असामंजस्यता व असंगति में बदलाव आए बिना नहीं रहता। जब आप *जानते हैं* कि आप अशांत हैं, तब आपका यह जानना ही एक ऐसा शांत आकाश बना देता है जो आपकी अशांति को अपने प्रेमपूर्ण व मृदुल आलिंगन में ले लेता है और इस तरह आपकी अशांतता को शांतता में बदल देता है। जहां तक आंतरिक रूपांतरण की बात है, उसमें आपके लिए कुछ *कर* सकने जैसा कुछ नहीं है। आप खुद का रूपांतरण नहीं कर सकते और, निश्चिय ही, न अपने जोड़ीदार का रूपांतरण कर सकते हैं। जो कुछ आप कर *सकते हैं* वह है एक रिक्त स्थान बनाना ताकि रूपांतरण हो सके, ताकि उसमें क्षमा, अनुकूलता व प्रेम प्रवेश कर सके।

तो, जब कभी भी आपका रिश्ता सुचारू रूप से न चल रहा हो, जब भी वह आपमें व आपके जोड़ीदार के अंदर मौजूद "पागलपन" को बाहर लाने लगे तो खुश हो जाइए। जो कुछ अचेतन में दफ़न था वह प्रकाश में लाया जा रहा होता है। यह तो मुक्ति का एक अवसर है। हर पल, उस पल की जानकारी को जिंदा रखिए, ख़ास तौर से अपने अंतर्मन की दशा को। अगर उसमें क्रोध है, तो यह ज्ञान रखिए कि उसमें क्रोध है। अगर उसमें ईर्ष्या है, प्रतिवाद, वादविवाद करने की सनक है, खुद को सही सिद्ध करने की ललक है, प्रेम व तवज्जो की चाहत वाला शिशुवत स्वभाव है, या किसी भी तरह का कोई दुख-दर्द है-जो कुछ भी है, उस पल की वास्तविकता का *ज्ञान रखिए* और उस ज्ञान को संभाले रखिए। तब वह रिश्ता आपकी साधना बन जाता है, आपकी आध्यात्मिक साधना। जब आप अपने जोड़ीदार में कोई अचैतन्य व्यवहार देखें तो उस व्यवहार को अपने ज्ञान रूपी प्रेमपूर्ण आलिंगन में रखें ताकि आप प्रतिक्रिया न करें। अचैतन्यता और ज्ञान लंबे समय तक साथ-साथ नहीं रह सकते-भले ही वह ज्ञान दूसरे व्यक्ति में हो न कि उसमें जो कि अचैतन्य रूप में व्यवहार कर रहा है। उग्रता तथा आक्रामकता के पीछे रहने वाली ऊर्जा के लिए प्रेम की विद्यमानता बिल्कुल असहनीय होती है। अपने जोड़ीदार की अचैतन्यता

के प्रति भड़क कर जब आप प्रतिक्रिया करते हैं तब आप भी तो अचैतन्य ही हो गए होते हैं। लेकिन अगर ऐसे में अपनी प्रतिक्रिया को *जानना* आपको याद रहता है तब आपका कोई बिगाड़ नहीं होता।

मानवता विकास करने के भारी दबाव में है क्योंकि एक जाति के रूप में अपना अस्तित्व बचाए रखने की यही एकमात्र संभावना है। यह बात आपके जीवन के हर पहलू को प्रभावित करेगी और ख़ास तौर से निकट संबंधों को। अब से पहले संबंध कभी इतने समस्याग्रस्त और द्वंद्व भरे नहीं रहे जितने कि वे आज हैं। अगर आपने ध्यान दिया हो तो देखा होगा कि वे यहां आपको सुख और खुशी देने के लिए, या पूर्णता देने के लिए नहीं हैं। अगर किसी संबंध के माध्यम से आप मुक्ति के लक्ष्य को पाने की कोशिश में लगे रहेंगे तो बारंबार आपका मोहभंग होता रहेगा। लेकिन, अगर आप यह बात स्वीकार कर लेते हैं कि संबंध आपको सुखी व खुश करने के लिए नहीं बल्कि आपको चैतन्य बनाने के लिए हैं तो संबंध आपको मुक्ति प्रस्तुत करेगा और तब आप स्वयं को उस उच्चतर चेतना के स्तर पर ला रहे होंगे जो इस संसार में आना चाहती है। लेकिन जो लोग पुराने ही ढर्रे को थामे रहते हैं उनके लिए तो दुख-दर्द, भ्रम-भ्रांति और पागलपन बढ़ता ही रहता है।

मेरा मानना है कि किसी संबंध को एक आध्यात्मिक साधना बनाने के लिए दो जनों की तो आवश्यकता पड़ेगी ही। उदाहरण के लिए, मेरा जोड़ीदार अभी भी ईर्ष्या करने और लगाम अपने हाथ में रखने के पुराने ढर्रे के व्यवहार पर ही चल रहा है। मैंने कई बार यह बात उसे बताई है लेकिन उसकी समझ में ही नहीं आती है।

अपने जीवन को एक आध्यात्मिक साधना बनाने के लिए आपको कितने जने चाहिएं? अगर आपका जोड़ीदार इसमें सहयोग नहीं कर रहा है तो बुरा मत मानिए। अविक्षिप्तता तथा विवेकशीलता-यानी चैतन्यता-इस संसार में केवल आपके माध्यम से आ सकती है। आपको इस बात की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है कि जब सारा संसार, या कोई और चैतन्य हो जायेगा तब आप *एन्लाइटेन्ड* हो पायेंगे। फिर तो आप जीवन भर प्रतीक्षा में ही बैठे रहेंगे। एक दूसरे पर अचैतन्य होने का दोषारोपण मत करते रहिए। ज्यों ही आप वादविवाद में पड़ जाते हैं, त्यों ही आप अपनी किसी मानसिक अवस्था के साथ तादात्म्य हो जाते हैं और फिर आप न केवल उस अवस्था को बल्कि अपने अहं भाव को भी बचाने में लग जाते हैं। तब बागडोर अहं के हाथ में आ जाती है। आप अचैतन्य हो गए होते हैं। कई बार यही वह सही अवसर होता है जब आप अपने जोड़ीदार के व्यवहार के कुछ पहलुओं की ओर इशारा कर सकते हैं। अगर आप सजग-सचेत हैं, पूरी तरह से *प्रेज़ैंट* हैं तो आप अहं को बीच में लाए बिना भी ऐसा कर सकते हैं-यानी बिना कोई दोषारोपण किए, बिना कोई निंदा-आलोचना किए या बिना उसे ग़लत ठहराए।

जब आपका जोड़ीदार अचैतन्य रूप से व्यवहार करे तो कोई निर्णय-निष्कर्ष मत निकालिए। निर्णय-निष्कर्ष निकालना या तो अपने साथ वालों के साथ किए जाने वाले किसी के अचैतन्य व्यवहार को भ्रमित कर देना है, या दूसरों पर अपनी ही अचैतन्यता थोप देना है, और उन्हें ही अचैतन्य समझने की गलती करना है। निर्णय-निष्कर्ष न लेने का अर्थ यह बिल्कुल नहीं है कि जब आप किसी गड़बड़ी या अचैतन्यता को देखें तो उसे उसी रूप में न आंकें, बल्कि, इस का अर्थ है निर्णय-निष्कर्ष लेकर "प्रतिक्रिया करने" के बजाय "जानना"। ऐसा करने पर या तो आप प्रतिक्रिया से पूरी तरह मुक्त रहेंगे या आप प्रतिक्रिया के बावजूद "जानकार" रहेंगे-यह वह आकाश होगा जिसमें प्रतिक्रिया का अवलोकन होगा और उसे होने भी दिया जायेगा। तब, अंधेरे से जूझने के बजाय आप प्रकाश ला रहे होंगे। ग़लती पर भड़क उठने के बजाय आप उस ग़लती को देखने के साथ-साथ उसमें से पार भी देख रहे होंगे। जानकारी होना प्रेमपूर्ण *प्रेज़ैंस* का एक ऐसे निरभ्र, निर्मल व स्वच्छ आकाश की रचना करता है जिसमें सभी चीज़ों को और सभी लोगों को वैसे ही रहने दिया जाता है जैसे कि वे हैं। उन्हें बदलने वाला कोई बड़ा उत्प्रेरक वहां नहीं रहता है। अगर आप यह अभ्यास करें तो ऐसा नहीं हो सकता कि आपका जोड़ीदार आपके साथ भी रहे और अचैतन्य ही रहे।

अगर आप दोनों ही इस बात पर सहमत हो जाते हैं कि आपका संबंध आपकी आध्यात्मिक साधना बना रहेगा, वह तो सबसे अच्छी बात है। तब, ज्यों ही कोई विचार या कोई भाव उठे, या कोई प्रतिक्रिया आए तो उसे आप एक दूसरे को अभिव्यक्त कर सकते हैं, बता सकते हैं, ताकि आप समय का ऐसा अंतराल न बनने दें जिसमें कि व्यक्त न की गई और दबाई गई कोई भावना, व्यथा या शिकायत घाव न बन जाए, बढ़ न जाए। यह सीखिए कि जो कुछ आप महसूस कर रहे हैं उसे बिना कोई दोषारोपण किए कैसे अभिव्यक्त किया जाए। यह सीखिए कि अपने जोड़ीदार को खुले मन से कैसे सुना जाए, यानी अपने मन में अपने बचाव के लिए कोई मोर्चाबंदी किए बिना ही कैसे सुना जाए। अपने जोड़ीदार को अपनी बात अभिव्यक्त करने देने के लिए स्थान दीजिए। *प्रेज़ैंट* रहिए। निंदा-अलोचना करना, अपना बचाव करना यानी खुद को सही सिद्ध करना, आक्रामक होना-ये सब तौर-तरीके वे हैं जो अहं को पुष्ट करने या उसका बचाव करने या उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए बनाए गए हैं, लेकिन तब ये सभी फ़ालतू की, बेकार की चीज़ें हो जाते हैं। दूसरों को-और खुद को भी-रिक्त स्थान उपलब्ध कराना-यह बहुत महत्वपूर्ण है, अत्यावश्यक है। इसके बिना प्रेम फल-फूल नहीं सकता। संबंधों का विध्वंस करने वाले दो कारकों को अगर आप हटा व मिटा देते हैं-यानी अगर आपने अपने संचित-दुख का तत्वांतरण कर दिया है और अपने मन व मनोदशा के साथ अपनी तादात्म्यता से अब आप हमेशा के लिए बाहर आ गए हैं-और आपके जोड़ीदार ने भी ऐसा कर लिया है, तो अपने संबंध के पल्लवित-पुष्पित होने का आनंद आप अनुभव कर सकते

हैं। एक दूसरे को अपनी पीड़ा और अचैतन्यता का आईना दिखाने के बजाय, एक दूसरे से अपने अहं की लत जैसी ज़रूरतों को पूरा कराने के बजाय, तब आप एक दूसरे के प्रति वह प्रेम प्रतिबिंबित करेंगे जो आप अपने भीतर गहरे में महसूस करते हैं, वह प्रेम जो आप हर कुछ और हर किसी के साथ अपने ऐक्य का भान हो जाने के साथ करते हैं। यही वह प्रेम है जिसका न कोई विलोम है और न कोई विपरीतता।

अगर आप का जोड़ीदार तब भी अपने मन और अपने संचित दुख के साथ तादात्म्यता बनाए रखता है, जब कि आप उस सब से मुक्त व स्वतंत्र हो चुके हों, तब यह एक बड़ी चुनौती होगी, आपके लिए नहीं बल्कि आपके जोड़ीदार के लिए। किसी *एन्लाइटेन्ड* व्यक्ति के साथ रहना कोई आसान बात नहीं होती, बल्कि कहें कि उसके साथ रहना उसके जोड़ीदार के अहं के लिए बड़ा ख़तरा बन जाता है-बिना कुछ किए। याद रखिए कि अहं को खुराक चाहिए होती है-समस्याओं के रूप में, द्वंद्व व टकराव के रूप में और "शत्रुओं" के रूप में-ताकि वह अलगाव की उस भावना को पुष्ट करता रह सके जिस पर कि उसकी पहचान निर्भर करती है। *एन्लाइटेन्ड* व्यक्ति का जोड़ीदार बुरी तरह खिन्न रहने लगता है क्योंकि उसकी अड़ियल बातों का वह कोई प्रतिरोध ही नहीं करता, जिसका अर्थ होता है कि वे बातें डावांडोल होने लगेंगी और कमज़ोर होती चली जायेंगी, और यह "ख़तरा" भी हो सकता है कि कहीं वे पूरी तरह धराशायी न हो जाएं जिसका परिणाम होगा अहं का नुकसान होना। संचित-दुख बारंबार खुराक चाहते हैं लेकिन तब वह उन्हें मिल नहीं पाती है। वादविवाद, बहसबाज़ी, नाटक, तमाशा और द्वंद्व-टकराव की उसकी तलब तब पूरी ही नहीं होती है। किंतु सावधान: कुछ लोग जो अनुक्रिया नहीं करते, जो भावशून्य हैं, उदासीन और असंवेदनशील हैं या अपने एहसासों से कटे रहते हैं, वे ऐसा मान सकते हैं या दूसरों को यह विश्वास दिलाने का प्रयास कर करते हैं कि वे तो *एन्लाइटेन्ड* हैं या कम से कम यह कि उनमें कोई 'गड़बड़ नहीं है' और सारी गड़बड़ उनके जोड़ीदार में हैं। महिलाओं की अपेक्षा पुरुष ऐसा प्रदर्शन अधिक किया करते हैं। वे अपनी जोड़ीदार को कम समझ वाली और भावुक मानते हैं। लेकिन अगर आप अपनी भावनाओं को महसूस कर सकते हैं तो फिर उनके बिल्कुल तले रहने वाले आंतरिक शरीर से दूर नहीं रह जाते हैं। अगर आप मुख्यत: केवल अपने सिर में ही रहा करते हैं तो यह फ़ासला बहुत बढ़ जाता है, और तब अपने आंतरिक शरीर तक पहुंचने के लिए आपको भावनात्मक शरीर में चैतन्यता को प्रवेश कराने की आवश्यकता पड़ती है।

आपके अंदर से यदि प्रेम और आनंद फूट नहीं रहा है, अगर आप पूरी तरह से वर्तमान में विद्यमान नहीं रहते हैं और सभी के प्रति अगर आप खुले नहीं हैं तो यह *एन्लाइटेन्मैन्ट* नहीं है। यह जानने का दूसरा पैमाना यह देखना है कि वह व्यक्ति किसी कठिन या चुनौतीपूर्ण परिस्थिति में या स्थितियां प्रतिकूल हो जाने पर कैसा व्यवहार करता है। अगर आपका *एन्लाइटेन्मैन्ट* एक अहंभाव वाला आत्ममोह है तो जीवन आपको जल्दी

ही एक ऐसी चुनौती देगा जो कि आपकी अचैतन्यता को किसी न किसी रूप में बाहर ले आयेगा-जैसे भय, क्रोध, आत्मरक्षात्मकता, निर्णय-निष्कर्ष, अवसाद, इत्यादि। अगर आप संबंधमय हैं तो आपकी कई चुनौतियां आपके जोड़ीदार की मारफ़त आयेंगी। उदाहरण के लिए, किसी महिला के लिए उसका पति एक भावशून्य पति के रूप में चुनौती बन कर आ सकता है जो कि लगभग पूरी तरह बस अपने सिर में ही रहा करता है। पति के *प्रेज़ैंस* न रहने के कारण पत्नी की बात न *सुन* पाना, उसे तवज्जो न देना और उसके होने के लिए रिक्त स्थान न देना-महिला को ये चुनौतियां मिल सकती हैं। संबंध में प्रेम का लोप हो जाना-जिसे कि पुरुष की अपेक्षा महिला अधिक गहराई तक महसूस करती है-ऐसा होना महिला में संचित-दुख को उभाड़ देता है और उसके जरिए वह अपने पति पर हमलावर हो जाती है-जैसे दोष मढ़ना, निंदा-आलोचना करना, ग़लत ठहराना, इत्यादि। ये ही बातें पलट कर *पति की चुनौतियां* बन जाती हैं। पत्नी के संचित-दुख के आक्रमण से खुद को बचाने के लिए-जिसे कि वह पूरी तरह अवांछित मानता है-वह अपनी ही मनोदशा की खाई में और गहरे उतर जाता है और फिर या तो वह खुद को सही सिद्ध करने में लग जाता है या अपना बचाव करने लगता है या पलट कर हमला करने लगता है। फलस्वरूप, यह सब उसके संचित-दुख को उभाड़ देता है। जब दोनों ही इस तरह से एक दूसरे पर हावी हो जाते हैं तब गहन अचैतन्यता की, भावनात्मक हिंसा की, असभ्यतापूर्ण आक्रमण या पलटवार की अवस्था आ जाती है। और, यह अवस्था तब तक नहीं जाती है जब तक कि दोनों के ही संचित-दुख फिर से खुद को शांत नहीं कर लेते ओर फिर सुषुप्तावस्था में नहीं चले जाते-अगली बार तक के लिए।

असंख्य संभावित घटनाक्रमों में से यह केवल एक उदाहरण है। स्त्री-पुरुष संबंध में अचैतन्यता जिस तरह भभक कर बाहर आती है उस पर अनेकों किताबें लिखी जा चुकी हैं और उनसे भी ज़्यादा अभी और लिखी जा सकती हैं। लेकिन, जैसे कि मैं पहले भी कह चुका हूं, एक बार अगर आप इस विकार का, इस गड़बड़ का मूल कारण जान लें तो फिर आपको यह जानने की ज़रूरत नहीं रह जायेगी कि यह कितने रूपों में प्रकट हुआ करता है।

जिस दृश्य का मैंने उल्लेख किया है, उस पर तनिक एक दृष्टि और डाल लीजिए। ऐसे हर मामले में जो चुनौती रहती है, वह वास्तव में रूप बदल कर आया हुआ मुक्ति का एक अवसर ही होता है। प्रकट हो रही गड़बड़ की प्रक्रिया की हर मामले में, अचैतन्यता से मुक्ति होना संभव है। उदाहरण के लिए, महिला की आक्रामकता पुरुष के वास्ते अपने मन की तादात्म्य अवस्था से बाहर निकल आने के लिए, जाग कर 'अब' में आ जाने के लिए, अपने मन के साथ अधिकाधिक तादात्म्य रहने या अचैतन्य रहने के बजाय *प्रेज़ैंट* रहने के लिए एक संकेत, एक सूचक बन सकता है। महिला, स्वयं संचित-दुख "हो जाने" के बजाय ऐसी जानकार बन सकती है जो कि खुद में ही अपने दुख-दर्द का अवलोकन कर

सके, और इस तरह 'अब' की शक्ति पा सके व दुख-दर्द का तत्वांतरण कर सके। इससे दुख-दर्द के आदतन व अनजाने में ही बाहर फूट कर आने की प्रवृत्ति को दूर किया जा सकता है। तब वह अपनी भावनाओं को अपने पति के सामने अभिव्यक्त कर सकती है। हालांकि इस बात की कोई गारंटी नहीं है कि वह सुनेगा ही, लेकिन यह बात उसे विद्यमान व उपस्थित रहने का एक अच्छा अवसर प्रदान करेगी, और निश्चय ही मन के पुराने ढर्रे के बिना सोचे-समझे और बारंबार बाहर फूट कर आने वाले पागलपन के चक्र को तोड़ देगी। अगर महिला यह अवसर खो देती है तो भी पुरुष स्वयं एक प्रतिक्रिया *बन जाने* के बजाय उसकी पीड़ा के प्रति अपने मानसिक-भावनात्मक प्रतिक्रिया को, अपनी बचाव की मुद्रा को तो देख ही सकता है। तब वह अपने ही संचित-दुख को यकायक भड़कते हुए भी देख पाता है और इस तरह अपनी भावनाओं में चैतन्यता का प्रवेश करा पाता है। इस तरह, विशुद्ध सजगता की एक स्पष्ट व शांत अवस्था का उदय होता है-जानकार होने का, मौन साक्षी होने का, द्रष्टा होने का। यह सजगता की यह अवस्था पीड़ा को नकारती नहीं है लेकिन फिर भी उसके पार रहती है। यह पीड़ा को होने देती है लेकिन साथ ही साथ उसका तत्वांतरण करती जाती है। यह हर चीज़ को स्वीकार करती है और हर चीज़ का रूपांतरण करती जाती है। पत्नी के लिए एक द्वार खुल जाता है जिसमें से होकर वह उस रिक्तता में अपने पति से आसानी से मिल सकती है।

अगर आप अपने रिश्ते में अडिग रूप से, या कम से कम प्रचुर रूप से, *प्रेज़ैंट* रहते हैं, तो आपके जोड़ीदार के लिए यह सबसे बड़ी चुनौती रहेगा। यह उसके लिए कठिन होगा कि वह एक लंबे अरसे तक आपकी *प्रेज़ैंस* को भी सहन करे और अचैतन्य ही बना रहे। अगर वह तैयार है तो अपनी उसी अवस्था में उस द्वार से होकर वह आपसे आ मिलेगा जो आपने उसके लिए खोला है। और, अगर वह तैयार नहीं हो पाया है तो आप दोनों तेल और पानी की तरह अलग-अलग ही रहेंगे। जो व्यक्ति अंधेरे में ही रहना चाहता हो उसे तो रोशनी चुभती ही है।

महिलाएं *एन्लाइटेन्मैन्ट* के निकटतर क्यों हैं

क्या पुरुष और स्त्री के लिए एन्लाइटेन्मैन्ट *के मार्ग की बाधाएं एक जैसी ही होती हैं?*

जी हां, लेकिन अंतर है प्रबलता का। आम तौर पर, महिलाओं के लिए अपने शरीर को महसूस करना और अपने शरीर में रहना अपेक्षाकृत आसान रहता है, इसलिए पुरुष की अपेक्षा वे बीइंग के अधिक निकट रहा करती है और इसलिए उनके लिए *एन्लाइटेन्मैन्ट* की संभावना भी अधिक रहती है। यही कारण है कि अनेक प्राचीन सभ्यताओं ने निराकार

तथा भावातीत वास्तविकता को चित्रित या वर्णित करने के लिए सहज रूप से स्त्री रूप या स्त्री उपमा को ही चुना है। इसे प्रायः एक ऐसे गर्भ के रूप में देखा जाता है जो सृष्टि की हर चीज को जन्म देती है और उसके मूर्त रूप वाले जीवन काल में उसका भरण-पोषण भी करती है। *ताओ ते चिंग* नामक अति प्राचीन तथा अत्यंत गूढ़-गंभीर पुस्तक में *ताओ* को, जिसे कि *बीइंग* माना जा सकता है, इस प्रकार परिभाषित किया गया है-"अनंत, असीम, शाश्वत *प्रेज़ैंट*, संपूर्ण सृष्टि की जन्मदात्री मां"। स्वाभाविक है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां उसके अधिक निकट रहती हैं क्योंकि वे ही अप्रकट एवं अव्यक्त को सचमुच प्रकट करती है, अवतारित करती है। और तो और, समस्त प्राणी तथा अन्य पदार्थ अंततः परम स्रोत में वापस लौट जाते हैं। "सब कुछ ताओ में समाप्त हो जाता है। केवल वही चिरस्थाई रहता है।" और चूंकि स्रोत को स्त्री माना गया है, अतः मनोविज्ञान में तथा पुराणविज्ञान में इसे आद्य-स्त्री के प्रकाश व अंधकार वाले आयामों के रूप में वर्णित किया गया है। परम देवी या दिव्य मां के दो आयाम होते हैं: वह जीवन देती है, और वही जीवन लेती है।

जब मनुष्य के मन का प्रभुत्व हो गया और उस का संपर्क जब अपने दिव्य सार-सत्व के साथ नहीं रहा तब मनुष्यों ने ईश्वर को पुरुष रूप में मानना आरंभ कर दिया। समाज भी पुरुष प्रधान हो गया और स्त्रियों को पुरुष-अधीन बना दिया गया।

मैं यह नहीं कह रहा हूं कि दिव्यता की पहले वाली स्त्री-प्रधान अवस्था में वापस जाया जाए। कुछ लोग अब *ईश्वर* के बजाय *देवी* शब्द का प्रयोग करने लगे हैं। वे स्त्री व पुरुष के बीच के उस संतुलन को फिर से ठीक कर रहे हैं जो कि बहुत पहले कहीं गुम हो गया था, और यह एक अच्छी बात है। लेकिन, अभी भी यह एक प्रतीक ही है, एक धारणा ही है, शायद अस्थाई प्रयोग के लिए है-बिल्कुल वैसे ही जैसे कोई नक्शा या मार्गसूचक कुछ समय के लिए ही प्रयुक्त किया जाता है, लेकिन ये प्रतीक व धारणाएं ही तब सहायक के बजाय बाधक बन जाती हैं जब आप इन तमाम प्रतीकों व धारणाओं से परे की वास्तविकता को जानने की तैयारी कर रहे होते हैं। हालांकि यह सच तो फिर भी बना ही रहता है कि मन की शक्ति का बल हमेशा पौरुषेय ही रहता है। मन प्रतिरोध किया करता है, नियंत्रण अपने हाथ में लेने के लिए जद्दोजहद किया करता है, औरों को इस्तेमाल करता है, हेराफेरी किया करता है, आक्रमण करता है, हथियाने और कब्जाने की कोशिशें किया करता है, वगैरह, वगैरह। यही कारण है कि परंपरागत ईश्वर पितृसत्तात्मक हो गया, वह नियंता-नियंत्रक हो गया, और एक ऐसा क्रुद्ध व्यक्तित्व हो गया जिससे कि आपको डरना ही है, जैसा कि *ओल्ड टैस्टामैंट* में बताया गया है। ऐसा ईश्वर तो मानव मन की ही उपज हो सकता है।

मन से पार जाने के लिए और *बीइंग* के गहन सत्य के साथ पुनः जुड़ने के लिए, एक अलग ही तरह के गुणधर्म की आवश्यकता होती है, जैसे समर्पण, निर्णय-निष्कर्ष से

परहेज़, एक खुलापन जो कि जीवन का प्रतिरोध करने के बजाय उसे होने दे, और सभी को अपनी समझदारी के स्नेहिल आलिंगन में रखने की क्षमता। ये सब गुण स्त्री-भावनाओं के साथ अधिक संबद्ध रहते हैं। मनःशक्ति कठोर और अनम्य होती है, जब कि *बीइंग* की शक्ति कोमल और नम्य होती है, लेकिन फिर भी वह मन के मुकाबले असीम शक्तिशाली होती है। मन हमारी सभ्यता को चलाता है, जब कि *बीइंग* के हाथों में हमारे इस ग्रह का, और परे का भी, समस्त जीवन चलता है। *बीइंग* वही प्रज्ञा है जिसका प्रकट रूप ही इस भौतिक ब्रह्मांड के रूप में हमें दीख रहा है।

आज पुरुषों की और स्त्रियों की भी, अधिकांश संख्या अभी भी मन के अधीन है, यानी वह विचारकर्ता और संचित-दुख के साथ खुद को तादात्म्य किए हुए है। दरअसल, यही वह अवस्था है जो *एन्लाइटेनमैन्ट* नहीं होने देती है, प्रेम को फलने-फूलने नहीं देती है। यह माना जाता है कि पुरुष के लिए तो सबसे बड़ी बाधा उसका विचारकर्ता मन है और स्त्रियों के लिए सबसे बड़ी बाधा उनका संचित-दुख से लगाव होना है, हालांकि कुछ मामलों में स्थिति इससे उलट भी हो सकती है, और कुछ में दोनों बातें हो सकती हैं।

महिलाओं के सामूहिक संचित-दुख का अंत करना

संचित-दुख महिलाओं के लिए एक बड़ी बाधा क्यों है?

संचित-दुख का व्यक्तिगत पहलू भी होता है और सामूहिक पहले भी। व्यक्तिगत पहलू में तो व्यक्ति के निजी अतीत में उठाए गए भावनात्मक दुख-तकलीफ़ों के एकत्र अवशेष आते हैं। सामूहिक पहलू में मानव मन में एकत्र वे दुख-तकलीफ़ आते हैं जो कि हज़ारों वर्षों से रोग, अत्याचार, उत्पीड़न, युद्ध, हत्या, क्रूरता, विक्षिप्तता इत्यादि के माध्यम से मिले हैं। हर एक के संचित-दुख में यह सामूहिक संचित-दुख भी शामिल रहा करता है। सामूहिक संचित-दुख में दुख के कई रूप शामिल रहते हैं। उदाहरण के लिए, जिन जाति-प्रजातियों और देशों ने बहुत अधिक संघर्ष, लड़ाई, कलह और हिंसा झेली हैं उनके संचित-दुख औरों की अपेक्षा भारी होते हैं। कोई भी, जिसका कि संचित-दुख प्रबल हो और जिसमें खुद को दुख की तादात्म्यता से बाहर निकालने की पर्याप्त चैतन्यता न हो, वह न केवल लगातार या समय-समय पर अपने भावनात्मक दुख को पुनः-पुनः जीने के लिए विवश रहता है, बल्कि आसानी से हिंसाकर्ता या हिंसा का शिकार बन जाया करता है-इस बात पर निर्भर करते हुए कि उनके संचित-दुख में प्रधानता किस चीज़ की है, सक्रियता की या निष्क्रियता की। लेकिन, वे *एन्लाइटेन्मैन्ट* की संभावना के निकट भी हो सकते हैं। यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है कि आपको इस संभावना का भान हो जाए,

लेकिन अगर आप किसी दु:स्वप्न जैसी अप्रिय व भयावह अनुभूति या अवस्था में फंस गए है तो शायद आप जागरण के प्रति अधिक प्रबलता से प्रेरित हो जायेंगे-अपेक्षाकृत उस व्यक्ति के जो कि सामान्य परिस्थितियों के केवल थोड़े-बहुत उतार-चढ़ाव में से गुज़र रहा होता है।

अपने निजी संचित-दुख के अलावा भी, हर स्त्री उस संचित-दुख में भी अपना एक अंश रखती है जिसे सामूहिक स्त्री संचित-दुख कहा जा सकता है-जब तक कि वह पूर्ण चैतन्य नहीं हो जाती। इसमें निहित रहता है स्त्रियों द्वारा हज़ारों वर्षों से सहन-वहन किया जाने वह एकत्र दुख जो उसने पुरुष द्वारा किए गए उनके दमन के जरिए, और दासता, उत्पीड़न, बलात्कार, प्रसव, बच्चे की मृत्यु इत्यादि के जरिए पाए हैं। और, वह भावनात्मक तथा शारीरिक पीड़ा जो कि स्त्रियों को मासिक-धर्म से पहले और उसके साथ हुआ करती है, इस संचित-दुख का वह सामूहिक पहलू होता है जो कि अपनी सुषुप्त अवस्था में से उस समय जाग उठता है, हालांकि यह कभी भी जाग सकता है। यह पहलू जीवन ऊर्जा को शरीर में से मुक्त रूप से प्रवाहित होने में बाधा डालता है, यह मासिक-धर्म उसी का प्रकट शारीरिक रूप होता है। यहां थोड़ा ठहर कर हम यह देखें कि यह मासिक-धर्म *एन्लाइटेन्मैन्ट* का एक अवसर कैसे बन सकता है।

स्त्री पर संचित-दुख उस समय "हावी" हो जाता है। आप स्त्रियों में एक अत्यंत शक्तिशाली ऊर्जा का आवेग होता है जो अपने साथ अचैतन्य तादात्म्यता कर लेने के लिए आपको आसानी से खींच सकता है। तब आप एक सक्रिय ऊर्जा क्षेत्र के अधीन हो जाती हैं जो आपके आंतरिक आकाश पर कब्जा कर लेता है और ऐसा दिखाने लगता है कि जैसे वह आप ही हैं-लेकिन, वास्तविकता तो यही है कि वह आप नहीं होतीं। वह आपके माध्यम से बोलता है, आपके माध्यम से कार्य करता व सोचता है। वह आपके जीवन में नकारात्मक स्थितियां पैदा करता है ताकि उस ऊर्जा से वह खुराक ले सके। वह और-और दुख-दर्द चाहता है-किसी भी रूप में। इस प्रक्रिया का वर्णन मैं पहले भी कर चुका हूं। वह एक दुष्चक्र बन सकता है, विनाशकारी हो सकता है। वह अतीत-दुख, खालिस दुख होता है-लेकिन वह आप नहीं होतीं।

जो स्त्रियां पूर्ण चैतन्यता की तरफ़ बढ़ रही हैं, वे पुरुषों की अपेक्षा काफ़ी आगे निकल चुकी हैं और आने वाले वर्षों में उनकी गति और भी तेज़ हो जायेगी। पुरुष उन्हें अंत में भले ही पकड़ पाएं लेकिन काफ़ी लंबे समय तक पुरुष व स्त्री की चैतन्यता के बीच एक फ़ासला तो रहेगा ही। स्त्रियां उस शक्ति को पुनः प्राप्त कर रही हैं जिसे पाने का उन्हें जन्मसिद्ध अधिकार है, और इसीलिए वह शक्ति उनको पुरुषों की अपेक्षा अधिक सहजता से प्राप्त हो रही है, यह शक्ति है प्रकट जगत तथा अप्रकट जगत के बीच, भौतिकता तथा आध्यात्मिकता के बीच, एक सेतु होना। एक स्त्री के रूप में आपका मुख्य कार्य अब यह है कि आप इस संचित-दुख का तत्वांरण करें ताकि आगे कभी यह आपके और आपके

सच्चे स्वरूप के बीच में न आए। साथ ही, *एन्लाइटेन्मैन्ट* के मार्ग में आने वाली एक अन्य बाधा को भी आपको दूर करना है और वह है आपका विचारकर्ता मन, लेकिन संचित-दुख का निवारण करने में जो आपकी प्रबल *प्रेज़ैंस* रहेगी, वह आपको अपने मन की तादात्म्यता से तो मुक्ति दिला ही देगी।

याद रखने वाली पहली बात यह है कि जब तक आप अपने दुख के साथ खुद को तादात्म्य किए रहेंगे, तब तक आप उससे मुक्त नहीं हो सकते। जब तक स्व के भाव का कोई अंश आपके भावनात्मक दुख के साथ निमग्न रहेगा, तब तक अपने दुख के घाव भरने के अपने ही प्रत्येक प्रयास को आप अचैतन्य रूप से खुद ही रोकते और तोड़ते रहेंगे। क्यों? सीधी सी बात है कि आप नहीं चाहते कि आप जैसे हैं उसके साथ कोई छेड़-छाड़ करे, क्योंकि वह दुख आपका एक अभिन्न अंग बन चुका है। यह एक अचैतन्य प्रक्रिया है और इससे पार पाने का एकमात्र उपाय है इसे चैतन्य बनाना।

अचानक यह देखना कि आप अपने दुख के साथ अनुरक्त हैं, चिपके हुए, हैं, या ऐसे ही रहते आए हैं, यह देखना आपके लिए एकदम एक सदमे जैसा लग सकता है। ज्यों ही आपको इस बात का बोध होता जायेगा, त्यों ही आप उस अनुराग से मुक्त होते जायेगे। यह संचित-दुख एक प्रकार का ऊर्जा क्षेत्र होता है, बिल्कुल ऐसा जैसे उसका एक अस्तित्व हो और जो कि अस्थाई रूप से आपके आंतरिक आकाश में आ बसा हो। यह जीवनी शक्ति है जो जाल में फंस गई है, वह शक्ति है जो अब फल-फूल नहीं रही है। निश्चय ही, संचित-दुख उन कुछ बातों के कारण से है जो कि अतीत में हुई हैं। यह आपके अंदर जीवित पलता हुआ अतीत ही है, और अगर आप इसके साथ तादात्म्य हो जाते हैं तो आप अतीत के साथ ही तादात्म्य होते हैं-यानी खुद को शिकार मान बैठना और यह विश्वास कर लेना कि वर्तमान की अपेक्षा अतीत अधिक सशक्त है-हालांकि यह बात सत्य के विपरीत है। यह भी एक विश्वास ही है कि दूसरे लोग और उनके द्वारा आपके प्रति किए गए कार्य-जो आप अब हैं उसके लिए, आपके भावनात्मक दुख के लिए और आपके अपने वास्तविक स्वरूप में न हो पाने के लिए, ज़िम्मेदार हैं। जब कि, सत्य यह है कि जो एकमात्र शक्ति यहां है वह इस पल में, यानी वर्तमान पल में ही समाई हुई है। वह आपकी प्रेज़ैंस की शाक्ति है। जब आप इसे जान जायेंगे तब आप यह भी जान जायेंगे कि आपके अंदर के आकाश के लिए *आप* ही ज़िम्मेदार हैं-और कोई नहीं-और यह भी कि अतीत 'अब' की ताक़त के सामने ठहर नहीं सकता।

तो, तादात्म्यता अपको संचित-दुख के साथ समुचित संव्यवहार करने से रोकती है। कुछ स्त्रियां जो व्यक्तिगत स्तर पर खुद को शिकार होने की छवि से बाहर निकाल लेने के लिए पर्याप्त चैतन्य हो गई हैं, वे भी सामूहिक स्तर पर शिकार होने वाली इस छवि से मुक्त नहीं

हुई हैं-"पुरुषों ने स्त्रियों का क्या हाल कर दिया है"। वे सही भी हैं और ग़लत भी। सही वे इस हद तक हैं कि सामूहिक-स्त्री-संचित-दुख दरअसल सारी धरती पर हज़ारों साल से पुरुष द्वारा स्त्री पर ढायी गई हिंसा तथा स्त्री की मनःशक्ति का दमन इसका बड़ा भाग रही है। लेकिन, ग़लत वे तब हैं जब वे इस तथ्य में से ही स्व का भाव ग्रहण करती हैं और खुद को सामूहिक-पीड़ित-छवि में क़ैद कर लेती हैं। अगर किसी स्त्री में अभी भी क्रोध है, रोष है, कुढ़न है, तिरस्कार व भर्त्सना है, तो वह अपने संचित-दुख को थामे हुए है। इससे उसे पहचान की राहत भरी भावना का, अन्य स्त्रियों के साथ एकात्मकता का एहसास भले ही होता हो, लेकिन यह उसे अतीत के साथ बांधे रखता है और उसे अपने सत्व तथा सच्ची शक्ति के पास पहुंचने से रोकता है। स्त्री अगर खुद को पुरुष से अलग-थलग कर लेती है तो उसे उससे विलगता का एक एहसास पैदा होता है और वह एहसास उसके अहं को ही ताक़त देता है। आपका अहं जितना ताक़तवर होता जायेगा, उतना ही आप अपने सच्चे स्वरूप से दूर होते चले जायेंगे।

इसलिए खुद को एक पहचान देने के लिए अपने संचित-दुख का इस्तेमाल मत कीजिए। इसके बजाय इसका सदुपयोग *एन्लाइटेनमैन्ट* के लिए कीजिए। संचित-दुख का तत्वांतरण करके उसे अपनी चैतन्यता बनाइए। इसके लिए सबसे अच्छे अवसरों में से एक होता है मासिक धर्म का समय। मेरा विश्वास है कि आने वाले वर्षों में अनेक महिलाएं इस दौरान ही पूर्ण चैतन्यता की अवस्था प्राप्त करेंगी। आम तौर पर, बहुत सी महिलाओं के लिए यह समय अचैतन्यता का होता है क्योंकि ऐसे में सामूहिक-स्त्री-संचित-दुख उन पर हावी हो जाता है। जब आप चैतन्यता के एक निश्चित स्तर तक पहुंच जाते हैं, तब आप उसे कितना भी उलटना चाहें लेकिन अचैतन्यता की ओर चलने के बजाय फिर आप अधिकाधिक चैतन्यता की ओर ही बढ़ते जाते हैं। हालांकि इसकी बुनियादी प्रक्रिया मैं बता चुका हूं, लेकिन मैं आपको इसे फिर से बताना चाहता हूं और इस बार यह विशेष रूप से सामूहिक-स्त्री-संचित-दुख के संदर्भ में होगा।

जब आपको लगे कि मासिक धर्म का पहला स्राव आने को है, यानी जब आपको वह लक्षण महसूस हो जिसे प्रायः मासिक धर्म से पूर्व वाला तनाव कहते हैं-यानी सामूहिक-स्त्री-संचित-दुख, तो अत्यंत सजग हो जाइए और अपने शरीर में ही रहने की यथासंभव कोशिश कीजिए। जब मासिक धर्म का पहला लक्षण प्रकट हो जाए, तब आपको इतना अधिक सजग रहने की आवश्यकता होगी कि इससे पहले कि वह आप पर हावी हो जाए, आप ही उसे पहले 'पकड़' लें। उदाहरण के लिए, पहला लक्षण एक अचानक तेज़ चिड़चिड़ापन या क्रोध का आवेग हो सकता है, या वह एक पूरी तरह से शारीरिक लक्षण भी हो सकता है। वह जो भी हो, इससे पहले कि वह आपकी सोच या व्यवहार पर हावी हो जाए, आप ही उसे पकड़ लें। पकड़ने का सीधा सा अर्थ है अपने ध्यान का, तवज्जो का केंद्र उस पर फ़ोकस कर देना। यह एक भाव है, इसके पीछे के बल

को महसूस कीजिए। यह जान लीजिए कि वह संचित-दुख ही है। इसके साथ ही, इस बात की भी जानकार रहिए कि आप चैतन्य रूप से *प्रेज़ैंट* हैं और इस बात की शक्ति भी महसूस कीजिए। जिस किसी भी भावना में आप अपनी *प्रेज़ैंस* को ले जायेंगी वह भावना तेज़ी से सिमट जायेगी और तत्वांतरित हो जायेगी। लक्षण अगर केवल शारीरिक ही है तो जो अवधान आप उसे दे रही हैं वह उसे एक भावना या विचार बनने से रोक देगा। फिर आप सजग रहना जारी रखें और संचित-दुख के अगले लक्षण की प्रतीक्षा करें। जब वह प्रकट हो तब उसे पुनः उसी तरह पकड़ लें जैसे पहले किया था।

बाद में, संचित-दुख जब अपनी सुषुप्त अवस्था में से पूरी तरह जाग जाए, तब आपको अपने आंतरिक आकाश में कुछ समय, या शायद कुछ दिनों के लिए अच्छी ख़ासी खलबली, बेचैनी व अशांति अनुभव होगी। वह जो भी रूप धरे, आप बस *प्रेज़ैंट* रहती रहिए। अपना पूरा अवधान इस पर रखिए। अपने भीतर उस उथल-पुथल को महसूस कीजिए। यह जानिए कि वह वहां है। इस ज्ञान को बनाए रखिए, और फिर वह ज्ञान ही हो जाइए। याद रखिए कि वह संचित-दुख आपके मन का इस्तेमाल न करे और इस तरह आपके सोचने-विचारने पर हावी न हो जाए। उसे पूरे ध्यान से देखिए। उसकी ऊर्जा को सीधे-सीधे अनुभूत कीजिए-अपने शरीर के भीतर। आप जानती ही हैं कि पूरे अवधान का अर्थ होता है पूरी तरह स्वीकार करना।

अवधान को कायम रखने और इस तरह जो है को स्वीकार करने से तत्वांतरण हो जाता है। संचित-दुख रूपांतरित होकर कांतिमय चैतन्यता बन जाता है-बिल्कुल वैसे ही जैसे कोई लकड़ी अग्नि में या अग्नि के बिल्कुल निकट रख दिए जाने पर स्वयं को रूपांतरित करके अग्नि ही बना देती है। मासिक धर्म तब न केवल आपके नरीत्व का एक आनंद व पूर्णता की अनुभूति बन जायेगा बल्कि तत्वांतरण की एक ऐसी पवित्र अवधि भी बन जायेगा जिसमें आप एक नई चेतना को जन्म दे रही होंगी। तब आपका सच्चा स्वरूप दोनों की रूपों में प्रदीप्त हो उठेगा-देवी की तरह स्त्री रूप में भी और उस दिव्य *बीइंग* के भावातीत रूप में भी कि आप पुरुष-स्त्री के द्वैत से परे है।

यदि आपका पुरुष जोड़ीदार पर्याप्त रूप से चैतन्य है तो वह आपको इस अभ्यास में सहायता कर सकता है जिसका वर्णन मैंने अभी-अभी किया है-उस दौरान केवल सघन *प्रेज़ैंस* के आवेग को बनाए रखते हुए। जब-जब भी आप अपने संचित-दुख के साथ वापस अचैतन्य तादात्म्यता में गिरें-और शुरू में ऐसा होगा भी-तब-तब अगर वह *प्रेज़ैंट* बना रहता है तो आप उसकी उस अवस्था में बहुत जल्दी वापस आ मिलेंगी। यानी, जब कभी भी संचित-दुख अस्थाई रूप से हावी होगा, चाहे मासिक धर्म के दौरान या अन्यथा भी, तब आपका जोड़ीदार आपको ग़लत समझने की ग़लती नहीं करेगा। भले ही आपके संचित-दुख उस पर आक्रामक हो जाएं, और शायद होंगे भी, तब वह यह मानते हुए आप पर प्रतिक्रियात्मक नहीं हो उठेगा कि आक्रामक आप ही हो रही हैं, न ही वह नाराज़

होकर अलग हट जायेगा और न ही बचाव की मुद्रा में आ जायेगा। बल्कि, वह सघन *प्रेज़ैंस* के आकाश को थामे व संभाले रखेगा। तत्वांतरण के लिए किसी और चीज़ की आवश्यकता नहीं होती। अन्य समयों पर भी, जब भी कभी वह अपने विचार प्रवाह के साथ खुद को तादात्म्य करने लगे, तब आप इसी तरह उसके साथ पेश आएं, उसके अवधान को 'यहां और अब' में लाकर उसे उसके मन से बाहर लाएं और इस तरह उसे अपनी चैतन्यता में वापस आने में उसकी मदद करें।

इस तरह, आप दोनों के बीच एक विशुद्ध और उच्च बल का एक स्थाई शक्ति क्षेत्र उदित हो जायेगा। तब, न कोई भ्रम-भ्रांति रहेगी, न कोई दुख-दर्द रहेगा, न कोई द्वंद्व रहेगा, ऐसा कुछ नहीं रहेगा जो कि आप नहीं हैं; और ऐसी अवस्था में ऐसा कुछ भी नही रह सकेगा जो प्रेम नहीं है। यह दिव्यता की पूर्णता का प्रकटीकरण है, यही आपके संबंध का प्रयोजन है-यानी, व्यक्तिगत पहचान की सीमाओं से परे चैतन्यता की अवस्था का रहना। यह चैतन्यता का एक ऐसा भंवर बन जायेगा जो कि अन्य अनेकों को भी अपनी तरफ़ खींच लेगा।

खुद के साथ संबंध को खत्म कर दीजिए

अगर कोई पूर्णतया चैतन्य हो जाए, क्या तब भी उसे किसी संबंध की आवश्यकता रह जायेगी? क्या ऐसा पुरुष तब भी किसी स्त्री की ओर आकर्षित होगा? क्या ऐसी स्त्री तब भी किसी पुरुष के बिना अपूर्णता का अनुभव करेगी?

आप *एन्लाइटेन्ड* हों या न हों, आप या तो एक पुरुष हैं या एक स्त्री हैं, और इस तरह अपनी नाम-रूप वाली पहचान के स्तर पर आप पूर्ण नहीं हैं। आप पूर्ण का आधा भाग हैं। यही आधा-अधूरापन स्त्री-पुरुष के आकर्षण के रूप में प्रकट होता है, विपरीत शक्ति वाले ध्रुव के प्रति खिंचाव के रूप में-भले ही आप कितने भी चैतन्य क्यों न हों। लेकिन उस आंतरिक जुड़ाव की अवस्था में, आप यह खिंचाव अपने जीवन की ऊपरी सतह पर भी कहीं महसूस किया करते हैं। उस अवस्था में जो कुछ आपको होता है वह कुछ-कुछ वैसा ही लगता है। सारा संसार एक विशाल और गहरे सागर की सतह पर लहरों या तरंगों जैसा लगता है, लेकिन जिस तरंग को यह ज्ञान हो जाता है कि वह कुछ अलग नहीं बल्कि सागर ही है, और इस तरह जिसे अपनी विशालता तथा गहनता का भान हो जाता है, तब उसके लिए लहरों और तरंगों के संसार का कोई महत्व नहीं रह जाता है।

इस बात का यह अर्थ नहीं है कि आप अन्य लोगों से या अपने जोड़ीदार से गहराई तक न जुड़ें। दरअसल, आप गहरे तक केवल तभी जुड़ सकते हैं जब आप *बीइंग* के प्रति चैतन्य रहते हैं। *बीइंग* से आने के चलते आप नाम-रूप के पर्दे के पार भी फ़ोकस कर सकते हैं। *बीइंग* में रहते हुए पुरुष और स्त्री एक ही रहते हैं। आपके नाम-रूप के लिए तो कुछ आवश्यकताओं का होना जारी रहेगा, लेकिन *बीइंग* के लिए कोई आवश्यकता नहीं होती। वह तो पहले से ही संपन्न है, संपूर्ण है। वे आवश्यकताएं पूरी हो जाएं तो अच्छी बात है लेकिन उनके पूरे होने या न होने से आपकी गहरी आंतरिक अवस्था पर कोई अंतर नहीं पड़ता। इसलिए, किसी *एन्लाइटेन्ड* व्यक्ति के लिए यह बिल्कुल संभव है कि यदि पुरुष या स्त्री वाला उसका आकर्षण पूरा नहीं होता है तो अपने बाह्य जीवन में उसकी कमी महसूस करने के बावजूद, वह पूरी तरह पूर्ण रहता है, परिपूर्ण रहता है और भीतर से शांतिमय रहता है।

एन्लाइटेनमैन्ट की खोज में, समलैंगिक होना क्या सहायक होता है या बाधा बनता है, या इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता?

जब आप वयस्क अवस्था में आते हैं तब आपकी कामुकता यह मानने से कि आप औरों से "भिन्न" हैं, आपको विचार और व्यवहार के सामाजिक बंधे-बंधाए तौर-तरीकों से खुद को अलग करने के लिए ज़ोर डाल सकती है। यह बात स्वतः ही आपकी चेतना के स्तर को उन अधिकांश अचैतन्य लोगों के स्तर से ऊपर उठा देती है जो कि वंशानुगत रूप से प्राप्त तौर-तरीकों को बिना कोई सवाल किए अंगीकार कर लिया करते हैं। ऐसी स्थिति में समलैंगिक होना मदद कर सकता है। किसी हद तक बाहरी होना, कुछ ऐसा होना जो दूसरों को मुनासिब न लगता हो या उनके द्वारा किसी भी कारण से ठुकरा दिया गया हो- यह जीवन को कठिन बना देता है, लेकिन जहां तक *एन्लाइटेनमैन्ट* की बात है, उसके लिए ऐसा होना आपके लिए लाभदायक रहता है, क्योंकि यह आपको अचैतन्यता से बलपूर्वक बाहर कर देता है।

दूसरी तरफ़, तब अगर आप समलैंगिक होने को अपनी पहचान का आधार बना लेते हैं तब तो आप एक जाल से निकल कर खुद को दूसरे जाल में फंसा रहे होते हैं। तब आप अपनी भूमिकाएं और कामधाम अपनी उस मानसिक छवि द्वारा दिए गए अदेशों के अनुसार करेंगे जो आपने एक समलैंगिक के रूप में बना ली है। तब आप अचैतन्य हो जायेंगे। अपने अहं के मुखौटे के अंदर आप उदास ही रहेंगे। लेकिन इससे भी आपको एक और अवसर प्राप्त हो सकता है। बहुत चुभने वाला दुख भी आपमें जागरण लाने का महान कार्य कर सकता है।

क्या यह सच नहीं है कि किसी दूसरे व्यक्ति के साथ एक भरपूर संबंध स्थापित करने पहले यह आवश्यक है कि आप खुद के साथ एक अच्छा रिश्ता बनाएं और खुद को प्रेम करें?

अगर आप अकेले रहते हैं और तब खुद के साथ सहज न रह पाते हों तब उस असहजता को भरने के लिए आपको संबंध की आवश्यकता पड़ती है। यह पक्का समझें कि उस संबंध में भी यह असहजता किसी न किसी रूप में पुनः प्रकट होगी, और उसके लिए शायद आप अपने जोड़ीदार को जिम्मेदार ठहरा दें।

आपको केवल यह करने की आवश्यकता है कि आप वर्तमान पल को पूरी तरह स्वीकार करें। तब आप 'यहां और अब' में सहजता महसूस करेंगे और खुद के साथ भी सहज रहेंगे।

लेकिन क्या आपको अपने साथ रिश्ता बनाने की कोई ज़रूरत है भी? क्यों नहीं आप जैसे हैं वैसे ही रह सकते? जब आप अपने साथ कोई संबंध स्थापित कर लेते हैं तब आप दो में बंट जाते हैं: "मैं" और "मुझे", कर्ता और कर्म। यही मनरचित द्वैत आपके जीवन की तमाम तरह की अनावश्यक जटिलताओं, पेचीदगियों और समस्याओं का मूल कारण हुआ करता है। *एन्लाइटेनमैन्ट* की अवस्था में आप ही *आप* होते हैं-"मैं" और "मुझे" मिल कर एक हो जाते हैं। तब आप अपने गुण-दोष विवेचक नहीं बन जाते, आप खुद के लिए अफ़सोस या खेद महसूस नहीं करते, आप खुद पर गर्व नहीं करते, आप खुद को प्रेम नहीं करते, आप खुद को नफ़रत या नापसंद भी नहीं करते, इत्यदि, इत्यादि। अपना ही अपना सोचने वाली चेतना के कारण हुए वे दो-फाड़ तब भर जाते हैं, उसका अभिशाप मिट जाता है। तब ऐसा कोई "अहं" शेष नहीं रह जाता जिसका संरक्षण करने की, जिसका बचाव करने की, और जिसे खुराक देने की आपको आवश्यकता पड़ती हो। जब आप *एन्लाइटेन्ड* हो जाते हैं तब एक रिश्ता ऐसा होता है जिसे आप फिर आगे नहीं चलाते हैं: खुद के साथ रिश्ता। एक बार जब यह रिश्ता जब छूट जाता है तब आपके सभी संबंध प्रेम के संबंध हो जाते हैं।

अध्याय नौ

सुख-दुख के पार है शांति

भले-बुरे के पार है उच्चतर भलाई

सुख और आंतरिक शांति में क्या कोई अंतर है?

हां, सुख तो स्थितियों के सकारात्मक व अनुकूल हो जाने पर निर्भर करता है, लेकिन आंतरिक शांति किसी पर निर्भर नहीं रहा करती।

क्या यह संभव है कि हम जीवन में केवल सकारात्मक स्थितियों को ही आकर्षित करें? अगर हमारी प्रवृत्ति और हमारी सोच हमेशा ही सकारात्मक रहे तो हम केवल सकारात्मक घटनाओं और स्थितियों को ही पैदा करेंगे, क्या ऐसा नहीं है?

क्या आप सच में जानते हैं कि सकारात्मक क्या होता है और नकारात्मक क्या होता है? क्या पूरी तस्वीर आपके सामने रहती है? बहुत से ऐसे लोग हैं जिनके लिए सीमितता, असफलता, हानि, रोग, या किसी भी रूप में दुख-दर्द होना उनके सबसे बड़े शिक्षक सिद्ध हुए हैं। इन्हीं स्थितियों ने उन्हें सिखाया है अपनी झूठी छवि को तिलांजलि देना और दिखावटी अहं द्वारा तय किए जाने वाले लक्ष्यों और इच्छाओं को छोड़ देना। इन्हीं परिस्थितियों ने उन्हें गहराई दी है, विनम्रता दी है, करुणा दी है। इन्होंने ही उन्हें अधिक सच्चा व खरा बनाया है।

जब कभी भी कुछ नकारात्मक आपके प्रति घटित होता है तो उसमें छिपा हुआ कोई गहरा सबक हुआ करता है, भले ही उस समय वह आपको दिखाई न देता हो। यहां तक कि कोई छोटी बीमारी या कोई छोटी-मोटी दुर्घटना आपको यह दिखा और बता सकती है कि आपके जीवन में क्या वास्तविक है और क्या अवास्तविक, कि आख़िर में क्या महत्व और मायने रखता है और क्या नहीं।

विहंगम दृष्टि से यदि पूरी तस्वीर देखें तो स्थितियां हमेशा ही सकारात्मक *होती हैं*। लेकिन फिर भी सार-संक्षेप में: वे न तो सकारात्मक होती हैं और न ही नकारात्मक। वे तो बस होती है, जैसी भी वे हैं। और, जब आप *जो है* को पूरी तरह स्वीकार करने की अवस्था में रहने लगते हैं-जो कि जीवन को जीने का एकमात्र स्वस्थ, अविक्षिप्त यानी विवेकशील तरीका है-तब आपके जीवन में न कुछ "अच्छा" रह जाता है और न ही कुछ "बुरा"। तब केवल एक परम श्रेष्ठता रहती है जिसमें "बुरा" भी शामिल रहता है। लेकिन, मन की दृष्टि से देखे जाने पर ही वह सब अच्छा-बुरा, पसंद-नापसंद, प्रेम-घृणा दिखाई देते हैं। इसीलिए *बुक ऑफ़ जेनेसिस* में कहा गया है कि आदम और हौवा को तब "स्वर्ग" में रहने नहीं दिया गया जब उन्होंने "अच्छा और बुरा बताने वाले पेड़ के फल को खा लिया था"।

यह बात तो अस्वीकारने और खुद को धोखा देने जैसी लगती है। जब मेरे साथ या मेरे किसी निकट संबंधी के साथ कोई भयावह बात होती है, जैसे दुर्घटना, बीमारी, कोई दुख या मृत्यु, तब भले ही मैं यह दिखावा करूं कि इसमें कुछ बुरा नहीं है, लेकिन सत्य तो यही है कि बुरा हुआ है, तो मैं इस बात से इंकार क्यों करूं?

आप कुछ दिखावा न करें। जो हो रहा है उसे आप बस होने दें। यह "होने देना" आपको मन की प्रतिरोध करने वाली उस प्रवृत्ति से पार ले जायेगा जो उसे सकारात्मक-नकारात्मक का, अच्छे-बुरे का नाम दिया करती है। क्षमा करने का यह एक अनिवार्य अंग होता है। अतीत को क्षमा कर देने से भी अधिक महत्वपूर्ण होता है वर्तमान को क्षमा करना। अगर आप हर पल को क्षमा कर देते हैं-यानी, वह जैसा भी है उसे होने देते हैं-तो ऐसा कोई विद्वेष बचेगा ही नहीं जिसे कि कभी बाद में क्षमा करने की नौबत आए।

याद रखिए कि हम यहां सुख की, खुशी की बात नहीं कर रहे हैं। उदाहरण के लिए अगर हमारा कोई प्रिय मर जाए या आपको लगे कि आपकी मौत निकट आ रही है तब आप खुश थोड़े ही न हो सकते हैं। यह असंभव है। लेकिन आप शांत अवश्य *रह सकते हैं*। आपको दुख भी हो सकता है, आंसू भी आ सकते हैं, लेकिन अगर आपने दुख का प्रतिरोध करना छोड़ दिया है तो उस दुख के तले भी आप एक गहरी प्रशांतता, एक अक्षुब्धता, एक निर्मल प्रेज़ैंस महसूस कर सकते हैं। यह *बीइंग* का प्रदुर्भाव है, यह आंतरिक शांति है, यह वह अच्छापन है जिसका कोई विलोम-प्रतिलोम नहीं होता।

अगर कोई ऐसा स्थिति हो जिसमें मैं कुछ कर सकता हूं, तो? ऐसा कैसे होगा कि मैं उसे होने भी दूं और साथ ही उसे बदल भी रहा होऊं?

आप जो कर सकते हैं वह करें, लेकिन तब भी *जो है* को स्वीकार करें। चूंकि मन और प्रतिरोध, ये दोनों पर्यायवाची ही हैं, इसलिए जो है को स्वीकार करना आपको मन के हावी

होने से तत्काल मुक्त कर देता है और इस प्रकार वह आपको *बीइंग* के साथ पुनः जोड़ देती है। परिणामस्वरूप, "करने" के लिए अहं रचित उकसावे-जैसे भय, लोभ-लालच, नियंत्रण, बचाव, अहं की मिथ्या छवि को खुराक देना-ये निष्क्रिय हो जायेंगे। तब, मन से कहीं अधिक सशक्त प्रज्ञा ने बागडोर संभाल ली होती है, और इसलिए आपके 'करने' में चैतन्यता की एक अलग ही प्रकार की गुणवत्ता आ गई होती है।

"अपने भाग्य के रूप में 'लिखा' जो कुछ भी तुम्हें मिले उसे स्वीकार करो, क्योंकि तुम्हारी आवश्यकताओं में बिल्कुल सही *फ़िट* बैठने वाला और क्या हो सकता है?"-यह बात 2000 साल पहले मार्कस ऑरेलियस लिख गया था जो कि ऐसे अत्यंत दुर्लभ व्यक्तित्व वाले लोगों में से एक था जिसके पास सांसारिक बल भी था और बुद्धिमत्ता भी थी।

ऐसा लगता है कि अधिकतर लोगों को प्रतिरोध करना छोड़ने और जो है को स्वीकार करना शुरू करने से पहले-यानी, क्षमा करना शुरू करने से पहले-अत्यधिक दुख-तकलीफ़ में से गुज़रने की आवश्यकता होती है। जैसे ही वे ऐसा करते हैं, एक बड़ा चमत्कार होता है: जो कुछ बुराई जैसा दीख रहा था उसी के जरिए *बीइंग* की चैतन्यता का जागरण हो जाता है, और दुख-तकलीफ़ आंतरिक शांति में तत्वांतरित हो जाते हैं। संसार की सारी दुख-तकलीफ़ों का अंततः यही प्रभाव होता है कि वह इंसान को यह समझने के लिए विवश कर देती हैं कि अपने नाम और रूप के परे वह क्या है। इस प्रकार, अपनी सीमित दृष्टि से जिसे हम बुराई के रूप में देखते हैं, वह वास्तव में उस उच्चतर भलाई का ही एक अंश होता है जिसका कि कोई विलोम-प्रतिलोम नहीं हुआ करता। लेकिन, आपके लिए यह क्षमा के माध्यम के अलावा अन्यथा सत्य सिद्ध नहीं होता। जब तक आप में क्षमा भाव नहीं आता तब तक बुराई का आना बारंबार होता रहता है और इसलिए बुराई बनी ही रहती है।

क्षमा-जिसका कि सारभूत अर्थ है अतीत की असारता को, व्यर्थता को और अवास्तविकता को पहचानना व समझना तथा वर्तमान को जैसा वह है वैसा होने देना-ऐसी क्षमा के माध्यम से ही रूपांतरण का चमत्कार होता है, न केवल भीतर बल्कि बाहर भी। आपके सघन *प्रेज़ैंस* की अवस्था एक शांत आकाश बन जाती है, न केवल आपके अंदर बल्कि आपके आसपास भी। जो कुछ भी और जो कोई भी, चैतन्यता के इस क्षेत्र में प्रवेश करता है वह इससे प्रभावित होता है, कभी-कभी तुरंत भी होता है और होता हुआ दीखता भी है, और कभी किसी गहरे स्तर पर होता है और तब परिवर्तन थोड़ा बाद में दिखाई देता है। तब आप बिना कुछ करे, केवल अपने *होने* से और उस सघन *प्रेज़ैंस* की तरंगों से ही वैमनस्यता व मतभेदों का समाधान करने लगते हैं, पीड़ा दूर करने लगते हैं और अचैतन्यता का निराकरण करने लगते हैं।

अपने जीवन में नाटकों का अंत करना

जो है को स्वीकार करने और आंतरिक शांति होने की उस अवस्था में, भले ही उसे आप "बुरा" न कहते हों, लेकिन क्या तब भी आपके जीवन में कुछ ऐसा आ सकता है जिसे कि साधारण चेतना की दृष्टि में "बुरा" कहा जाता हो?

लोगों के जीवन में घटित होने वाली अधिकांश तथाकथित बुरी घटनाएं अचैतन्यता के कारण ही होती हैं। वे या तो लोगों द्वारा खुद खड़ी कर ली जाती हैं या फिर अहं द्वारा रची जाती हैं। मैं ऐसी बातों को प्रायः "नाटक" या "नौटंकी" कहा करता हूं। जब आप पूरी तरह चैतन्य रहने लगते हैं तब आपके जीवन में ये नाटक-नौटंकी नहीं हुआ करते। मैं यहां संक्षेप में बताना चाहता हूं कि अहं किस तरह हरकतें करता है और नाटक-नौटंकी का बखेड़ा खड़ा कर दिया करता है।

अहं वह मन है जिसका कभी अवलोकन नहीं किया जाता, जिस पर कभी यह ध्यान ही नहीं दिया जाता कि वह कर क्या रहा है, और आपको यह पता भी नहीं चलता कि आपके जीवन की बागडोर उसनें अपने हाथों में ले ली है और वही उसे चला रहा है क्योंकि आप द्रष्टा के रूप में, अवलोकन करने वाली चैतन्यता के रूप में, *प्रेज़ैंट* नहीं रहा करते हैं। अहं सारे संसार को आक्रामक मानता है और इसलिए खुद को एक ऐसे अलग मान लेता है जैसे उसका किसी अन्य से कोई संबंध ही नहीं है, और जैसे उसके आसपास या चारों ओर सब अहं वाले ही रहते हैं, और इसलिए उन्हें कि वह खुद के लिए संभावित ख़तरा मानता है या उन्हें अपने ही लक्ष्यों के लिए इस्तेमाल करने की कोशिश किया करता है। अहं द्वारा अपने बुनियादी तौर-तरीके खुद के भीतर गहरे में अपने ही भय और अभाव की भावना के साथ जूझने के लिए बनाए गए होते हैं, और वे हैं प्रतिरोध, नियंत्रण, शक्ति व अधिकार, लोभ, बचाव, आक्रामकता। अहं की कुछ युक्ति नीतियां तो अत्यंत चतुराई-चालाकी भरी हुआ करती हैं, लेकिन फिर भी वे इसकी समस्याओं को कभी सुलझा नहीं पाती हैं, केवल इसलिए क्योंकि अहं स्वयं ही वह समस्या होता है।

जब अहं वाले कई लोग साथ मिल जाते हैं, चाहे व्यक्तिगत संबंधों में या संगठनात्मक या संस्थात्मक संबंधों में, तब अप्रिय घटनाएं कभी भी घटित हो सकती हैं- द्वंद्व, टकराव, समस्या, शक्ति व अधिकार का संघर्ष, भावनात्मक या शारीरिक हिंसा, यानी किसी न किसी तरह का नाटक व नौटंकी। इस बुराई में सामूहिक बुराई शामिल हो जाती है, जैसे युद्ध, नरसंहार, और विस्फ़ोट-यह सब एकत्र अचैतन्यता के कारण होता है। इसके अलावा, अहं के निरंतर प्रतिरोध के कारण अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं जो कि शरीर में ऊर्जा के प्रवाह में कमी या बाधा का कारण बन जाते हैं। लेकिन, जब आप *बीइंग* से जुड़ जाते हैं और अपने मन द्वारा संचालित व परिचालित होना बंद कर देते हैं तब आप

ऐसे नाटक-नौटंकी करना बंद कर देते हैं। तब, ऐसे नाटक-नौटंकियों को न तो आप करते हैं और न ही उनमें हिस्सा लेते हैं।

जब दो या दो से अधिक अहंवादी एक साथ आ मिलते हैं तब किसी न किसी तरह कोई नाटक-नौटंकी होना तो निश्चित है। लेकिन अगर आप नितांत अकेले रहते हैं तब भी आप अपना कोई नाटक रच सकते हैं। जब आप खुद के लिए कुछ अफ़सोस कर रहे होते हैं, वह भी नाटक ही है। अगर आपमें अपराध भाव या व्यग्रता पनप रही है, वह भी नाटक है। अगर आप अतीत या भविष्य द्वारा वर्तमान को धूमिल किए जाने दे रहे हैं तो आप समय को यानी मनोवैज्ञानिक समय को रच रहे होते हैं-यह भी वही सामग्री है जिससे कि नाटक की रचना की जाती है। ऐसा होने देने के द्वारा जब कभी भी आप वर्तमान पल का सम्मान नहीं कर रहे होते हैं, तब आप नाटक की रचना ही कर रहे होते हैं।

अधिकतर लोग अपनी ख़ास तरह की नाटक-नौटंकी से बड़ा प्रेम करते हैं। उनकी कथा ही उनकी पहचान होती है। उनका अहं ही उनके जीवन को संचालित कर रहा होता है। अपने स्व का संपूर्ण भाव उन्होंने उसमें ही खपा दिया होता है। यहां तक कि किसी उत्तर, किसी समाधान या किसी सुधार के लिए की जाने वाली उनकी कोई भी तलाश-जो कि प्रायः विफल ही रहती है-वह भी इसी नाटक का एक हिस्सा बन जाया करती है। जिस चीज़ से वे डरते हैं और जिस चीज़ का वे प्रतिरोध करते हैं, वह ही उनके नाटक का उद्देश्य रहा करता है। जब तक वे अपना मन *बने रहेंगे*, तब तक जिस बात वे सबसे अधिक डरते रहेंगे और जिस बात का सबसे अधिक प्रतिरोध रहेंगे, वह है उनकी अपनी जागृति।

जो है को जब आप पूरी तरह स्वीकार करने की अवस्था में रहने लगते हैं तब वह अवस्था ही आपके जीवन में नाटक-नौटंकी का अवसान कर देती है। तब आपके साथ कोई वाद-विवाद भी नहीं कर पाता है, चाहे वह कितनी भी कोशिश कर ले। किसी पूरी तरह सजग व्यक्ति के साथ आप वाद-विवाद या बहस-मुबाहसा भला कैसे कर सकते हैं! वाद-विवाद करने के लिए पहले तो आवश्यक है कि अपने मन तथा मानसिक अवस्था के साथ खुद को तादात्म्य किया जाए, और साथ ही दूसरे व्यक्ति की स्थिति के प्रति प्रतिरोध व प्रतिक्रिया की जाए। नतीजा यह होता है कि आमने-सामने वाले दोनों ही जन एक दूसरे से ऊर्जा व उग्रता प्राप्त कर लेते हैं। ये अचैतन्यता के ही तौर-तरीके हैं। किसी तरह की प्रतिक्रियात्मक उग्रता के बिना भी और बचाव तथा आक्रात्मकता की कोई ढाल-तलवार लिए बिना भी तो आप अपनी बात स्पष्टता तथा दृढ़ता के साथ रख सकते हैं। तब वह बात किसी नाटक में तब्दील नहीं होगी। जब आप पूरी तरह चैतन्य रहते हैं तब आप द्वंद्व में पड़ना बंद कर देते हैं। *ए कोर्स इन मिरैकिल्स* का कथन है-"जो कोई भी स्वस्थ रहता है, यानी स्वयं में स्थित रहता है, वह द्वंद्व करने की सोच ही नहीं सकता।" यह बात न केवल किसी दूसरे के साथ द्वंद्व होने पर लागू होती है, बल्कि उससे भी अधिक मूल रूप से स्वयं अपने ही अंदर द्वंद्व होने पर भी लागू होती है। और, इस तरह आपके अंदर का द्वंद्व-यानी,

मन की मांगों व चाहतों के और *जो है* के बीच चलने वाला द्वंद्व-तब थम जाता है, समाप्त हो जाता है।

अस्थायित्व और जीवन-चक्र

तथापि, जब तक आप अपने इस शरीर में हैं और सामूहिक मानवी मन से जुड़े हुए हैं, तक, कभी-कभी ही सही, लेकिन शारीरिक कष्ट होने की संभावना रहती ही है। इसको दुख, या मानसिक-भावनात्मक पीड़ा मानने की भूल नहीं करनी चाहिए। जितनी भी दुख-तकलीफ़ हैं वे सब अहं द्वारा रचित होती हैं और प्रतिरोध के कारण पैदा होती हैं। साथ ही, जब तक आप इस शरीर में हैं तब तक आप इसके आवागमन के चक्र के अधीन और सभी चीज़ों के अस्थायी होने के विधान के अधीन ही रहेंगे, लेकिन इसे आप "बुरे" के रूप में न देखें-ऐसा बस *है*।

सभी चीज़ों के "है पन" को होने देने से, विरोधाभासों के खेल के नीचे रहने वाला एक गहरा आयाम आपके समक्ष एक चिरस्थायी प्रेज़ैंस की तरह, एक अपरिपवर्तनशील गहन शांति की तरह, अच्छे-बुरे से परे एक कारणरहित आनंद की तरह प्रकट होता है। यह *बीइंग* का आनंद होता है, यह ईश्वरीय शांति होती है।

नाम-रूप के व मूर्त रूप के स्तर पर, अलग-अलग प्रतीत होते नाम-रूपों का जन्म होता है व मृत्यु होती है, सृष्टि और विनष्टि होती है, विकास और विघटन होता है। यह हर तरफ़ देखा जा सकता है: किसी तारे या ग्रह के, पंच तत्व वाले इस शरीर के, पेड़-पौघे के, फूल के, देशों के उत्थान व पतन के, राजनैतिक प्रणाली के, सभ्यताओं के-सभी के जीवन चक्र में यही होता है। और, व्यक्ति के जीवन में हानि व लाभ वाले अवश्यंभावी चक्र में भी आते हैं।

सफलता के चक्र आते हैं-जब चीज़ें आपकी तरफ़ आती हैं, संपन्नता आती है, उन्नति होती है। और, विफलता के चक्र भी आते हैं-जब चीज़ें हाथ से निकल जाती हैं और आपको उन्हें जाने देना पड़ता है ताकि उनकी जगह नई चीज़ें आ सकें या रूपांतरण हो सके। इस मौके पर अगर आप प्रतिरोध करते हैं और जाती हुई चीज़ से चिपके रहते हैं, तो इसका अर्थ है कि आप जीवन के प्रवाह के साथ चलने से इंकार कर रहे हैं, इससे आप दुखी ही होंगे।

यह सच नहीं है कि उठता क्रम अच्छा ही होता है और गिरता क्रम बुरा होता है-यह बात तो मन की धारणा मात्र है। अभिवृद्धि को आम तौर पर सकारात्मक माना जाता है, लेकिन कोई भी चीज़ हमेशा तो बढ़ती नहीं रह सकती। अभिवृद्धि, चाहे वह कोई सी भी हो, यदि लगातार होती रहे तो अंततः वह दैत्या कार हो जायेगी, विनाशकारी हो जायेगी।

नई अभिवृद्धि होने के लिए पुरानी का विघटन आवश्यक है। एक के बिना दूसरा नहीं हो सकता।

आध्यात्मिक ज्ञान के लिए अवनति वाले चक्र का होना अत्यंत आवश्यक है। आध्यात्मिक आयाम की ओर आकर्षित होने के लिए किसी न किसी स्तर पर आपका गहराई तक असफल होना या किसी गहरी हानि या पीड़ा का अनुभव करना आवश्यक है। या हो सकता है कि आपकी सफलता ही इतनी खोखली और निरर्थक हो जाए कि वह असफलता ही लगने लगे। हर सफलता में असफलता छिपी रहती है, और हर असफलता में सफलता छिपी रहती है। इस संसार में, यानी नाम-रूप वाले स्तर पर, हर कोई देर-सबेर असफल होता ही है, और हर उपलब्धि अंततः व्यर्थ व अर्थहीन हो जाया करती है। सभी मूर्त रूप अस्थाई होते हैं।

तब भी, आप सक्रिय हो सकते हैं और नए मूर्त रूपों को रचने व प्रकट करने का आनंद ले सकते हैं लेकिन आपको उनके साथ तादात्म्य नहीं होना होगा। उन्हें अपने स्व का भाव देने की आपको आवश्यकता नहीं है। वे आपका जीवन नहीं हैं-वे आपके जीवन की केवल स्थितियां हैं।

आपकी शारीरिक शक्ति भी चक्रों के अधीन रहती है। वह हमेशा ही पराकाष्ठा पर नहीं रह सकती। उसकी प्रबलता का भी समय आता है और दुर्बल होने का भी। ऐसा भी समय आता है कि जब आप बहुत सक्रिय और रचनात्मक रहते हैं, लेकिन ऐसा भी समय आता है कि जब सब कुछ ठहरा-ठहरा सा हो जाता है, तब ऐसा लगता है जैसे आप कहीं पहुंच नहीं रहे हैं, कुछ हासिल नहीं कर रहे हैं। कोई भी चक्र कितने भी समय के लिए ठहर सकता है-कुछ घंटों से लेकर कुछ वर्षों तक। कुछ चक्र लंबा चलते हैं और उन लंबे चक्रों में छोटे-छोटे चक्र आते-जाते रहते हैं। कई रोग उन चक्रों के विरुद्ध संघर्ष करने से पैदा हो जाते हैं जो दुर्बल शक्ति वाले होते हैं लेकिन वे आत्मोन्नति के लिए महत्वपूर्ण होते हैं। कुछ न कुछ करते रहने की जबरन आदत, और उपलब्धि जैसे कारकों से स्वाभिमान व आत्म-सम्मान महसूस करने वाली प्रवृत्ति-यह वह भ्रांति है जो तब तक बनी रहती है जब तक कि आप अपने मन के साथ तादात्म्यता बनाए रखते हैं। यह प्रवृत्ति किसी भी निम्न चक्र को स्वीकार करना या उसे होने देना आपके लिए कठिन या असंभव ही बना देती है। इस प्रकार, शारीरिक तंत्र की प्रज्ञा आत्म-रक्षात्मक रूप में हावी हो जाती है और कोई न कोई रोग रचती रहती है ताकि आपको रुकने के लिए विवश कर सके, ताकि आवश्यक आत्मोन्नति हो सके।

ब्रह्मांड की चक्रीय प्रकृति तमाम चीज़ों तथा परिस्थितियों के अस्थायित्व के साथ घनिष्ठता से जुड़ी हुई है। बुद्ध ने इसे अपनी शिक्षाओं का केंद्र बनाया है। हर परिस्थिति बिल्कुल अस्थाई होती है और निरंतर प्रवाह व परिवर्तन में रहा करती है, या जैसा कि उन्होंने कहा है-आपके जीवन में आपके सामने आने वाली हर स्थिति, हर परिस्थिति, हर

दशा अस्थायित्व के स्वभाव वाली होती है। अवश्य ही, वह बदलेगी, वह ग़ायब हो जायेगी, या आपको संतुष्ट करना बंद कर देगी। जीसस की शिक्षाओं का केंद्र भी अस्थायित्व रहा है: "धरती पर अपने लिए धन-दौलत का भंडार मत भरो, ज़ंग और दीमक उसे चट कर जायेंगी और चोर सेंध लगा कर उसे लूट कर ले जायेंगे।"

जब तक आपका मन किसी भी स्थिति को "अच्छी" होने का निष्कर्ष निकालता रहता है-चाहे वह कोई संबंध हो, कोई संपत्ति-अधिकार हो, कोई सामाजिक प्रतिष्ठा हो, कोई पद हो, या आपका यह भौतिक शरीर हो, तब तक मन खुद को उसके साथ जोड़ता रहता है, और उसके साथ तादात्म्य करता रहता है। ऐसी स्थिति आपको खुश रखती है, खुद आपको वह अच्छा-अच्छा होना महूसस कराती है, और वह आपका या जो आप खुद को समझते हैं उसका एक हिस्सा बन जाती है। लेकिन ज़ंग और दीमक द्वारा चट कर लिए जाने वाले इस आयाम में कुछ भी दीर्घ काल तक नहीं टिक पाता है। या तो वह ख़त्म हो जाता है या परिवर्तित हो जाता है या उसके ध्रुव बदल जाते हैं-यानी वही स्थिति जो कि कल या पिछले वर्ष अच्छी कही जा रही थी, वह अचानक ही बुरी मानी जाने लगती है। जो स्थिति कभी आपको खुश किया करती थी, वही आपको दुखी करने लगती है। आज की समृद्धि आने वाले कल में खोखला उपभोक्तावाद लगने लगती है। शुभ विवाह और सुखद हनीमून दुखदायी तलाक या बिना तलाक के एक ही छत के नीचे कुढ़ता हुआ साथ बन कर रह जाते हैं। या कोई स्थिति ग़ायब ही हो जाती है और उसका अभाव आपको दुख देने लगता है। जिस स्थिति के साथ मन आसक्त हो गया हो और जिसके साथ उसने खुद को तादात्म्य कर लिया हो, वह स्थिति अगर बदल जाती है या ग़ायब हो जाती है तो मन उस बात को स्वीकार ही नहीं कर पाता है। वह ग़ायब हो चुकी स्थिति से ही चिपक जाता है और बदलाव का विरोध-प्रतिरोध करता है। उसे ऐसा लगता है जैसे कि आपके शरीर से कोई अंग काट कर अलग ही किया जा रहा हो।

ऐसा अक्सर सुनने में आता है कि अमुक व्यक्ति को भारी हानि हो गई या उसकी प्रतिष्ठा जाती रही तो उसने आत्महत्या कर ली। यह ऐसी ही सोच की पराकाष्ठा होती है। बाकी लोग, जब किसी तरह की कोई बड़ी हानि हो जाती है तो बहुत गहराई तक दुखी रहने लगते हैं या खुद को बीमार कर लेते हैं। दरअसल, वे अपने जीवन और जीवन-स्थिति में अंतर नहीं कर पाते हैं। हाल ही में मैंने एक प्रसिद्ध अभिनेत्री के बारे में सुना जिसकी मृत्यु अस्सी से अधिक की उम्र हुई। चूंकि उसकी सुंदरता फीकी पड़ गई थी और वृद्धावस्था ने उसे अनाकर्षक बना दिया था, इसलिए वह बहुत दुखी रहने लगी थी और एकांतवासी हो गई थी। यानी, उसने भी एक स्थिति के साथ-अपने बाहरी रूप के साथ-खुद को तादात्म्य कर लिया था। पहले, उसका बाहरी रूप उसे सुख देता था, उसके अहं की तुष्टि करता था, लेकिन फिर उस रूप का न रहना उसके लिए दुखद हो गया। अगर वह खुद को अपने भीतर के निराकार और समय-निरपेक्ष जीवन से जोड़ लेती तो वह शांत

रहने वाले और क्षुब्ध न होने वाले अपने अंतःकरण से उस फीके पड़ते अपने बाहरी रूप को द्रष्टा की तरह, साक्षी की तरह देख पाती और उसे बस होने देती। इसके अलावा, उसका बाहरी रूप भी उस आंतरिक आभा के कारण लगातार पारदर्शी सा होता जाता जो कि उसके काल से प्रभावित न होने वाले सच्चे स्वरूप से प्रस्फुटित होता, और इस तरह उसकी सुंदरता सचमुच फीकी नहीं पड़ती, वह बस आध्यात्मिक सुंदरता में बदल जाती। लेकिन किसी ने उसे नहीं बताया कि ऐसा भी हो सकता है। ज्ञान का जो प्रकार सबसे अधिक आवश्यक है, अधिकतर लोग उससे अभी भी दूर ही हैं।

बुद्ध ने कहा है कि आपका सुख भी दरअसल दुख ही है-कष्ट है, असंतोष है। सुख अपने विलोम से, यानी दुख से, अलग नहीं रहता। इसका अर्थ यह हुआ कि आपका सुख और दुख दरअसल एक ही चीज़ है। केवल समय के दृष्टि भ्रम के कारण वे अलग-अलग दिखाई पड़ते हैं।

ऐसा सोचना नकारात्मक होना नहीं है। यह तो केवल चीज़ों के स्वभाव-स्वरूप को पहचानना है, ताकि आप जीवन भर किसी मृग मरीचिका के पीछे ही दौड़ते न रह जाएं। न ही, इसका अर्थ यह है कि सुखद व सुंदर चीज़ों या स्थितियों की सराहना करना आप बंद कर दें। लेकिन, उनसे किसी ऐसी चीज़ हासिल करने की चाहत रखना जो कि वे दे ही नहीं सकतीं-जैसे एक पहचान, स्थायित्व का भाव और उपलब्धि-यह अवश्य ही दुख, तकलीफ़ और खिन्नता पाने का नुस्खा है। आज का समूचा विज्ञापन उद्योग और उपभोक्ता समाज एकदम धड़ाम हो जायेगा अगर लोग *एन्लाइटेन्ड* हो *जाएं* और चीज़ों से ही अपनी पहचान बनाना व चीज़ों में ही अपनी पहचान खोजना बंद कर दें। चीज़ों को अपनी पहचान बनाने व मानने में आप जितना अधिक सुख चाहेंगे, उतना ही अधिक आप इनके चक्कर में उलझते जायेंगे। बाहर का कुछ भी आपको कभी सुखी व संतुष्ट नहीं बना सकता-सिवाय अस्थायी तौर पर और सतही तौर पर, लेकिन इस सत्य को पहचानने से पहले आपको कई भ्रांतिमुक्तियों के अनुभव में से गुज़रना होगा। चीज़ें व स्थितियां आपको सुख दे सकती हैं, लेकिन वे आपको दुख भी देंगी। चीज़ें व स्थितियां आपको सुख दे सकती हैं, लेकिन वे आपको आनंद नहीं दे सकतीं। कोई भी चीज़ आपको आनंद दे नहीं सकती। आनंद अकारण होता है, स्वतः होता है और आपके भीतर से ही *बीइंग* के आनंद रूप में प्रस्फुटित होता है। यह शांति की भीतरी अवस्था का एक अभिन्न अंग होता है, उस अवस्था का जिसे ईश्वरीय शांति कहा जाता है। यही आपकी स्वाभाविक व सहज अवस्था होती है, न कि वह कि जिसके लिए अपको कोल्हू का बैल बनने की और उसे पाने के लिए जूझने व संघर्ष करने की आवश्यकता पड़ती हो।

अधिकतर लोग यह समझ ही नहीं पाते हैं कि कोई भी ऐसी चीज़, या कोई भी ऐसा काम कभी भी "मुक्ति" या "उद्धार" नहीं दिला सकता जो आप करते हैं, या अपने स्वामित्व में रखते हैं, या जिसे उपलब्धि मानते हैं। जो लोग इस बात को जान लेते हैं वे अक्सर विरक्त हो जाते हैं या अवसाद में चले जाते है, और कहने लगते हैं: जब कोई भी चीज़ आपको सच्ची पूर्णता प्रदान नहीं कर सकती है तो फिर यह सारी जद्दोजहद काहे के लिए की जाए, किसी भी चीज़ का फिर मूल्य-महत्व भला क्या रह जाता है? *ओल्ड टैस्टामैंट* के पैगंबर अवश्य इस ज्ञान को पा चुके होंगे जब उन्होंने यह लिखा था, "जो कुछ इस धरती पर किया जाता है वह सब मैंने देखा है, इसलिए ध्यान दो, ये सब कुछ असार है, मिथ्याभिमान है, हवा को मुट्ठी में बंद करने की कोशिश करने जैसा है।" जब आप इस मुकाम पर पहुंच जाते हैं तब दुख आपसे दो हाथ दूर रहने लगता है-और आप *एन्लाइटेनमैंट* से बस एक हाथ दूर रह जाते हैं।

एक बौद्ध सन्यासी ने एक बार मुझे बताया, "बीस वर्ष के अपने सन्यासी जीवन में मैंने जो सीखा है उसे मैं संक्षेप में एक वाक्य में इस तरह कह सकता हूं: जो आया है वह जायेगा भी। मैंने यही सीखा है।" जो वह कहना चाह रहा था वह दरअसल यह था: मैंने सीखा है कि *जो है* के प्रति कोई प्रतिरोध मत करो; मैंने सीखा है कि वर्तमान को होने दो और सभी चीज़ों तथा स्थितियों के अस्थाई स्वभाव को स्वीकार करो। इस तरह मैंने शांति पाई है।

जीवन के प्रति प्रतिरोध न करना यानी शालीनता, सुघड़ता, मैत्री-भाव, सहजता, सरलता व प्रफुल्लता की अवस्था में रहना। यह अवस्था फिर इस बात पर निर्भर नहीं करेगी कि चीज़ें एक ख़ास तरह से ही हों, अच्छी या बुरी। यह बात काफ़ी विरोधाभास भरी लग सकती है, लेकिन जब किसी चीज़ पर आप की निर्भरता नहीं रहेगी तो आपके जीवन की साधारण स्थितियों में-यानी बाहरी चीज़ों में-बड़ा सुधार आने लगेगा। वे चीज़ें, लोग और स्थितियां जिन्हें आप समझते थे कि आपके सुख व खुशी के लिए आवश्यक हैं, अब वे आपकी किसी जद्दोजहद और कोशिश के बिना ही आपके पास आने लगेंगे, और जब तक भी वे रहेंगे तब तक आप उनका आनंद ले सकेंगे, उनकी सराहना कर सकेंगे। निस्संदेह, वे सभी चीज़ें तब भी एक दिन गुज़र जायेंगी, उनका दौर आयेगा भी और जायेगा भी, लेकिन चूंकि अब उन पर आपकी निर्भरता नहीं रही है इसलिए उनके जाने का कोई भय आपको नहीं सतायेगा। जीवन सहज व सरल तरह से चला करेगा।

जो सुख, जो खुशी किसी दूसरे स्रोत से हासिल की जाती है, वह बड़ी छिछली व उथली हुआ करती है, वह कभी भी बहुत गहरी नहीं होती है। वह उस *बीइंग* का, उस कांतिमय शांति का केवल एक फीका सा प्रतिबिंब होती है जिस *बीइंग* को आप अपने ही भीतर तब पाते हैं जब आप प्रतिरोध न करने की अवस्था में प्रवेश कर जाते हैं। *बीइंग* आपको मन के परस्पर विपरीत ध्रुवों के पार ले जाती है और चीज़ों पर रहने वाली

निर्भरता से आपको मुक्त कर देती है। आपके चारों ओर भले ही सब कुछ टुकड़े-टुकड़े होकर धराशायी हो जाए, लेकिन आप तब भी अपने अंतरतम की गहन शांति महसूस करेंगे। हो सकता है कि आप खुश न हों, लेकिन आप शांतिपूर्ण रहेंगे।

नकारात्मकता का इस्तेमाल करना और त्यागना

जितने भी आंतरिक प्रतिरोध हैं वे सभी किसी न किसी तरह की नकारात्मकता के रूप में अनुभव किए जाते हैं। नकारात्मकता कोई भी हो, वह प्रतिरोध *ही है*। इस संदर्भ में ये दोनों ही शब्द लगभग पर्यायवाची हैं। नकारात्मकता का फैलाव चिड़चिड़ेपन या अधीरता से लेकर प्रचंड क्रोध तक, एक अवसादी मन या उदासी, खिन्नता, व रूठने वाली नाराज़गी से लेकर आत्मघाती निराशा तक रहता है। प्रतिरोध कभी-कभी भावनात्मक संचित-दुख को जगा देता है, भड़का देता है, और उस अवस्था में कोई छोटी सी भी बात प्रबल नकारात्मकता पैदा कर देती है, जैसे क्रोध, अवसाद या गहरा दुख।

अहं ऐसा मानता है कि नकारात्मकता के जरिए वह वास्तविकता में हेर-फेर कर सकता है और इस तरह वह जैसा चाहता है वैसा पा सकता है। उसका मानना है कि नकारात्मकता के जरिए वह मनोवांछित स्थितियां पा सकता है और अवांछित स्थितियों को रफ़ा-दफ़ा कर सकता है। *ए कोर्स इन मिरैकिल्स* में बड़ा सही संकेत दिया गया है कि जब कभी भी आप दुखी या अप्रसन्न होते हैं तब एक ऐसा अचेतन विश्वास उभर कर आता है कि आपकी अप्रसन्नता आपकी इच्छा को "पूरी कर देगी"। यदि "आप"-अर्थात् मन-यह मानता ही न हो कि अप्रसन्नता कारगर होती है, कामयाब होती है, तो फिर आप उसे पैदा ही क्यों करेंगे? वास्तव में, तथ्य यही है कि नकारात्मकता कारगर व कामयाब कभी नहीं होती। बजाय इसके कि हमारी मनोवांछित स्थिति को पाने में वह सहायक हो, वह उसे आने से ही रोक दिया करती है। बजाय इसके कि अवांछित स्थिति को वह दूर करे, वह उसे हमारे सामने बनाए रखती है। नकारात्मकता की बस एक ही बात वाक़ई काम करती है और वह है हमारे अहं को पुष्ट करना, उसे ताक़त देना, और इसीलिए हमारा अहं इसे बहुत अधिक चाहता है।

एक बार जब आप किसी नकारात्मकता के साथ खुद को तादात्म्य कर लेते हैं तो फिर आप उसे छोड़ना नहीं चाहते हैं, बल्कि एक गहरे अचैतन्य स्तर पर, आप सकारात्मक बदलाव को भी नहीं चाहते हैं। ऐसा करना आपको आपकी दुखी, क्रोधी या सताए गए व्यक्ति वाली छवि के लिए ख़तरा पैदा कर देता है। तब आप अपने जीवन में सकारात्मकता की उपेक्षा करने लगते हैं, सकारात्मक को इंकार करने लगते हैं और उसे

चुपके-चुपके इधर-उधर कर दिया करते हैं। यह एक बहुत ही आम मंजर है, लेकिन यह पागलपन भी है।

नकारात्मकता पूरी तरह अप्राकृतिक है, सृष्टि-क्रम के विरुद्ध है। यह मन को प्रदूषित करने वाली होती है। प्रकृति के विषाक्त होने, उसका विनाश होने के और उस व्यापक नकारात्मकता के बीच गहरा संबंध है जो कि सामूहिक मानव मन में एकत्र हो गई है। मुनष्य के अलावा इस धरती पर कोई भी अन्य जीव नकारात्मकता नहीं जानता। इसी प्रकार, मनुष्य के अलावा इस धरती का अन्य कोई भी जीव धरती का अतिक्रमण, अत्याचार, बलात्कार नहीं करता; इस धरती को विषाक्त नहीं करता जो कि उसका पालन-पोषण करती है, उसे जीवनदान देती है। क्या आपने कभी किसी अप्रसन्न फूल को देखा है, किसी तनावग्रस्त पेड़ को देखा है? क्या किसी ऐसी डॉल्फ़िन को देखा है जो अवसाद में हो, या किसी ऐसे मेंढक को देखा है जिसे अपनी "इज्ज़त" की समस्या हो, या किसी बिल्ली को जो कि चैन से अराम न कर पा रही हो, किसी ऐसी चिड़िया को जो कि नफ़रत और नाराज़गी का बोझ ले कर उड़ रही हो? केवल वे ही पशु-पक्षी कभी-कभी कुछ नकारात्मकता महसूस करते तथा पागलपन का बर्ताव करते दिखाई देते हैं जो कि मनुष्यों के साथ निकट से रह रहे होते हैं और इसीलिए मनुष्यों कि ही मानसिकता और पागलपन से उनके तार जुड़ गए होते हैं।

किसी भी पेड़-पौधे या पशु-पक्षी को ग़ौर से देखिए और वह आपको सिखा देगा कि *जो है* को कैसे स्वीकार किया जाता है, 'अब' के समक्ष कैसे समर्पण किया जाता है। उससे जानिए कि *बीइंग* क्या है। उससे सीखिए कि समग्रता, सत्यनिष्ठा और ईमानदारी-यानी, ऐक्य में रहना, जो आप हैं वही रहना, बिना किसी आडंबर व पाखंड के जीना क्या होता है। वह आपको सिखा देगा कि कैसे जिया जाए और कैसे मरा जाए, और किसी भी समस्या को रचना, उसी में जीना और उसी में मर जाना-यह कैसे *ना* किया जाए।

मैं कई ज़ेन गुरुओं के साथ रहा हूं-वे सभी बिल्लियां हैं। बत्तखों ने भी मुझे महत्वपूर्ण आध्यात्मिक शिक्षाएं दी हैं। बत्तखों को बस देखते रहना एक ध्यान ही है। कितने शांत भाव से वे तैरती चली जाती हैं, स्वयं के साथ सहज रहती है, 'अब' में पूरी तरह *प्रेज़ैंट* रहती हैं; इतनी शानदार और बेनुक्स कि केवल कोई मन से मुक्त प्राणी ही ऐसा रह सकता है। हां, कभी-कभी दो बत्तखों में लड़ाई हो जाती है-कभी किसी अस्पष्ट कारण से, या कभी एक बत्तख द्वारा दूसरी के निजि क्षेत्र में आ जाने के कारण से। लेकिन वह लड़ाई कुछ पल ही चलती है और फिर वे दोनों अलग हो जाती हैं और अलग-अलग दिशाओं में तैर जाती हैं, और कुछ बार अपने पंख ज़ोर से फड़फड़ा देती हैं। फिर वे बड़ी शांति के साथ ऐसे तैरती रहती हैं जैसे वहां कोई लड़ाई हुई ही नहीं थी। जब यह मैंने पहली बार देखा था तो अचानक मुझे यह भान हुआ था कि अपने पंख फड़फड़ा कर वे अपनी अतिरिक्ति ऊर्जा को निकाले दे रही थीं और इस तरह उसे अपने शरीर में ठहरे रहने

और नकारात्मक रूप धारण कर लेने से खुद को बचा रही थीं। यही प्राकृतिक प्रज्ञा है और यह उनके लिए आसान भी है क्योंकि उन्होंने एक ऐसा मन नहीं पाल रखा है जो कि अतीत को अनावश्यक रूप से जिंदा बनाए रखे और फिर उसके साथ खुद को तादात्म्य कर ले।

क्या किसी नकारात्मक भावना में भी कोई महत्वपूर्ण संदेश छिपा नहीं होता है? उदाहरण के लिए, मैं अक्सर अवसाद महसूस करता हूं, यह एक संकेत हो सकता है कि मेरे जीवन में कुछ ऐसा हो रहा है जो नहीं होना चाहिए, और यह मुझे अपने जीवन में झांकने के लिए और आवश्यक बदलाव करने के लिए बाध्य करता है। इसलिए, मुझे अपनी इस भावना को सुनने की आवश्यकता है, न कि उसे केवल नकारात्मक कह कर खारिज कर देने की।

हां, बार-बार आने वाली नकारात्मक भावना कभी-कभी कोई संदेश लेकर आती तो है, बीमारी की तरह ही। लेकिन, आपके द्वारा किया जाने वाला कोई भी बदलाव, चाहे वह आपके काम-धाम के साथ हो, आपके संबंधों के साथ हो या आपके परिवेश के साथ हो, वह अंततः तब तक ऊपरी व दिखावटी ही रहता है जब तक कि वह आपकी चेतना के स्तर पर आने वाले बदलाव से प्रस्फुटित नहीं होता। और जहां तक ऐसे बदलाव की बात है, इसका केवल एक ही अर्थ होता है और वह है: अधिकाधिक *प्रेज़ैंट* रहना। जब आप *प्रेज़ैंस* के एक निश्चित स्तर पर पहुंच जाते हैं तब आपको किसी ऐसी नकारत्मकता की आवश्यकता नहीं रह जाती है कि वह आए और आपको बताए कि आपकी जीवन स्थिति में क्या कुछ करने की आवश्यकता है। लेकिन जब तक नकारात्मकता *मौजूद है*, उसका इस्तेमाल कीजिए। उसका इस्तेमाल एक ऐसे संकेत के रूप में कीजिए कि वह आपको अधिकाधिक *प्रेज़ैंट* रहने की याद दिलाती रहती हो।

ऐसा कैसे हो कि नकारात्मकता पैदा ही न हो, और अगर हो भी जाए तो हम उससे तत्काल छुटकारा पा सकें?

जैसा कि मैंने बताया है, पूरी तरह से *प्रेज़ैंट* रहने पर आप उसे पैदा होने से रोक सकते हैं। लेकिन हतोत्साहित मत होइए। इस धरती पर ऐसे कम ही लोग हैं जो कि निरंतर *प्रेज़ैंस* की अवस्था में बने रह सकते हैं, कुछ ऐसे भी हैं जो इस अवस्था के काफ़ी निकट रहते हैं। और मुझे विश्वास है कि जल्दी ही काफ़ी सारे लोग इस अवस्था में रहने वाले हो जायेंगे।

जब कभी भी आपको लगे कि आपके अंदर कोई नकारात्मकता पैदा हो रही है तो आप उसे ऐसे देखें जैसे आप किसी फ़र्नीचर को देखते हैं, लेकिन उसे एक मददगार संकेत

की तरह भी देखें जो आपसे कह रहा हो: "जागो, अपने मन से बाहर निकल आओ। *प्रेज़ैंट* रहो।"

अल्डस हक्सले का एक उपन्यास है: *आइलैंड*, जो उन्होंने अपनी काफ़ी बड़ी उम्र में तब लिखा था जब आध्यात्मिक शिक्षाओं में उनकी दिलचस्पी बहुत बढ़ गई थी। यह एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है जिसकी नाव टूट कर एक ऐसे दूरस्थ और निर्जन टापू पर जा लगी थी जो कि बाकी दुनिया से बिल्कुल कटा हुआ था। उस टापू पर एक अनूठी सभ्यता रह रही थी। उस सभ्यता की एक असाधारण बात यह थी कि बाकी दुनिया के विपरीत वे लोग सचमुच स्वस्थ चित्त थे, विवेकी थे, अविक्षिप्त थे, पागल नहीं थे। जिस बात ने हक्सले का ध्यान सबसे पहले आकृष्ट किया वे थे रंगबिरंगे तोते जो पेड़ों पर अपन अड्डा जमाए हुए थे और ऐसा लग रहा था कि वे लगातार इन शब्दों को बोल रहे थे "ध्यान दो! 'यहां' और 'अब'। ध्यान दो! 'यहां' और 'अब'।" हमें बाद में पता चला कि टापूवासियों ने ही उन्हें ये शब्द सिखाए थे ताकि *प्रेज़ैंट* रहने के लिए उन्हें यह बात लगातार याद दिलाई जाती रहे।

इसलिए, जब कभी भी आप को लगे कि आपके अंदर नकारात्मकता अपना सिर उठा रही है-ऐसा चाहे किसी बाहरी बात के कारण हो, किसी विचार के कारण हो या फिर ऐसे किसी विशेष कारण से भी हो जिसे कि आप पहचान नहीं पा रहे हों-तब उस नकारात्मकता को एक ऐसे सचेतक की तरह देखें जो आपको सचेत कर रही हो "ध्यान दो! 'यहां' और 'अब'। जागो!" इस संदर्भ में, आपकी कोई एक छोटी सी भी चिड़चिड़ाहट, एक छोटी सी झल्लाहट भी एक मायने रखती है और इसलिए आप उसे देखें, उसे समझें, अन्यथा अनदेखी प्रतिक्रियाएं आपके अंदर इकट्ठा होती चली जायेंगी। जैसा कि मैं पहले बता चुका हूं, जैसे ही आप यह समझ लेंगे कि आप इस नकारात्मक ऊर्जा को अपने अंदर रखना नहीं चाहते हैं और यह भी कि यह किसी सार्थक उपयोग की नहीं है, त्यों ही आप इसे अनायास ही छोड़ सकते है। लेकिन, यह सुनिश्चित कर लें कि आपने इसे पूरी-पूरी तरह छोड़ दिया है। और, अगर आप इसे छोड़ न पा रहे हों तो आप यह स्वीकार कर लें कि वह आपमें है और उस होने के एहसास पर अपना ध्यान दें, जैसा कि मैं पहले बता चुका हूं।

किसी नकारात्मक प्रतिक्रिया को छोड़ने के एक विकल्प के रूप में, आप उस प्रतिक्रिया के बाहरी कारण के लिए यह कल्पना कीजिए कि आप पारदर्शी हो गए हैं, तब आप उस प्रतिक्रिया को ग़ायब होते देख सकते हैं। मेरा आग्रह है कि आप इसका अभ्यास पहले छोटी, और बहुत छोटी, प्रतिक्रियाओं के साथ भी, करना शुरू करें। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि आप अपने घर में आराम से बैठे हैं। अचानक ही सड़क के उस पार से किसी कार के तीखे व तेज़ हॉर्न की आवाज़ आपके कानों को चीर जाती है। एक झल्लाहट पैदा होती है। ज़रा साचिए कि इस झल्लाहट का प्रयोजन क्या है? कुछ भी तो

नहीं। फिर आपने इसे क्यों पैदा किया? इस झल्लाहट को आपने पैदा नहीं किया, बल्कि मन ने पैदा किया। यह झल्लाहट पूरी तरह स्वयं स्फूर्त थी, पूरी तरह अनजाने व अनचाहे पैदा हुई थी। तो, मन ने इसे क्यों पैदा किया। क्योंकि, मन अचेतन रूप से यह मानता है कि यह झल्लाहट एक प्रतिरोध है-जिसे कि आप नकारात्मक या नाखुशी या नाराज़गी के रूप में अनुभव कर रहे हैं-यह झल्लाहट किसी न किसी तरह इस अवांछित अवस्था को दूर कर देगी। यह एक भ्रम है, भ्रांति है, सचमुच। जो प्रतिरोध मन ने खड़ा किया है-जैसे इस मामले में झल्लाहट या क्रोध-दरअसल वह उस मूल कारण से कहीं अधिक क्षुब्ध, उद्विग्न और हैरान-परेशान करने वाला है जिसे कि दूर करने के लिए मन ने यह कदम उठाया है।

इस सबको आध्यात्मिक साधना के रूप में परिणत किया जा सकता है। स्वयं को पारदर्शी होता महसूस कीजिए, ऐसा ही पारदर्शी जैसे कि आपका शरीर किसी ठोस पदार्थ का न हो। अब उस शोर को, या नकारात्मक प्रतिक्रिया पैदा करने वाली किसी भी बात को, अपने उस पारदर्शी शरीर में से गुज़रने दीजिए। वह आपके अंदर की किसी भी ठोस "दीवार" से नहीं टकरा रही है। जैसा कि मैंने कहा, पहले किसी छोटी बात से शुरू कीजिए-कार का हॉर्न, कुत्तों का भौंकना, बच्चों का हल्ला करना, ट्रैफ़िक जाम में फंसना, इत्यादि। बजाय इसके कि आप अपने अंदर प्रतिरोध की कोई दीवार खड़ी करें, जिससे कि ऐसी चीज़ें जिन्हें कि "होना नहीं चाहिए" लगातार और तक़लीफदेह तरीके से टकरा रही हों, आप हर चीज़ को अपने में से बस गुज़र जाने दीजिए।

अगर कोई आपसे कुछ ऐसी बात कह देता है जो कि अभद्र है और ठेस पहुंचाने के लिए कही गई है तब, बजाय इसके कि आप अचैतन्य प्रतिक्रिया करने व नकारात्मकता में जाएं-जैसे आक्रामक हो उठना, बचाव की मुद्रा में आ जाना या वहां से चले जाना-आप उसे अपने में से गुज़र जाने दीजिए। कोई प्रतिरोध खड़ा मत कीजिए। यह कुछ ऐसा होगा जैसे उस ठेस को लेने वाला वहां कोई है ही नहीं। *यही* है क्षमादान। इस तरह से आप अभेद्य हो जाते हैं। मगर तब भी, आप चाहें तो उस व्यक्ति को बता सकते हैं कि उसका व्यवहार स्वीकार्य नहीं है। लेकिन उस व्यक्ति में इतनी शक्ति नहीं होगी कि वह आपकी आंतरिक अवस्था को नियंत्रित कर सके। तब आपकी शक्ति आप के हाथों में ही रहेगी-किसी और के हाथों में नहीं, और न ही तब आप अपने मन द्वारा संचालित किए जा रहे होंगे। चाहे कार का हॉर्न हो, कोई अशिष्ट व्यक्ति हो, बाढ़ हो, भूचाल हो, या आपके स्वामित्व में रहने वाली सारी चीज़ों का खो जाना हो-प्रतिरोध की प्रणाली एक समान ही रहा करती है।

मैं ध्यान का अभ्यास किया करता हूं, मैं कई कार्यशालाओं में भी गया हूं, मैंने अध्यात्म पर कई किताबें भी पढ़ी हैं, और मैं अप्रतिरोध, अविरोध की अवस्था में रहने की कोशिश

किया करता हूं-लेकिन अगर आप मुझसे पूछें कि क्या मुझे सच्ची और स्थाई आंतरिक शांति मिल गई है तो ईमानदारी से मेरा जवाब ''ना'' ही होगा। मुझे वह क्यों प्राप्त नहीं हुई है? उसके लिए मैं और क्या करूं?

आप उसकी तलाश अभी भी बाहर ही कर रहे हैं, और आप तलाश की तरकीबों से बाहर नहीं निकल पा रहे हैं-आप सोचते हैं कि शायद अगली कार्यशाला में या किसी नई तकनीक में मुझे जवाब मिल जाए। आपके लिए मैं इतना ही कहूंगा: शांति की खोज मत कीजिए। जिस भी अवस्था में आप अब हैं उसके अलावा किसी भी अवस्था की तलाश मत कीजिए, अन्यथा आप आंतरिक द्वंद्व और अचेतन प्रतिरोध खड़ा कर लेंगे। शांत न रह पाने के लिए खुद को क्षमा कर दीजिए। ज्यों ही आप अपनी अशांतता को *पूरी तरह* स्वीकार कर लेंगे, त्यों ही आपकी अशांतता शांतता में तत्वांतरित हो जायेगी। जिस भी चीज़ को आप पूरी तरह से स्वीकार कर लेंगे वह आपको शांति में ले जायेगी। समर्पण का चमत्कार यही है।

आपने यह मुहावरा तो सुना ही होगा "दूसरा गाल भी सामने कर दो", जिसे कि 2000 साल पहले *एन्लाइटेनमैन्ट* के एक महान गुरू ने प्रयोग किया था। दरअसल, वह अप्रतिरोधकता तथा अप्रतिक्रियात्मकता को एक प्रतीक के रूप में बताने कर प्रयास कर रहा था। अपने इस वक्तव्य में वह आपकी केवल आंतरिक वास्तविकता से सरोकार रखे हुए था, न कि आपके जीवन के बाहरी व्यवहार से-आप के गाल से।

क्या आपको बन्ज़ान की कहानी मालूम है? एक महान ज़ेन गुरू बनने से पहले उसने कई साल *एन्लाइटेनमैन्ट* की तलाश में लगा दिए थे लेकिन *एन्लाइटेनमैन्ट* हमेशा उससे बच कर निकल जाता। फिर एक दिन जब वह बाज़ार में घूम रहा था तब एक बूचड़ और ग्राहक के बीच होने वाली बातचीत उसके कानों में पड़ीं। ग्राहक कह रहा था, "तुम्हारे पास जितना भी मांस है मुझे उसका बेहतरीन टुकड़ा दो।" इस पर बूचड़ का जवाब था, "मेरे पास जितना भी मांस है उसका हर टुकड़ा बेहतरीन है। यहां ऐसा कोई मांस है ही नहीं जो कि बेहतरीन न हो।" यह सुनते ही बन्ज़ान *एन्लाइटेन्ड* हो गया।

मुझे लग रहा है कि आपको इसकी व्याख्या चाहिए। जब आप जो है रूपी मांस को स्वीकार कर लेते हैं, तब उसका हर टुकड़ा-हर पल-बेहतरीन ही हो जाता है। यही है *एन्लाइटेनमैन्ट*।

करुणा का स्वभाव

मन द्वारा रचे जाने वाले विलोमों और विरोधों से पार पहुंच जाने के बाद आप एक गहरी झील के समान हो जाते हैं। आपके जीवन की बाहरी स्थिति, और जो कुछ वहां हो रहा है वह सब, उस झील की ऊपरी सतह हुआ करता है-मौसम के अनुसार कभी शांत, तो कभी तूफ़ानी। लेकिन, नीचे गहराई में, झील हमेशा सुशांत, अविक्षुब्ध, निश्चल रहती है। आप वह समूची झील हैं, केवल उसकी ऊपरी सतह नहीं, और आप अपनी गहराई से जुड़े रहते हैं जो कि बिल्कुल शांत व स्थिर रहती है। तब, किसी भी स्थिति के साथ मानसिक रूप से जुड़ कर आप बदलाव के प्रति प्रतिरोध नहीं करते हैं। आपकी आंतरिक शांति उस पर निर्भर नहीं है। आप तो बीइंग में *निवास* करते हैं जो कि अविकारी है, समयनिरपेक्ष है, शाश्वत है। और, आप निरंतर बदलते रूपों वाले इस बाहरी संसार पर अपनी पूर्णता व प्रसन्नता के लिए बिल्कुल भी निर्भर नहीं हैं। आप उन रूपों का आनंद ले सकते हैं, उनके साथ खेल सकते हैं, नए-नए रूप रच सकते हैं, इस सब के सौंदर्य को सराह सकते हैं, लेकिन उसके किसी भी रूप के साथ खुद को नत्थी कर लेने की, बांध लेने की कोई आवश्यकता आपको नहीं है।

अगर आप इस तरह खुद को अलग कर लेंगे तो इसका मतलब क्या यह नहीं है कि आप दूसरे इंसानों से भी दूर हो जायेंगे?

बल्कि इसका उलट होगा। जब तक आप *बीइंग* से अनभिज्ञ व अनजान रहेंगे, तब तक दूसरे लोगों की वास्तविकता का आपको पता ही नहीं चलेगा क्योंकि तब आपको अपनी ही वास्तविकता का पता नहीं होगा। आपका मन उनके उस व्यक्तित्व को पसंद या नापसंद करता रहेगा जिसमें केवल उनका शरीर ही नहीं बल्कि मन भी शामिल रहता है। सच्चा संबंध तभी स्थापित हो पाता है जब *बीइंग* के प्रति सजगता रहती है। *बीइंग* में से आने के कारण दूसरे के तन और मन को आप बिल्कुल स्क्रीन की तरह देख सकते हैं-यथातथ्य, जिसके पीछे आप उनकी वास्तविकता को सही-सही महसूस कर सकते हैं, बिल्कुल वैसे ही जैसे आप अपनी महसूस करते हैं। इसलिए, किसी के दुख या अचैतन्य व्यवहार के साथ मुठभेड़ होने पर, आप *प्रेज़ैंट* बने रहते हैं और *बीइंग* के संपर्क में रहते हैं, और इस तरह इस योग्य हो जाते हैं कि अपनी ही बीइंग में से देखते हुए दूसरे व्यक्ति के नाम-रूप से परे उसकी कांतिमय तथा विशुद्ध *बीइंग* को महसूस कर सकें। *बीइंग* के स्तर पर सारी समस्याएं केवल भ्रम-भ्रांति के रूप में ही जानी जाती हैं। दुख होता ही है नाम-रूप के साथ गहरे तक जुड़ जाने, उसके साथ तादात्म्य कर लेने के कारण। इस बात का ज्ञान हो जाने पर और दूसरों में *बीइंग* के प्रति चेतना जाग जाने पर, कभी-कभी *हीलिंग* के चमत्कार भी होते हैं-अगर दूसरे भी तैयार हैं, तो।

क्या यही होती है करुणा?

हां, अपने तथा समस्त जीवों के बीच एक गहरा नाता होने के प्रति सजगता होना ही करुणा है। लेकिन इस करुणा के, इस नाते, दो पहलू होते हैं। एक पहलू तो यह है कि चूंकि आप अभी भी यहां एक भौतिक शरीर के रूप में रह रहे हैं, इसलिए आप दूसरे हर इंसान और हर प्राणी के साथ ही अपने इस भौतिक स्वरूप की असुरक्षा और नश्वारता में भागीदार रहते हैं। अगली बार जब कभी आप ऐसा कहें या सोचें कि अमुक में और मुझमें कुछ भी समान नहीं है, तो याद रखियेगा कि आपमें और उसमें बहुत कुछ समान है: अब से कुछ साल बाद-दो साल या सत्तर साल, अवधि से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता-आप भी और वह भी बदबूदार लाश बन जायेंगे, फिर ख़ाक का ढेर बन जायेंगे, और फिर कुछ नहीं रहेंगे। यह एक ऐसी सौम्यकारी और विनम्रकारी स्पष्ट समझ है जिसमें अहंकार के लिए कोई स्थान नहीं होता। क्या यह कोई निराशात्मक व नकारात्मक विचार है? नहीं, बल्कि यह एक सत्य है, तथ्य है। इसकी तरफ़ से आप अपनी आंखें क्यों मूंद रहे हैं? इस अर्थ में, आपमें और अन्य हर प्राणी में पूरी-पूरी समानता है।

भौतिक नाम-रूप की, और अपनी भी, नश्वरता पर गहराई से ध्यान लगाना, सबसे से सशक्त आध्यात्मिक साधनाओं में से एक है। इसे 'मरण से पहले मरना' कहा जाता है। इसमें गहरे उतरिए। आपका भौतिक रूप छीज रहा है, यह कुछ नहीं है। फिर एक ऐसा समय आता है जब आपका मानसिक रूप या विचार भी मर जाया करता है। लेकिन, तब भी *आप* रहते हैं-वह दिव्य *प्रेज़ैंस* रहती है जो आप हैं, कांतिमान, पूर्ण जाग्रत। जो वास्तव है वह कभी नहीं मरता, केवल नाम, रूप, और माया मरा करते हैं।

करुणा का दूसरा पहलू है इस मृत्यु से परे वाले आयाम का, आपके सच्चे स्वरूप का ज्ञान होना। एक गहरी अनुभूति के स्तर पर, अब आप न केवल अपनी अनश्वरता का बोध कीजिए बल्कि हर प्राणी की अनश्वरता का भी। नाम-रूप के स्तर पर, आप जीवन की नश्वरता तथा अनिश्चितता के भागीदार बनते हैं। और, *बीइंग* के स्तर पर, आप शाश्वतता और देदीप्यमान जीवन के भागीदार हैं। ये करुणा के दो पहलू हैं। करुणा में, दुख और आनंद के विपरीत प्रतीत होने वाले भाव परस्पर विलीन होकर एक हो जाते हैं और फिर गहन आंतरिक शांति के रूप में तत्वांतरित हो जाते हैं। यह होती है ईश्वरीय शांति। यह उन सर्वाधिक श्रेष्ठ अनुभूतियों में से एक है जो कि मनुष्य अनुभव कर सकता है। और इसमें *हीलिंग* और रूपांतरण करने की महान शक्ति होती है। लेकिन, जैसा कि मैंने बताया है, सच्ची करुणा फिर भी नायाब है, दुर्लभ है। दूसरे प्राणियों के साथ तदनुभूति रखना-यानी उनके दुख के प्रति अपने दुख जैसी गहरी अनुभूति रखना-इसके लिए निश्चय ही एक उच्च

स्तरीय चैतन्यता की आवश्यकता होती है, लेकिन यह तथ्य करुणा का केवल एक पक्ष है। यह संपूर्ण नहीं है। सच्ची करुणा तो तदनुभूति या सहानुभूति के भी पार होती है। और, वह तब तक नहीं होती जब तक कि दुख आनंद के साथ विलीन नहीं हो जाता, *बीइंग* के आनंद साथ जो कि नाम-रूप से परे है-जो शाश्वत जीवन का आनंद है।

वास्तविकता की एक भिन्न अवस्था की ओर

मैं नहीं मानता कि शरीर को मरने की आवश्यकता होती है। मेरा तो विश्वास यह है कि हम शारीरिक अमरता पा सकते हैं। हम मृत्यु में विश्वास करते हैं और इसीलिए यह शरीर मृत्यु को प्राप्त होता है।

शरीर कोई इसलिए नहीं मरता क्योंकि आप मृत्यु में विश्वास रखते हैं। शरीर का अस्तित्व है, या ऐसा लगता तो है ही, क्योंकि आप मृत्यु में विश्वास रखते हैं। शरीर और मृत्यु एक ही भ्रम के भाग हैं जो कि चेतना के उस अहं रूप द्वारा रचे गए हैं जिसे जीवन के परम स्रोत का कोई ज्ञान ही नहीं है और जो खुद को अलग समझता है और खुद को हमेशा ख़तरे में महसूस करता है। इसलिए यह एक भ्रम खड़ा कर देता है कि आप एक शरीर हैं, कि आप एक ऐसा सघन व भौतिक माध्यम हैं जो कि ख़तरे में है।

स्वयं को एक ऐसा शरीर मानना जो कि ख़तरे से खाली नहीं है और जो पैदा हुआ है वह देर-सबेर मरने वाला है-यह बड़ा भ्रम है। शरीर और मृत्यु : एक ही भ्रम हैं। एक के बिना दूसरा नहीं हो सकता। आप भ्रम के एक पहलू को तो रखना चाहते हैं लेकिन दूसरे से पीछा छुड़ाना चाहते हैं, लेकिन ऐसा तो हो नहीं सकता। या तो आप इसे पूरा रखें या पूरा ही छोड़ दें।

तथापि, आप शरीर से बच कर भाग नहीं सकते और न ही आपको भागना चाहिए। ठीक है कि यह बड़ी भारी भ्रांति ही है कि यह शरीर आपका सच्चा स्वरूप है, लेकिन वह सच्चा स्वरूप भी तो इस भ्रांति के ही अंदर कहीं छिपा हुआ है, न कि कहीं बाहर; और इसलिए उस सच्चे स्वरूप तक पहुंचने के लिए केवल एक स्थान यह शरीर ही तो है।

अगर कभी आपकी नज़र किसी देवदूत पर पड़ जाए लेकिन ग़लती से आप उसे एक पाषाण प्रतिमा समझ लें तो उसे देखने के लिए आपको अपनी नज़र को दुरुस्त करके उस "पाषाण प्रतिमा" को ध्यान से देखना होगा न कि इधर-उधर देखना। क्योंकि तब आप पायेंगे कि वहां तो कोई प्रतिमा थी ही नहीं।

अगर मृत्यु में हमारा विश्वास होने से शरीर बनता है, तो फिर किसी भी पशु-पक्षी के शरीर क्यों हैं? किसी भी पशु-पक्षी में न तो अहं होता है और न ही वह मृत्यु में विश्वास रखता है...

लेकिन वह फिर भी मरता ही है, या ऐसा लगता तो है ही।

यह याद रखिए कि जीवन का आपका दर्शन आपकी चेतना की अवस्था का ही प्रतिबिंब होता है। आप उससे कोई अलग नहीं हैं, और बाहर कहीं कोई वास्तविक संसार नहीं है। हर पल, आपकी चेतना उस संसार को रचती रहती है जिसमें आप रह रहे होते हैं। आधुनिक भौतिकी से प्राप्त होने वाला एक महान परिज्ञान यह है कि अवलोकनकर्ता और अवलोकित एक ही हैं: किसी प्रयोग-परीक्षण करने वाले व्यक्ति-यानी अवलोकनकर्ता चेतना को-अवलोकन की जा रही दृश्य वस्तु से अलग नहीं किया जा सकता, और यह भी कि देखने के किसी भिन्न तरीके से दृश्य वस्तु का व्यवहार भी भिन्न हो जाया करता है। एक गहरे स्तर पर अगर आप अपनी अस्तित्व रक्षा के लिए अलगाव तथा संघर्ष में विश्वास रखते हैं, तो आप देखेंगे कि वह विश्वास आपके चारों ओर प्रतिबिंबित हो रहा होता है और आपका देखना भय द्वारा संचालित हो रहा होता है। आप मृत्यु और शरीरों के एक ऐसे संसार में रह रहे हैं जहां युद्ध है, मारकाट है और जहां लोग एक-दूसरे को तबाह कर रहे हैं।

दरअसल, कुछ भी जैसा दिखाई पड़ता है वैसा वह होता नहीं है। जो संसार आप रचते हैं और जिसे अपने अहम्मन्य मन से देखते हैं, वह बड़ा अटपटा और दुख भरा लग सकता है। लेकिन, जो कुछ आप देख रहे होते हैं वह केवल एक प्रकार का द्योतक होता है, एक छवि या कल्पना होता है, जीवन के दुख भी ऐसे ही है। निर्भर इस बात पर करता है कि ब्रह्मांड की अणु शक्ति की नृत्य-लीला की व्याख्या आपकी चेतना किस तरह करती है और किस तरह उसके साथ परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करती है। यह शक्ति आपकी तथाकथित भौतिक वास्तविकता की सामग्री होती है। इसे आप शरीर, जन्म, मृत्यु के रूप में, या अपनी जीवन रक्षा के संघर्ष के रूप में देखते हैं। असंख्य रूप से भिन्न व्याख्याओं का और पूरी तरह से भिन्न संसारों का होना संभव है, और वास्तव में वे विद्यमान भी हैं-लेकिन यह सब देखने वाली चेतना पर निर्भर करता है। हर प्राणी चेतना का केंद्रीय बिंदु है, और ऐसा हर केंद्रीय बिंदु अपना संसार अलग रचा करता है-मानव-संसार है, चींटियों का संसार है, डॉल्फ़िनों इत्यादि का संसार है। ऐसे असंख्य प्राणी हैं जिनकी चेतना की बहुलता आपकी चेतना की बहुलता से इतनी भिन्न है कि आप उनके होने से शायद अनभिज्ञ ही हैं और वे आपके होने से। अत्यधिक चैतन्य लोग जो कि परम स्रोत के साथ और एक दूसरे के साथ अपने जुड़ाव के प्रति सजग हैं, वे ऐसे संसार में वास करते हैं जो कि आपको स्वर्ग सरीखा लगेगा-लेकिन फिर भी सारे संसार मूलतः एक ही हैं।

हमारा सामूहिक मानव संसार अधिकांशतः चेतना के स्तर द्वारा निर्मित है जिसे कि हम मन कहते हैं। इस सामूहिक मानव संसार में भी बड़ी भिन्नताएं हैं, अनेक भिन्न-भिन्न 'उप-संसार' हैं जो कि अपने-अपने संसारों के द्रष्टाओं तथा रचयिताओं पर निर्भर करते हैं। चूंकि सारे ही संसार परस्पर संबद्ध हैं इसलिए जब सामूहिक मानव चेतना रूपांतरित हो जायेगी तब प्रकृति तथा पशु जगत भी उस रूपांतरण को प्रतिबिंबित करेगा। इसलिए बाइबिल का यह कथन कि आने वाले समय में "शेर और बकरी एक ही घाट पर पानी पियेंगे" वस्तुस्थिति की एक बिल्कुल ही भिन्न व्यवस्था की संभावना की ओर इशारा करता है।

जैसा कि मैंने बताया, यह संसार जैसा हमें आज दीख रहा है वह अधिकांशतः हमारे ही अहम्मन्य मन का प्रतिबिंब है। भय चूंकि अहम्मन्य भ्रम-विभ्रम का ही अपरिहार्य व अनिवार्य परिणाम होता है, इसलिए इस संसार पर भय हावी रहता है। जैसे कि सपनों में देखी गईं छवियां हमारे अंतर्मन तथा भावनाओं की प्रतीक हुआ करती हैं, वैसे ही हमारा सामूहिक यथार्थ भी अधिकांशतः उस भय तथा उस भारी नकारात्मकता का एक प्रतीकात्मक प्रकट रूप ही है जो कि सामूहिक मानव मन में एकत्र होता चला गया है। हम अपने संसार से कुछ अलग नहीं हैं, और इसलिए जब अधिकांश मनुष्य अपने अहम्मन्य भ्रम से बाहर निकल आयेंगे तब यह आंतरिक बदलाव सारी सृष्टि पर प्रभाव डालेगा। तब आप सचमुच एक नए संसार में रह रहे होंगे। यह इस पूरे ग्रह की चेतना का बदलाव होगा। एक अनूठा बौद्ध कथन है: प्रत्येक पेड़ और घास का हर तिनका अंततः *एन्लाइटेन्ड* हो जायेगा। यह कथन दरअसल इसी सत्य की ओर इशारा कर रहा है। सेंट पॉल के अनुसार, समूची सृष्टि प्रतीक्षा कर रही है कि मानव *एन्लाइटेन्ड* हो। मैं उनके कथन का अर्थ यह निकालता हूं-"सृष्टि का यह विश्व उत्सुक अपेक्षा के साथ ईश्वर की संतान के मुक्त होने की प्रतीक्षा कर रहा है।" सेंट पॉल आगे कहते हैं कि सारी सृष्टि इस तरह मुक्त हो जायेगी: "आज स्थिति यह है कि यह सारा सृष्ट संसार अपने सभी अंगों में ऐसे कराह रहा है जैसे वह प्रसव पीड़ा में है।"

जिसका जन्म हो रहा है वह है एक नई चैतन्यता, और उसी के अपरिहार्य प्रतिबिंब के रूप में नया संसार जन्म ले रहा है। इसकी भविष्यवाणी *न्यू टैस्टामैंट* में भी कर दी गई थी, "तब मैंने एक नया स्वर्ग और एक नई धरती देखी क्योंकि पहला स्वर्ग और पहली धरती समाप्त हो गए थे।"

लेकिन कारण और परिणाम को लेकर भ्रमित मत होइए। आपका पहला काम एक बेहतर संसार बन जाने के माध्यम से मुक्त होना नहीं है बल्कि नाम-रूप के साथ अपनी तादात्म्यता से जाग कर बाहर आना है। फिर आप इस संसार के, यथार्थ के, इस स्तर के बंधन में नहीं रहते हैं। तब आप अपनी जड़ें 'अप्रकट' व 'अव्यक्त' में महसूस कर सकते हैं और इस तरह इस प्रकट संसार के मोहपाश से मुक्त हो सकते हैं। फिर भी आप इस

संसार के रास्ते के सुखों को महसूस कर सकते हैं लेकिन उनके खो जाने का भय फिर आपको नहीं रहता है और आपको उनसे चिपके रहने की आवश्यकता भी नहीं रहती है। तब आप भले ही इंद्रिय सुख का आनंद ले सकते हों लेकिन इंद्रिय सुख अनुभव करने की ललक-लालसा आपमें नहीं रह जाती है, और साथ ही मानसिक तुष्टिकरण के जरिए, अहं के जरिए तृप्त होने की निरंतर तलाश भी नहीं रहती है। तब आप एक ऐसी चीज़ के संपर्क में आ चुके होते हैं जो कि असीम व अनंत रूप से किसी भी सुख की अपेक्षा कहीं अधिक विशाल होती है, और किसी भी प्रकट चीज़ की अपेक्षा कहीं अधिक बड़ी होती है।

एक तरह से, तब आपको संसार की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। यहां तक कि यह जिस तरह का है उससे कुछ अलग तरह का होने की भी आवश्यकता आपको नहीं रह जाती है।

यही केवल एक ऐसा बिंदु है जहां से आप एक नया संसार रचने की, यथार्थ की, एक भिन्न व्यवस्था को रचने की शुरुआत करने में अपना सच्चा योगदान दे सकते हैं। यही केवल एक ऐसा बिंदु है जब आप सच्ची करुणा अनुभव करते हैं और निमित्त के स्तर पर दूसरों की सहायता करते हैं। केवल वे लोग ही एक बेहतर संसार की रचना कर सकते हैं जो संसार के पार और परे हो जाते हैं, जो संसार से ऊपर उठ जाते हैं।

आपको याद होगा कि पीछे हमने सच्ची करुणा के दोहरे स्वरूप की बात की है जो कि साझा की जाने वाली नश्वरता और अनश्वरता के उभयनिष्ठ बंधन के प्रति सजगता होती है। इस गहन स्तर पर, व्यापक अर्थ में करुणा *हीलिंग* बन जाती है। उस अवस्था में, आपका *हीलिंग* प्रभाव मूलतः आपके कुछ करने पर नहीं बल्कि आपके होने पर आधारित रहता है। आप जिस किसी के भी संपर्क में आते हैं वह आपकी *प्रेज़ैंस* का स्पर्श पाता है, आपमें से प्रस्फुटित होने वाली शांति का उस पर प्रभाव पड़ता है-भले ही वह उसके प्रति सजग हो या न हो। जब आप पूरी तरह *प्रेज़ैंट* रहते हैं और तब अगर आपके आसपास वाले लोग अचैतन्य व्यवहार प्रकट करते हैं, तब उसके प्रति प्रतिक्रिया करने की आपको आवश्यकता ही नहीं लगती है, और इस तरह आप उसे वास्तविकता में घटित होने ही नहीं देते हैं। आपकी शांतता इतनी गहरी व इतनी विशाल हो जाती है कि जो कुछ भी शांत नहीं है वह उसमें इस प्रकार विगलित तथा विलुप्त हो जाता है जैसे कि वह कभी था ही नहीं। आपकी वह शांतता क्रिया तथा प्रतिक्रिया के कर्म-चक्र तो तोड़ डालती है। तब, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, फूल-पत्ती भी आपकी शांतता को अनुभव करते हैं और तदनुसार अनुक्रिया करते हैं। ईश्वर की शांति का प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत करते हुए, आप वहां होने मात्र से ही शिक्षा दे रहे होते हैं। आप विशुद्ध चैतन्यता का एक उद्गम बन जाते हैं, "विश्व प्रकाश" बन जाते हैं, और इस तरह कारण के स्तर पर ही दुख का निवारण कर देते हैं। आप संसार से अचैतन्यता को दूर कर देते हैं।

इसका अर्थ यह नहीं है कि कर्म द्वारा आप कोई शिक्षा नहीं दे सकते हैं, उदाहरण के लिए- यह बताना कि मन से तादात्म्यता को कैसे तोड़ा जाए, कि कैसे खुद के अंदर के अचेतन ढर्रों को पहचाना जाए, इत्यादि। लेकिन, जो आप कहते हैं या जो आप करते हैं उसकी अपेक्षा जो आप हैं वह कहीं अधिक प्रभावकारी शिक्षा होती है, वही शिक्षा संसार के लिए कहीं अधिक रूपांतरणकारी होती है-हमेशा ही। इसके अलावा, *बीइंग* की प्रधानता को पहचानना, स्वीकारना, और कारण के स्तर पर कार्य करना, इस संभावना को समाप्त नहीं कर देता है कि आप जब भी कभी दुख देखें तो उसे दूर करने के द्वारा आपकी करुणा कर्म और प्रभाव दोनों के ही स्तर पर साथ-साथ प्रकट हो सकती है। अगर कोई व्यक्ति भूखा है और आपसे रोटी मांगता है तो अगर आपके पास रोटी है तो आप उसे रोटी दे देते हैं। लेकिन, भले ही आप उसे रोटी दे रहे हों और उसके साथ आपकी बातचीत थोड़ी सी ही हो, जो चीज़ वास्तव में महत्व रखती है वह है बीइंग की साझेदारी का वह पल-रोटी तो उसका प्रतीक मात्र है। उसी पल में एक बड़ी गहरी *हीलिंग* होती है। उस पल में न तो लेने वाला होता है और न कोई देने वाला।

लेकिन पहली बात तो यह कि भूख व भुखमरी तो होनी ही नहीं चाहिए। भूख और हिंसा जैसी बुराइयों का निपटान किए बिना हम एक बेहतर संसार भला कैसे बना सकते हैं?

जितनी भी बुराइयां है वे सब अचैतन्यता की ही *परिणाम* हैं। आप अचैतन्यता के परिणामों व प्रभावों को दूर कर सकते हैं लेकिन आप उन्हें तब तक तक मिटा नहीं सकते जब तक कि आप उनके कारणों को नहीं मिटा देते। सच्चा बदलाव भीतर होता है, बाहर नहीं।

अगर आप संसार के दुख दूर करने की आवश्यकता महसूस करते हैं तो यह बहुत अच्छी बात है, लेकिन याद रखिए कि उसका फ़ोकस केवल बाहर पर न रहे, अन्यथा आपको खिन्नता व निराशा ही हाथ लगेगी। मानव चेतना में विपुल बदलाव लाए बिना, संसार का दुख अथाह गर्त जैसा बना रहेगा। इसलिए अपनी करुणा को एक पक्षीय मत होने दीजिए। किसी दूसरे के दुख-दर्द या अभाव के साथ तदनुभूति रखना, यानी दूसरे के दुख-दर्द या अभाव को अपने दुख या अभाव जैसा समझना, और उसकी सहायता करने की इच्छा रखना-इन दोनों के बीच संतुलन बनाए रखने के लिए प्रत्येक प्राणी के शाश्वत स्वरूप को समझना और यह समझना कि सारे दुख अंततः भम्र ही हैं, बहुत आवश्यक है। फिर, जो कुछ भी आप करें अपनी शांति को भी उसमें बहने दीजिए, और तब आप कारण और कार्य दोनों ही स्तरों पर साथ-साथ कार्य कर रहे होंगे।

यह बात वहां भी लागू होती है जहां आप किसी ऐसे अभियान का समर्थन कर रहे हों जो कि अत्यधिक अचैतन्य लोगों के लिए खुद को, एक-दूसरे को और इस धरती को तबाह करने से रोकने के लिए तैयार किया गया हो, या फिर अन्य संवेदनशील प्राणियों को

त्रासदायी कष्ट देने से राकने के लिए चलाया जा रहा हो। याद रखिए, जैसे कि आप अंधकार से नहीं लड़ सकते, उसी तरह आप अचैतन्यता से भी नहीं लड़ सकते। अगर आप ऐसा करने का प्रयास करेंगे तो विपरीत ध्रुव अधिक सशक्त होते जायेंगे तथा और भी गहरे तक अतिक्रमण करते जायेंगे। तब आप किसी एक ध्रुव के साथ तादात्म्य हो जायेंगे, "शत्रु" बना लेंगे और इस तरह खुद भी अचैतन्य होते चले जायेंगे। सूचना का प्रचार-प्रसार करते हुए सजगता को ऊपर उठाइए, या सकारात्मक प्रतिरोध का अभ्यास तो कीजिए ही। लेकिन यह सुनिश्चित रखिए कि आपके अंदर न कोई प्रतिरोध रहे, न कोई घृणा रहे और न ही कोई नकारात्मकता रहे। जीसस ने कहा था, "अपने शत्रु को भी प्रेम करो" जिसका अर्थ यही था कि "कोई शत्रु न रखो"।

एक बार जब आप परिणाम के स्तर पर कार्य करने में निमग्न हो जाते हैं तब उसमें खुद को खो देना बड़ा आसान हो जाता है। सजग, सचेत रहिए, और पूरी-पूरी तरह प्रेज़ैंट रहिए। आपका प्राथमिक फ़ोकस कारण के स्तर पर रहना चाहिए, *एन्लाइटेनमैन्ट* की शिक्षा आपका प्रमुख प्रयोजन रहना चाहिए, और शांति आपकी तरफ़ से संसार को दी जाने वाली सबसे कीमती भेंट होनी चाहिए।

अध्याय दस

समर्पण का अर्थ

'अब' को स्वीकार करना

आपने कई बार ''समर्पण'' का ज़िक्र किया है। मुझे यह विचार कुछ सही नहीं लगता है। यह मुझे भाग्यवाद जैसा लगता है। अगर हम हमेशा परिस्थितियों को वैसी ही स्वीकार करते रहेंगे जैसी कि वे हैं तो फिर हम उनमें सुधार करने का कभी कोई प्रयत्न ही नहीं करेंगे। मेरे विचार से तो हमारी प्रगति ही यह है कि हम वर्तमान की सीमितताओं को स्वीकार न करें बल्कि उनके पार जाने और कुछ बेहतर बनाने का भरपूर प्रयास करें-अपने निजी जीवन में भी और सामूहिक जीवन में भी। अगर हम ऐसा न करते तो आज भी हम गुफ़ाओं में रह रहे होते। समर्पण करने और हालात को बदलने तथा बेहतर करने के बीच आप सामंजस्य कैसे बिठायेंगे?

कुछ लोगों को समर्पण में नकारात्मक लक्षण दिखाई देते हैं और वे इसका अर्थ लगाते हैं- हार मान लेना, प्रयास करना या उम्मीद करना छोड़ देना, जीवन की चुनौतियों का सामना करने में विफल रहना, आलसी हो जाना, इत्यादि। लेकिन, सच्चा समर्पण एक बिल्कुल ही अलग चीज़ होती है। समर्पण का यह अर्थ नहीं है कि जिस भी स्थिति-परिस्थिति में आप हों उसे बस बर्दाश्त करते रहें और उस बारे में कुछ भी न करें। और, न ही इसका अर्थ यह है कि आप कोई योजना न बनाएं या कोई सकारात्मक कदम भी न उठाएं।

समर्पण है: जीवन के प्रवाह के *विरुद्ध जूझने* के बजाय उसका होना स्वीकार करने की सीधी-सरल लेकिन गहरी समझ। वह एकमात्र स्थान जहां आप जीवन के प्रवाह को महसूस कर सकते हैं वह है 'अब'। इसलिए, वर्तमान पल को बिना किसी शर्त के और बिना किसी ना-नुकुर के स्वीकार कर लेना समर्पण है। *जो है* के प्रति आंतरिक प्रतिरोध को छोड़ देना समर्पण है। आंतरिक प्रतिरोध होता है मानसिक निर्णय तथा भावुक

नकारात्मकता के जरिए *जो है* को "ना" कहना। ऐसा ख़ासतौर पर तब होता है जब जो हो रहा है वह "मन के अनुकूल न हो रहा हो", यानी आपके मन की मांग या आपकी अड़ियल अपेक्षाओं और *जो है* के बीच जब एक फ़ासला, एक अंतराल रह जाता हो। यही अंतराल दुख भरा अंतराल बन जाता है। अगर आप अभी तक काफ़ी उम्र बिता चुके हैं तो आप इस "मन के अनुकूल न होने" वाली स्थिति को अनेक बार देख चुके होंगे। अगर आप अपने जीवन में से पीड़ा और दुख को दूर कर देना चाहते हैं तो यही वह अवस्था होती है जब आपको समर्पण का अभ्यास करने की आवश्यकता पड़ती है। *जो है* को स्वीकार करना आपको मन की तादात्म्यता से तुरंत छुटकारा दिला देता है और इस तरह *बीइंग* के साथ आपका संपर्क पुनः स्थापित कर देता है। मन ही प्रतिरोध है, प्रतिरोध ही मन है।

समर्पण विशुद्ध रूप से आंतरिक घटना होती है। इसका अर्थ यह बिल्कुल नहीं है कि बाहरी तौर पर आप कोई कदम नहीं उठा सकते हैं और न ही उस स्थिति-परिस्थिति को बदल सकते हैं। दरअसल, जब आप समर्पण करते हैं तब कुल मिला कर समूची स्थिति को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं होती है, बल्कि 'अब' कहे जाने वाले छोटे से टुकड़े को ही स्वीकार करना होता है।

उदाहरण के लिए, अगर कभी आप कहीं कीचड़ में गिर जाएं तब आप यह थोड़े ही न कहेंगे: "ठीक है, मैं खुद को कीचड़ में पड़े रहने के लिए छोड़ देता हूं।" प्रयास छोड़ देना, परिस्थिति के वश में हो जाना-यह समर्पण करना नहीं है। किसी भी अवांछित तथा अरुचिकर जीवन स्थिति को स्वीकार करने की आपको आवश्यकता नहीं है। और, न ही यह कहते हुए अपने आप को धोखा देने की ज़रूरत है कि कीचड़ में फंसे रहने में कोई बुराई नहीं है। नहीं, आप यह पूरी तरह जानिए कि आप उससे बाहर निकलना चाहते हैं। फिर आप अपना ध्यान सब तरफ़ से हटा कर वर्तमान पल पर केंद्रित कीजिए -मन द्वारा उस पर कोई ठप्पा लगाए बिना ही। यानी, 'अब' के बारे में आप टीका-टिप्पणी न करें, कोई निर्णय-निष्कर्ष न निकालें। इस तरह, आपके अंदर कोई प्रतिरोध नहीं जागेगा, कोई भावुक नकारात्मकता नहीं जागेगी। उस समय आप उस पल के "है पन" को स्वीकार कर रहे होंगे। फिर आप उस कीचड़ में से निकलने के लिए जो कुछ भी करना आवश्यक है वह करते हैं। ऐसे करने को मैं सकारात्मक कर्म कहता हूं। किसी भी नकारात्मक कर्म की अपेक्षा यह कहीं अधिक असरदार व कारगर रहता है क्योंकि नकारात्मक कर्म तो रोष, आक्रोष, हताशा या खिन्नता से पैदा हुआ करता है। जब तक कि आपको वांछित परिणाम नहीं मिल जाते तब तक आप 'अब' पर कोई ठप्पा लगाए बिना, उसका कोई नामकरण किए बिना, समर्पण करने का अभ्यास करते रहिए।

अपनी बात का चित्रण करने के लिए मैं एक दृश्य का वर्णन कर रहा हूं। किसी रात को आप घने कोहरे से घिरे किसी रास्ते पर चले जा रहे हैं। लेकिन आपके हाथ में एक

इतनी तेज़ फ्लैशलाइट है जो कोहरे को चीरती हुई आपके सामने एक संकरी लेकिन स्पष्ट जगह दिखा रही है। वह कोहरा आपकी जीवन-परिस्थिति है जिसमें अतीत तथा भविष्य शामिल है, वह फ्लैशलाइट आपकी सजग *प्रेज़ैंस* है, और जो स्पष्ट जगह दीख रही है वह 'अब' है।

समर्पण न करना आपके मनोवैानिक स्वरूप को, अहं के खोल को सख़्त व कड़ा बना देता है, और इस तरह आपमें अलगाव की एक प्रबल भावना पैदा कर देता है। आपको अपने परिवेश से और ख़ासतौर से अपने आसपास के लोगों से ख़तरा सा महसूस होने लगता है। अपने निर्णय-निष्कर्ष द्वारा दूसरों को तबाह करने का अचैतन्य आवेश आपमें जाग उठता है, स्पर्धा करने या हावी होने में भी ऐसी ही ज़रूरत महसूस हुआ करती है। प्रकृति भी आपको दुश्मन नज़र आने लगती है और आपकी धारणाएं तथा व्याख्याएं भय द्वारा संचालित होने लगती हैं। जिस मानसिक रोग को व्यामोह (पैरानोइया-जिसमें दूसरों पर शक करने तथा अविश्वास करने की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है) कहते हैं वह दरअसल चेतना की इस सामान्य लेकिन गड़बड़ वाली अवस्था का ही अति प्रबल रूप होती है।

प्रतिरोध की प्रवृत्ति के चलते न केवल आपका मनोवैज्ञानिक स्वरूप बल्कि आपका शारीरिक स्वरूप-आपका शरीर-भी कड़ा, कठोर और अड़ियल हो जाता है। शरीर के विभिन्न भागों में तनाव पैदा होने लगता है और कुल मिला कर शरीर संकुचित सा हो जाता है। शरीर के समुचित कार्यकलाप के लिए आवश्यक जीवन-ऊर्जा का अबाध प्रवाह तब काफ़ी कम हो जाता है। शारीरिक व्यायाम और कुछ विशेष प्रकार की कायिक-चिकित्सा द्वारा उस प्रवाह को पुनः प्राप्त करने में मदद तो मिल सकती है, लेकिन जब तक कि आप अपने दैनिक जीवन में समर्पण का अभ्यास नहीं करेंगे तब तक वे चीज़ें केवल अस्थाई राहत के लक्षण ही दिखा सकती हैं क्योंकि मूल कारण, यानी प्रतिरोध करने की प्रवृत्ति, तो वहीं रह रही होती है।

आपके भीतर एक ऐसी चीज़ है जो उन चलायमान परिस्थितियों से अछूती रहती है जो आपके जीवन के हालातों को गढ़ा करती हैं, और केवल समर्पण द्वारा ही आप उस चीज़ तक पहुंच सकते हैं। वह है आपके प्राण, आपका *बीइंग*, आपका अस्तित्व-जो कि वर्तमान के समयनिरपेक्ष साम्राज्य में शाश्वत रूप से निवास करता है। इस प्राण तक पहुंचना ही "वह कार्य है जिसे किए जाने की आवश्यकता है", जीसस ने जिसका ज़िक्र किया है।

अगर आपको अपनी कोई जीवन-परिस्थिति असंतोषजनक या असहनीय भी लग रही है तो सर्व प्रथम यह समर्पण ही है जिसके द्वारा आप अचैतन्य प्रतिरोध की उस प्रवृत्ति को

तोड़ सकते हैं जिसने कि उस परिस्थिति को ऐसा बना रखा है।

कोई कार्रवाई करने, बदलाव लाने या लक्ष्य को पाने के साथ समर्पण पूरी संगत देता है, तालमेल करता है। और तब, समर्पित अवस्था में पूरी तरह से एक अलग ही तरह की ऊर्जा और गुणवत्ता आपके करने में रहा करती है। समर्पण आपको *बीइंग* की स्रोत-ऊर्जा के साथ पुनः जोड़ देता है, और जो आप कर रहे हैं उसे अगर आप *बीइंग* में पगा कर कर रहे हैं तो फिर वह जीवन-ऊर्जा का आनंद-उत्सव हो जाता है जो आपको 'अब' में और गहरा ले जाता है। प्रतिरोध न करने से आपकी चेतना की गुणवत्ता, और फिर जो कुछ आप कर रहे हैं उसकी गुणवत्ता, बेहद बढ़ जाती है। फिर परिणाम अपनी परवाह खुद करते हैं और गुणवत्ता को प्रतिबिंबित भी करते हैं। इसे हम "समर्पित कर्म" भी कह सकते हैं। यह वह कर्म नहीं है जिसकी धारणा हमने हज़ारों वर्षों से बना रखी है। जैसे-जैसे अधिक लोग जाग्रत होते जायेंगे, वह पुरातन *कर्म* शब्द हमारी शब्दावली से लुप्त होता चला जायेगा और इसके स्थान पर रखने के लिए कोई नया ही शब्द रच लिया जायेगा।

इस वर्तमान पल में जो आपकी चैतन्यता की गुणवत्ता है वही यह निर्धारित करेगी कि आप किस प्रकार के भविष्य में से गुज़रेंगे, इसलिए समर्पण ही वह सबसे महत्वपूर्ण चीज़ है जो सकारात्मक बदलाव लाने के लिए आप कर सकते हैं। इसके अलावा जो कुछ भी आप करेंगे वह गौण ही रहेगा। इसलिए, कोई सचमुच सकारात्मक कदम आप चेतना की समर्पित अवस्था में ही उठा सकते हैं।

मैं समझ सकता हूं कि अगर मैं किसी ऐसी स्थिति-परिस्थिति में हूं जो कि अप्रिय है अथवा असंतोषजनक है लेकिन मैं उसे यथावत् स्वीकार कर लेता हूं तो फिर कोई दुख या तक़लीफ़ नहीं रहेगी। मैं उससे ऊपर उठ चुका होऊंगा। लेकिन, फिर भी मैं यह नहीं समझ पा रहा हूं कि अगर मुझ में एक निश्चित मात्रा तक असंतोष नहीं होगा तो फिर कुछ करने के लिए और बदलाव लाने के लिए मुझ में वह ऊर्जा या प्रेरणा कहां से आयेगी?

समर्पण की अवस्था में रहने पर आप यह बड़ी स्पष्टता से देख पाते हैं कि क्या किए जाने की आवश्यकता है, और फिर एक समय में एक काम करते हुए और एक समय में एक ही काम पर फ़ोकस रखते हुआ जो आवश्यक है वह आप करते हैं। प्रकृति से सीखिए: देखिए कि असंतोष या दुख माने बिना हर चीज़ किस तरह से पूरी होती है और किस तरह से जीवन एक चमत्कार की तरह परत-दर -परत खुलता चला जाता है। इसीलिए जीसस ने कहा था: लिली को देखिए, वे किस तरह बढ़ती हैं, न तो वह मेहनत-मशक्कत करती हैं और न ही इधर-उधर चक्कर लगाती फिरती हैं।"

अगर आपकी स्थिति-परिस्थिति कुल मिला कर असंतोषजनक या अप्रिय है तो *उससे तत्काल अलग हो जाइए और जो है* के समक्ष समर्पण कर दीजिए। यही वह

फ्लैशलाइट है जो कोहरे को काट रही है। तब आपकी चेतना बाहरी परिस्थितियों द्वारा नियंत्रित होना बंद कर देगी। तब आप प्रतिक्रियाओं व प्रतिरोधों में से प्रस्फुटित नहीं हो रहे होंगे।

फिर आप परिस्थिति की ख़ासियतों को ध्यान से देखिए। खुद से पूछिए, "क्या कुछ ऐसा है जो मैं इस स्थिति को बदलने के लिए, सुधारने के लिए या दूर करने के लिए कर सकता हूं?" अगर कुछ है तो जो उचित लगे वह करें। उन सैकड़ों चीज़ों पर फ़ोकस न करें जो आपको भविष्य में करेंगे या आपको करनी पड़ेंगी, बल्कि केवल उस एक बात पर ध्यान दें जो आप अब कर सकते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि आप कोई योजना न बनाएं। हो सकता है कि योजना ही वह एक काम हो जो आप अभी कर सकते हों। लेकिन यह सुनिश्चित कीजिए कि आप अपने मन में कोई "चलचित्र" चलाना शुरू न कर दें, खुद को कहीं भविष्य में देखना शुरू न कर दें, और इस तरह कहीं आप 'अब' से संपर्क न खो बैठें। जो कुछ आप करें, हो सकता है कि उसका फल आपको तुरंत न मिले। जब तक फल मिले-*जो है* का प्रतिरोध न करें। यदि कोई ऐसा कदम है ही नहीं जो कि आप उठा सकते हों और आप उस स्थिति से खुद को अलग भी न कर पा रहे हों तो उस स्थिति का ही प्रयोग समर्पण में और गहरे जाने के लिए, 'अब' में और गहरे जाने के लिए, *बीइंग* में और गहरे जाने के लिए कीजिए। जब आप वर्तमान के इस समयनिरपेक्ष आयाम में प्रवेश करते हैं तो अक्सर आपकी तरफ़ से कोई बहुत कुछ किए जाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है और आश्चर्यजनक तरीकों से बदलाव होने लगते हैं। तब जीवन बिल्कुल सहायक व सहयोगी हो जाता है। अगर भय, अपराध-भाव या अकर्मण्यता जैसे आंतरिक कारक आपको कुछ करने से रोक रहे होते हैं तो आपकी चैतन्य *प्रेज़ैंस* के प्रकाश में वे तिरोहित हो जाते हैं।

इस प्रकार के रवैये को समर्पण समझने की ग़लती मत कर बैठिए कि "कोई मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता" या "मुझे किसी की परवाह नहीं है"। इसे अगर ध्यान से देखेंगे तो आप पायेंगे कि इस प्रकार के रवैये में रोष व आक्रोश के रूप में नकारात्मकता छिपी रहती है, इसलिए यह समर्पण नहीं है बल्कि यह तो मुखौटा लगाए हुए प्रतिरोध ही है। जब आप समर्पण करें तो अपने ध्यान को अपने अंदर ले जाएं और जांच करें कि प्रतिरोध का कोई अवशेष आपके अंदर रह तो नहीं गया है। जब आप ऐसा करें तो बहुत चौकस होकर करें, अन्यथा किसी अंधेरे कोने में किसी विचार के रूप में या किसी अस्वीकृत, अनचीन्ही भावना के रूप में प्रतिरोध कहीं छिपा रह सकता है।

मानसिक शक्ति से आध्यात्मिक शक्ति की ओर

प्रतिरोध छोड़ने की बात करना तो आसान है लेकिन उसे छोड़ना बड़ा मुश्किल है। मुझे अभी भी यह स्पष्ट नहीं हुआ है कि उसे छोड़ा कैसे जाए। अगर आप कहते हैं कि समर्पण द्वारा उसे छोड़ा जा सकता है तो सवाल पैदा होता है: कैसे?

शुरुआत इस स्वीकारोक्ति से कीजिए कि आपमें प्रतिरोध है। जब-जब भी प्रतिरोध उभरे तो आप उसे देखते हुए वहीं बने रहिए। अवलोकन कीजिए कि आपका मन उसे पैदा कैसे करता है, उस स्थिति पर, आप पर, दूसरों पर वह कैसे ठप्पे लगाता है, कैसे उनका नामकरण करता है। इस सब में शामिल रहने वाली विचार प्रक्रिया को देखिए। उस भावना की शक्ति को महसूस कीजिए। प्रतिरोध का द्रष्टा बन जाने पर आप देखेंगे कि वह तो बेकार की चीज़ है, कि वह किसी भी उद्देश्य की पूर्ति नहीं करता। अपना पूरा अवधान 'अब' पर रखने से वह अचैतन्य प्रतिरोध चैतन्य हो जाता है और वहीं उसका अंत हो जाता है। ऐसा नहीं हो सकता कि आप अचैतन्य भी हों *और* सुखी व प्रसन्न भी हों, चैतन्य भी हों *और* नकारात्मकता में भी हों। नकारात्मकता, अप्रन्नता, दुख, पीड़ा, व्यथा, क्लेश किसी भी रूप में हों, उनके होने का मतलब यही है कि प्रतिरोध है, और प्रतिरोध हमेशा ही अचैतन्य हुआ करता है।

लेकिन मैं तो अपनी दुख की अनुभूतियों के साथ हमेशा ही सचेत रह सकता हूं?

क्या आपने दुख को चुना था? अगर आपने उसे चुना ही नहीं था तो वह पैदा कैसे हुआ, कैसे आया? उसके आने का प्रयोजन क्या था? उसे जीवित कौन रखे हुए है? आप कह रहे हैं कि आप दुख की अपनी अनुभूतियों के प्रति चैतन्य रहते हैं, लेकिन सच तो यह है कि आपने उनके साथ खुद को तादात्म्य कर लिया है और अचेतन रूप से चलने वाली विचार प्रक्रिया ने उसे जीवित रखा हुआ है। यह सब अचेतन रूप से हो रहा है। अगर आप चैतन्य हुए होते, यानी 'अब' में पूरी तरह *प्रेज़ैंट* रहते तो तमाम नकारात्मकता लगभग तत्काल ही समाप्त हो गई होती। आपकी *प्रेज़ैंस* में वह जीवित रह ही नहीं सकती। वह तो केवल आपकी अनुपस्थिति में ही ठहर सकती है। यहां तक कि आपकी *प्रेज़ैंस* में संचित-दुख भी जीवित नहीं रह सकते। अपने दुख को समय देकर ही आप उसे जीवित रखे हुए हैं। वही तो उसकी प्राण-शक्ति है। सघन वर्तमान पल की सजगता द्वारा समय को हटा दीजिए और वह दुख मर जायेगा। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या आप उसका मरना चाहते हैं? क्या आप उससे उकता गए हैं? बिना उसके आप क्या रह जाएंगे?

जब तक आप समर्पण का अभ्यास नहीं करते तब तक आध्यात्मिक आयाम एक ऐसी चीज़ बना रहेगा जिसके बारे में आप चाहे जितना पढ़ लें, बातें कर लें, उसके बारे में उत्साहित हो लें, किताबें लिख लें, विचार कर लें, विश्वास कर लें-या न भी करें, लेकिन

उससे कोई फ़र्क़ पड़ने वाला नहीं है। जब तक कि आप समर्पण करते नहीं हैं तब तक वह आपके जीवन की एक जीवित वास्तविकता नहीं बन सकता। जब आप समर्पण कर देते हैं तब वह शक्ति जो कि आप प्रसर्जित करते हैं, और जो फिर आपके जीवन को संचालित करने लगती है, वह हमारी उस मानसिक शक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक जीवंत बल वाली होती है जो कि अभी हमारे संसार को संचालित कर रही है, यानी वह मानसिक शक्ति जिसने हमारी सभ्यता के वर्तमान सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक ढांचे को रचा है और जो हमारी शिक्षा प्रणाली तथा मीडिया के जरिए खुद को लगातार जीवित रखे हुए है। समर्पण के माध्यम से ही आध्यात्मिक शक्ति इस संसार में अवतरित होती है। यह कोई दुख, कोई क्लेश, कोई पीड़ा नहीं रचती है-न आपके लिए, न अन्य मनुष्यों के लिए और न ही इस धरती के किसी भी जीव के लिए। मानसिक शक्ति के विपरीत, आध्यात्मिक शक्ति धरती को प्रदूषित नहीं करती और वह ध्रुवीयता के सिद्धांत का शिकार भी नहीं होती जो कि कहता है कि कोई भी चीज़ अपने विपरीत के बिना नहीं रह सकती, कि बुराई के बिना अच्छाई नहीं रह सकती। जो लोग ऐसी मानसिक शक्ति द्वारा संचालित हो रहे हैं-और ऐसे लोग धरती की जनसंख्या में बड़ी भारी संख्या में मौजूद हैं-वे आध्यात्मिक शक्ति के वजूद से अनभिज्ञ ही रहते हैं। जब मनुष्यों की पर्याप्त बड़ी संख्या समर्पण की अवस्था में प्रवेश कर लेगी और इसलिए नकारात्मकता से पूरी तरह मुक्त हो जायेगी तब वास्तविकता की एक अलग ही तरह की व्यवस्था का उदय होगा और वह एक अलग ही तरह के संसार की रचना करेगी। अगर यह धरती बची रही तो यही उन लोगों की शक्ति होगी जो इस पर वास करेंगे।

जीसस ने 'सर्म न ऑन द माउंट' में जब यह भविष्योक्ति की थी तब वह इसी शक्ति का संदर्भ दे रहे थे: "सज्जन लोग धन्य होंगे; इस धरती पर उनका अधिकार होगा।" यह शांत लेकिन सघन *प्रेज़ैंस* ही होती है जो मन के अचेतन ढर्रों का अंत कर देती है। तब कुछ समय के लिए भले ही वे ढर्रे सक्रिय रहें लेकिन फिर वे आपके जीवन को संचालित नहीं कर रहे होते हैं। जिन बाहरी स्थितियों का प्रतिरोध किया जा रहा था, वे भी समर्पण के चलते हटने लगती हैं, दूर होने लगती हैं। स्थितियों तथा व्यक्तियों का एक सशक्त रूपांतरकर्ता होता है समर्पण। स्थितियां अगर तुरंत नहीं दूर होती हैं तो भी आपके द्वारा 'अब' को स्वीकार किया जाना आपको उन स्थितियों से ऊपर उठने की क्षमता तो दे ही देता है। कुछ भी हो, आप मुक्त तो हो ही जाते हैं।

निजी संबंधों में समर्पण

उन लोगों के साथ क्या किया जाए जो मुझे इस्तेमाल करना चाहते हैं, मेरे साथ चालाकी करते हैं या मुझ पर हावी होना चाहते हैं? क्या मुझे उनके प्रति समर्पण कर देना चाहिए?

ऐसे लोग *बीइंग* से कटे हुए होते हैं और इसलिए ऊर्जा व शक्ति को वे आपसे प्राप्त करने की कोशिश में रहते हैं। यह सच है कि केवल एक अचैतन्य व्यक्ति ही दूसरों को इस्तेमाल करने या उनके साथ चालाकी करने की कोशिश करेगा, लेकिन यह भी उतना ही सच है कि केवल अचैतन्य व्यक्ति को ही इस्तेमाल किया जा *सकता* है और उसी के साथ चालाकी की जा *सकती है*। अगर आप दूसरों के अचैतन्य व्यवहार के प्रति प्रतिरोध करते हैं, उसका मुकाबला करते हैं, तो आप भी अचैतन्य ही हो जाते हैं। लेकिन, समर्पण का यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि आप खुद को अचैतन्य लोगों द्वारा इस्तेमाल होने दें। नहीं, ऐसा बिल्कुल भी नहीं है। लेकिन, यह बिल्कुल संभव है कि किसी व्यक्ति को दृढ़तापूर्वक और स्पष्टतः "ना" कह दी जाए, या उस स्थिति से उठ कर दूर चला जाए और साथ ही आंतरिक रूप से पूरी तरह अप्रतिरोध की अवस्था में भी रहा जाए। जब आप किसी व्यक्ति या स्थिति को "ना" कहते हैं, तो उस "ना" को अपनी किसी प्रतिक्रिया में से न आने दें बल्कि अपने अंतर्ज्ञान में से, इस स्पष्ट बोध में से आने दें कि उस पल में आपके लिए क्या सही है और क्या सही नहीं है। इसे अप्रतिक्रियात्मक "ना" रहने दें, एक उच्च गुणधर्म वाली "ना" रहने दें, एक ऐसी "ना" रहने दें जो हर तरह की नकारात्मकता से मुक्त हो और इसीलिए वह दुख को और आगे न बढ़ा रही हो।

जहां मैं काम करता हूं वहां कि स्थिति-परिस्थिति बड़ी अप्रिय है। मैंने उसके प्रति समर्पण का प्रयास किया है लेकिन ऐसा करना मुझे संभव नहीं लगा है। एक बड़ी मात्रा में प्रतिरोध आता ही रहता है।

अगर आप समर्पण नहीं कर सकते हैं तो जो करना है वह तुरंत कर दीजिए। उस स्थिति-परिस्थिति में बदलाव लाने के लिए कुछ बोलिए या कुछ कीजिए -या खुद को वहां से हटा लीजिए। अपने जीवन के लिए जिम्मेदारी लीजिए। नकारात्मकता से न तो अपने सुरम्य व कांतिमय *बीइंग* को और न ही इस धरती को प्रदूषित कीजिए। किसी भी तरह के दुख को अपने अंदर रहने की ठौर मत दीजिए।

और, अगर आप कुछ नहीं कर पा रहे हों, उदाहरण के लिए अगर आप जेल में हैं, तो आपके समक्ष दो ही विकल्प बचते हैं: प्रतिरोध या समर्पण। यानी, बाहरी स्थितियों से बंध जाना या मुक्त रहना, दुख महसूस करना या आंतरिक शांति में रहना।

अपने जीवन के बाहरी व्यवहार में भी क्या हमें अप्रतिरोध की साधना करनी होगी, जैसे हिंसा के प्रति भी अप्रतिरोध में रहना, या यह केवल किसी ऐसी बात के लिए होना चाहिए

जो हमारे आंतरिक जीवन से सरोकार रखती हो?

आपको केवल आंतरिक पहलू से ही सरोकार रखना है। वह प्राथमिक है, बुनियादी है। निश्चय ही, वह आपके बाह्य जीवन का भी रूपांतरण कर देगा और आपके संबंधों इत्यादि का भी।

समर्पण द्वारा आपके संबंधों में गज़ब का बदलाव आ जायेगा। अगर आप *जो है* को ही स्वीकार नहीं कर पाते हैं तो इसका परिणाम यह होगा कि आप किसी को भी उस तरह से स्वीकार नहीं कर पायेंगे जैसा कि वह है। आप लोगों के बारे में निर्णय-निष्कर्ष निकालते रहेंगे, उनकी निंदा-आलोचना करते रहेंगे, उन पर ठप्पे लगाते रहेंगे, उन्हें नापसंद व नामंजूर करते रहेंगे, या उन्हें बदलने की कोशिश करते रहेंगे। साथ ही, अगर आप 'अब' को भविष्य में पहुंचने का जरिया बनाने में लगे रहेंगे तो आपसे मिलने वाले हर व्यक्ति को आप कहीं पहुंचने या कुछ पाने का साधन भी बनाते रहेंगे। तब संबंधों का व लोगों का महत्व आपके लिए या तो दोयम दर्जे का हो जायेगा या बिल्कुल नहीं रहेगा। संबंधों से आप क्या फ़ायदा उठा सकते हैं, यही बात आपके लिए प्रमुख हो जायेगी-चाहे वह भौतिक लाभ हो, शक्ति व अधिकार का भाव हो, शारीरिक सुख हो, या किसी तरह की अहं-संतुष्टि हो।

आइए, मैं थोड़ा विस्तार से बताता हूं कि संबंधों में समर्पण किस तरह काम करता है। जब आप किसी बहस में या किसी द्वंद्व वाली स्थिति में उलझ जाएं -चाहे वह अपने जीवन साथी के साथ हो या किसी अन्य निकट संबंधी के साथ -तब ध्यानपूर्वक यह देखना शुरू कीजिए कि जब आपके पक्ष पर आक्रमण होता है तब आप किस तरह अपने बचाव में उतर आते हैं, या अपने अंदर उठते आवेग व आवेश के बल को आप तब महसूस कीजिए जब आप दूसरे के पक्ष पर आक्रमण कर रहे होते हैं। अपने ही दृष्टिकोण के प्रति और अपने ही मत-अनुमत के प्रति अपनी आसक्ति का अवलोकन कीजिए। खुद को सही सिद्ध करने और दूसरे को ग़लत सिद्ध करने की अपनी ललक के पीछे की मानसिक-भावनात्मक लपक को महसूस कीजिए। यह आवेग अहंकारी मन का ही आवेग है। तब उसे सम्मान सहित स्वीकार करके, यथासंभव उसे पूरी तरह महसूस करके, आप उसे चैतन्य बना दीजिए। फिर एक दिन, किसी बहस के बीच, आपको अचानक ही बोध होगा कि आपके पास तो चुनने का विकल्प है, और तब आप अपनी प्रतिक्रिया को छोड़ देना तय कर सकते हैं-केवल यह देखने के लिए कि क्या होता है। समर्पण कीजिए। अपनी प्रतिक्रिया को छोड़ देने का मेरा मतलब यह बिल्कुल नहीं है कि आप मौखिक रूप से बस कह उठें "ठीक है, आप ही सही हैं", भले ही आपका चेहरा यह कह रहा हो "मैं इस तरह की बचकानी अचैतन्यता से ऊपर उठ चुका हूं।" ऐसा करना तो प्रतिरोध को एक दूसरे ही तल पर स्थानांतरित कर देना मात्र होगा-जब कि अहंकारी मन तब भी आपकी बागडोर

अपने हाथ में लिए हुए अपनी ही उच्चता का दावा कर रहा होगा। मैं आपके अंदर की उस समूची मानसिक-भावनात्मक शक्ति को अलविदा कहने की बात कर रहा हूं जो कि शक्ति व अधिकार के लिए लड़-भिड़ रही होती है।

अहं बहुत ही चतुर-चालाक होता है, इसलिए आपको बहुत सावधान, बिल्कुल *प्रेज़ैंट*, और अपने साथ पूरी तरह ईमानदार रहना होगा-यह देखने के लिए कि क्या आपने अपनी मन की अवस्था के साथ कर ली गई तादात्म्यता को सचमुच तोड़ दिया व छोड़ दिया है और इस तरह अपने मन से खुद को मुक्त कर लिया है। अगर अचानक ही आप अंदर से खुद को बहुत हल्का-हल्का, स्पष्ट व निरभ्र, और गहराई तक शांत अनुभव करें तो यह साफ़ संकेत है कि आप समर्पित हो चुके हैं। तब देखिए कि चूंकि आप प्रतिरोध करके दूसरे व्यक्ति की मानसिक अवस्था को खुराक नहीं दे रहे होते हैं इसलिए उसकी मानसिक अवस्था का क्या होता है। जब मानसिक अवस्था के साथ तादात्म्यता नहीं रहती है तब सच्चा संवाद आरंभ होता है।

हिंसा, आक्रामकता और इसी तरह के हालात का सामना होने पर इस अप्रतिरोध का क्या होगा?

अप्रतिरोध का यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि आप कुछ न करें। इसका अर्थ तो यह है कि कुछ भी "करते हुए" आप अप्रतिक्रियात्मक रहें। पूरब के मार्शल आर्ट वालों की साधना में शामिल इस गहरी प्रज्ञा को याद रखिए: 'प्रति द्वंद्वी के बल को रोके नहीं। उससे ऊपर होकर उसे जीतने की कोशिश करें'।

इसके बाद, जब आप सघन *प्रेज़ैंस* की अवस्था में हों तब "कुछ न करना" पस्थितियों तथा लोगों का रूपांतरण करने तथा *हील* करने की प्रबल शक्ति रखता है। ताओ धर्म में एक सूत्र है *वू वी*, जिसका अनुवाद आमतौर पर यह किया जाता है "क्रियारहित क्रिया" या "बिना कुछ करते हुए शांत बैठना"। प्राचीन चीन में, इसे सर्वोच्च सिद्धि या गुण माना जाता था। चेतना की, बल्कि कहना चाहिए अचैतन्यता की, उस सामान्य अवस्था में निष्क्रिय रहने वाली अवस्था से, जो कि भय, अकर्मण्यता या अनिर्णय से उत्पन्न होती है, यह एक बिल्कुल भिन्न अवस्था है। सचमुच "कुछ न करने" में आंतरिक अप्रतिरोध तथा सघन सजगता शामिल रहा करती है।

दूसरी तरफ़, अगर कुछ करना ही पड़े तो फिर आप अपने संस्कारग्रस्त मन में से प्रतिक्रिया नहीं करते हैं, बल्कि उस स्थिति के प्रति आवश्यक अनुक्रिया को अपनी चैतन्य *प्रेज़ैंस* में से करते हैं। उस अवस्था में, आपका मन किसी भी धारणा-अवधारणा से मुक्त रहा करता है-हिंसा की अवधारणा से भी। ऐसे में यह कौन बता सकता है कि आप क्या करेंगे?

अहं तो यही मानता है कि आपके प्रतिरोध में ही आपकी शक्ति निहित रहती है, जब कि सच यह है कि प्रतिरोध आपको *बीइंग* से अलग कर देता है, जो कि शक्ति का एकमात्र स्थान है। प्रतिरोध तो दुर्बलता है, इसलिए वह भय शक्ति का नकाब पहन लेता है। अहं जिसे दुर्बलता समझता है वह तो आपकी *बीइंग* है-अपनी विशुद्धता, सरलता, निर्दोषता व शक्ति के रूप में। अहं जिसे सबलता समझता है वह तो दुर्बलता है। इसलिए अहं हमेशा एक निरंतर प्रतिरोध-शैली में रहा करता है और आपकी "दुर्बलता" को, जो कि दरअसल आपकी सबलता है, ढांपने के लिए तरह-तरह की नाटकबाज़ी करता रहता है।

जब तक कि समर्पण नहीं आता तब तक अचैतन्य नाटकबाज़ी हमारी मानवी अकर्मण्यता का एक बड़ा भाग बनी रहती है। समर्पण में, आपको न तो अहं की सुरक्षा की आवश्यकता रह जाती है और न ही झूठे मुखौटों की। आप बिल्कुल सरल-सहज हो जाते हैं, बिल्कुल वास्तविक हो जाते हैं। इस पर अहं कह उठता है, "ऐसा करना ख़तरनाक है" और यह कि "तुम असुरक्षित हो जाओगे, तुम्हें चोट पहुंचेगी।" लेकिन जो बात अहं जानता ही नहीं है वह यह है कि केवल प्रतिरोध को अलविदा कह देने से और "मुक्त भाव" में रहने से ही आप अपनी सच्ची और अत्यावश्यक अपराजेयता का अन्वेषण तथा वरण कर सकेंगे।

अपनी रुग्णता को *एन्लाइटेनमैन्ट* में रूपांतरित कर दीजिए

अगर कोई गंभीर रूप से बीमार है और उस अवस्था को पूरी तरह स्वीकार कर लेता है, अपनी बीमारी के समक्ष समर्पण कर देता है, तब क्या वह पुनः स्वस्थ होने की अपनी इच्छा को त्याग नहीं रहा होता है? बीमारी से जूझने का उसका संकल्प तो फिर रहेगा ही नहीं, या रहेगा?

समर्पण *जो है* की आंतरिक स्वीकृति होता है, बिना किसी शर्त के। अभी हम आपके *जीवन* के बारे में बात कर रहे हैं-वर्तमान पल के बारे मे-न कि आपके जीवन की स्थितियों या परिस्थितियों के बारे में, और न ही उसके बारे में जिसे मैं जीवन-परिस्थिति कहा करता हूं। इस बारे में हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं।

जहां तक बीमारी का सवाल है, इसका मतलब है कि यह आपकी जीवन-स्थिति का एक अंग है। इसलिए, इसका अतीत भी है और भविष्य भी है। अतीत और भविष्य मिल कर तब तक एक अनवरत सिलसिला बनाए रखते हैं जब तक कि 'अब' की मुक्तकर्ता शक्ति को आपकी सचेत *प्रेज़ैंस* के जरिए सक्रिय नहीं कर दिया जाता। जैसा कि आप जानते हैं, आपकी जीवन-स्थितियों को रचने वाली बहुत सारी परिस्थितियों के तले अधिक

गहरा व अधिक अनिवार्य कुछ रहा करता है और वह है-समय के पाश में बंधे न रहने वाले 'अब' में आपका जीवन, आपका *बीइंग*।

चूंकि 'अब' में कोई समस्या नहीं रहती है, इसलिए उसमें कोई बीमारी भी नहीं रहती है। किसी और के द्वारा आपकी दशा को दिए गए नाम में विश्वास कर लेना उस दशा को बनाए रखता है, उसे बले देता है और उस अस्थाई गड़बड़ को जमी हुई वास्तविकता जैसा बना देता है। यह विश्वास उसे न केवल वास्तविकता देता है, उसे जमा देता है बल्कि ऐसी निरंतरता भी देता है जो कि उसमें पहले नहीं थी। अगर वर्तमान पल पर फ़ोकस रखा जाए और उसे किसी मानसिक नामकरण से दूर रखा जाए तो बीमारी सिमट कर इनमें से कोई ऐसी दशा रह जाती है: कोई बदन दर्द, कमज़ोरी, बेचैनी या अक्षमता। *यही* वह है जिसके प्रति आपने समर्पण करना है-अभी। आपको "बीमारी" की धारणा के प्रति समर्पण नहीं करना है। दर्द व कष्ट आपको अगर वर्तमान में *प्रेज़ैंट* रहने की ओर, सघन चैतन्यता की अवस्था की ओर धकेल रहा हो तो उसे ऐसा करने दीजिए। इस दुख-दर्द को *एन्लाइटेनमैन्ट* के लिए प्रयोग कीजिए।

समर्पण *जो है* को नहीं बदल देता, कम से कम प्रत्यक्षतः तो बिल्कुल भी नहीं। समर्पण *आप* को बदल देता है। जब *आप* बदल जाते हैं तब आपकी सारी दुनिया बदल जाती है, क्योंकि आपकी दुनिया आपकी ही प्रतिबिंब तो है। इस बारे में हम पहले भी चर्चा कर चुके हैं।

अगर आप दर्पण देखें तो उसमें जैसे आप हैं वैसे ही तो दिखाई देंगे लेकिन अगर वह आपको अच्छा न लगे तो आप गुस्से से पागल होकर दर्पण में पड़ रहे अपने प्रतिबिंब पर हमला तो नहीं कर देते हैं। लेकिन, ऐसा आप तब वास्तव में कर रहे होते हैं जब आप अस्वीकार करने की अवस्था में होते हैं। और तब, अगर आप उस प्रतिबिंब पर हमला करते हैं तो वह भी पलट कर आप पर हमले की मुद्रा में आ जाता है। अगर आप उस प्रतिबिंब को स्वीकार कर लेते हैं-चाहे वह जो भी हो, जैसा भी हो-अगर आप उसके प्रति मित्रवत रहते हैं तो ऐसा नहीं हो सकता कि वह भी आपके प्रति मित्रवत न हो जाए। यही है वह विधा जिससे आप दुनिया को बदल देते हैं।

बीमारी कोई समस्या नहीं है। समस्या *आप* हैं, और तब तक हैं जब तक कि आपके अहंकारी मन के हाथों में आपके जीवन की बागडोर है। अगर आप बीमार पड़ जाएं या अक्षम हो जाएं तब ऐसा महसूस मत कीजिए कि आप किसी रूप में विफल हो गए हैं, ऐसा सोच कर अपराध-भाव मत पाल लीजिए। ज़िंदगी पर यह आरोप मत लगा दीजिए कि उसने आपके साथ अन्याय किया है, और न ही खुद को ही को कोई दोष दीजिए। यह सब प्रतिरोध करना ही है। अगर आपको कोई बड़ी बीमारी हो जाए तो उसका प्रयोग कीजिए *एन्लाइटेनमैन्ट* के लिए। जीवन में जो कुछ भी "बुरा" हो जाए-*एन्लाइटेनमैन्ट* के लिए उसका प्रयोग कीजिए। उस बीमारी में समय को मत जोड़ लीजिए। उसे न अतीत

दीजिए न भविष्य दीजिए। बीमारी के रहते खुद को सघन वर्तमान-पल की सजगता में रहने दीजिए-फिर देखिए कि क्या होता है।

आप एक कीमियागार (*एल्कैमिस्ट*-जो घटिया धातु को सोने में तब्दील कर देता है) बन जाइए। घटिया धातु को सोने में, दुख को चैतन्यता में, आपदा को *एन्लाइटेनमैन्ट* में बदल दीजिए।

क्या आप गंभीर बीमारी से ग्रस्त हैं और इसलिए जो कुछ मैंने अभी कहा है वह सब आपको अच्छा नहीं लगा है या उस पर आपको गुस्सा आ रहा है? अगर हां, तो यह इस बात का साफ़ संकेत है कि यह बीमारी आपके स्व का, आपके अहं का एक हिस्सा बन गई है और नाराज़ होकर आप अपनी पहचान का बचाव कर रहे हैं-और साथ ही बीमारी का भी। वह स्थिति जिस पर "बीमारी" का ठप्पा लगा दिया गया है, उसका उससे कोई लेनादेना नहीं है, कोई सरोकार नहीं है जो कि सचमुच आप हैं।

जब कोई आपदा आ पड़े

दुनिया में लोगों की अधिकांश जनसंख्या अभी भी अचैतन्य ही है, लेकिन फिर भी उनके जीवन की कोई भी संकटापन्न स्थिति उनके अहं के कठोर कवच को तोड़ने की, उन्हें समर्पण करने की और इस तरह उन्हें चैतन्य अवस्था की ओर ठेलने की क्षमता रखती है। किसी संकट से घिरी हुई स्थिति तब पैदा होती है जब यह लगता है किसी आपदा, किसी भारी उथल-पुथल, किसी भारी नुकसान, या दुख के कारण जैसे आपकी सारी दुनिया ही उजड़ गई है और जो कुछ बचा है उसका कोई मतलब नहीं रह गया है। यह मौत से सामना होने जैसा है, चाहे वह भौतिक हो, शारीरिक हो या मनोवैज्ञानिक हो। तब यह अहम्मन्य मन जिसने कि वह सारी दुनिया रच रखी थी, वह भी ध्वस्त हो जाता है। तब, उस पुरानी दुनिया की ख़ाक में से एक नई दुनिया वजूद में आ सकती है।

इस बात की वाक़ई कोई गारंटी नहीं है कि संकट से घिरी हर स्थिति ऐसा कर सकती है, लेकिन संभावना तो हमेशा रहती ही है। ऐसी स्थिति में कुछ लोगों का *जो है* के प्रति प्रतिरोध और भी प्रबल हो जाया करता है और इसलिए वह स्थिति नरक में ढल जाती है। जब कि, कुछ लोगों में ऐसे में केवल आंशिक रूप से ही समर्पण आता है, लेकिन वह भी उनको कुछ तो ऐसी गहराई और शांति दे ही देता है जो कि उनमें पहले नहीं थी। तब, अहं के कवच के कुछ टुकड़े टूट जाते हैं, और मन के पार रहने वाली आभा व शांति प्रस्फुटित होकर उसमें प्रवेश करने लगती है।

संकट से घिरी स्थिति ने अनेक चमत्कार किए हैं। फांसी पर लटकाए जाने की इंतज़ार में दिन बिता रहे ऐसे अनेक हत्यारे हुए हैं जिन्होंने अपने जीवन के कुछ अंतिम

घंटों में इस अहंरहित अवस्था को अनुभूत किया है, और उस अवस्था के साथ आने वाले आनंद को व शांति को भी महसूस किया है। जिस स्थिति में वे खुद को पा रहे थे उसके प्रति उनका प्रतिरोध इतनी पराकाष्ठा पर पहुंचा हुआ था कि वह उन्हें असहनीय पीड़ा दिया करता था, लेकिन, उनके लिए कहीं जाने का न कोई रास्ता था और न ही पलायन करने का कोई उपाय-यहां तक कि मन-निर्मित भविष्य में भी उनके लिए आशा की कोई किरण दिखाई नहीं देती थी। अतः, अस्वीकार्य को भी स्वीकार करने के लिए वे विवश हो गए थे। वे समर्पण के लिए विवश हो गए थे। और इस तरह, वे दिव्यता के क्षेत्र में प्रवेश करने की अवस्था में पहुंच गए थे जिसके साथ-साथ आती है मुक्ति: अतीत से पूरी मुक्ति। यह सच है कि संकट से घिरी कोई स्थिति स्वयं किसी दिव्यता या मुक्ति की अवस्था में पहुंचने की संभावना नहीं बनाती, लेकिन समर्पण करना तो ऐसी संभावना बनाता ही है।

तो, जब भी कोई आपदा या विपत्ति आ पड़े, या कुछ बहुत "'बुरा" हो जाए, जैसे बीमारी, अक्षमता, घर से बेघर हो जाना, भाग्य ख़राब हो जाना, सामाजिक प्रतिष्ठा खो जाना, किसी प्रगाढ़ संबंध का टूट जाना, किसी प्रियजन की मृत्यु हो जाना या उस पर कोई मुसीबत आ जाना, या स्वयं आपकी मौत का निकट आ जाना -तब आश्वस्त रहिए कि उसका दूसरा पहलू भी है, कि आप एक अविश्वसनीय चीज़ से बस एक कदम दूर हैं, और वह है: उस पीड़ा व दुख-तक़लीफ़ रूपी घटिया धातु को सोने जैसी कीमती धातु में तत्वांतरित कर देने की मुकम्मल कीमियाई, और उस एक कदम को समर्पण कहते हैं।

मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि आप ऐसी स्थिति में सुखी हो जायेंगे, खुश हो जायेंगे। नहीं, ऐसा नहीं है। लेकिन ऐसा अवश्य है कि आपका भय और दुख तत्वांतरित होकर शांति में, सुकून में बदल जायेगा जो कि एक बहुत गहरे स्थान से आ रहा होगा-स्वयं उस परम अव्यक्त से। यह "ईश्वरीय शांति है जो किसी भी बोध शक्ति से पार और परे है"। उसकी तुलना में सुख तो एक बहुत ही उथली चीज़ है। इसी कांति मान शांति के साथ आती है यह समझ-वह भी आपके मन के स्तर पर नहीं बल्कि आपके *बीइंग* की गहराई में-कि आप अविनाशी हैं, अमर हैं। यह कोई विश्वास मात्र नहीं है, बल्कि यह तो ऐसी पूर्ण सच्चाई है जिसे न तो किसी बाहरी प्रमाण की आवश्यकता है और न ही किसी अन्य स्रोत के सबूत की।

दुख को शांति में बदलना

मैंने प्राचीन ग्रीस के एक विरक्त तथा वीतराग दार्शनिक के बारे में पढ़ा है जिसे जब यह बताया गया कि उसका पुत्र एक दुर्घटना में मारा गया है तो उसका जवाब था, "मैं जानता था कि वह अमर नहीं हैं।" क्या यह समर्पण है? और अगर है तो मुझे यह नहीं चाहिए।

ऐसी कुछ स्थितियां होती हैं जिनमें यह समर्पण अस्वाभाविक, अप्राकृतिक और अमानवीय लगता है।

अपनी भावनाओं से कट जाना समर्पण नहीं है। लेकिन हम नहीं जानते कि जब उस दार्शनिक ने ये शब्द कहे थे तब उसकी आंतरिक अवस्था क्या रही होगी। हो सकता है कि कुछ चरम स्थितियों में 'अब' को स्वीकार करना अभी भी आपके लिए संभव न हो। लेकिन समर्पण में आपको इसके लिए एक और अवसर तो मिल ही जाता है।

आपका पहला अवसर तो यह होता है कि हर पल को आप उस पल की वास्तविकता के प्रति समर्पित कर दें। यह जानने के बाद कि जो हो गया है उसे *अन-हुआ* नहीं किया जा सकता -क्योंकि वह तो *है* ही -आप *जो है* को हां कहें या जो नहीं है उसे स्वीकार करें। उसके बाद आप वह करें जो आपको करना है, वह करें जो उस स्थिति की आवश्यकता है। अगर आप स्वीकारने की इस अवस्था में ठहरे रहते हैं तो आप कोई और नकारात्मकता, कोई और कष्ट-क्लेश, कोई और दुख सृजित नहीं करते हैं। तब आप अप्रतिरोध की अवस्था में, ईश-कृपा की अवस्था में, सहजता की अवस्था में रहते हैं, संघर्ष से मुक्त रहते हैं।

जब कभी भी आप ऐसा न कर पाएं, जब कभी भी आप वह अवसर खो बैठें-और वह इसलिए क्योंकि या तो आप इतनी चैतन्य *प्रेज़ैंस* पैदा नहीं कर पा रहे हैं जो कि आदत से मजबूर अचैतन्य प्रतिरोध को उठने से रोक सके, या इस कारण से कि वह स्थिति चरम रूप से इतनी विकट थी कि वह आपके लिए बिल्कुल भी स्वीकार्य नहीं थी-तब आप ही किसी न किसी रूप में दुख व कष्ट-क्लेश सृजित कर रहे होते हैं। आपको ऐसा लग सकता है कि वह स्थिति ही दुख-तक़लीफ़ पैदा कर रही है, लेकिन दरअसल बात यह नहीं है-आपका प्रतिरोध ही उसे पैदा कर रहा होता है।

तो अब आता है आपके समर्पण का दूसरा अवसर: जो कुछ बाहर है अगर उसे आप स्वीकार नहीं कर पा रहे हैं तो जो *भीतर है* उसे स्वीकार कीजिए। अगर आप बाहरी अवस्था को स्वीकार नहीं कर सकते हैं तो आंतरिक अवस्था को स्वीकार कीजिए। इसका अर्थ है: दुख का प्रतिरोध न करें। उसे वहां रहने दें। वह दुख जिस भी रूप में हो-शोक, विषाद, हताशा, निराशा, भय, चिंता, अकेलापन-उसके प्रति समर्पण करें। मानसिक रूप से उस पर कोई ठप्पा लगाए बिना उसे साक्षी की तरह देखें। उसे गले लगाएं। तब देखिए कि समर्पण का चमत्कार उस गहरे दुख को किस तरह एक गहरी शांति में बदल देता है। यह आपके लिए सूली पर चढ़ने जैसा है जिसके बाद आपको पुनर्जीवन मिलना है, उद्धार होना है, उसे होने दीजिए।

मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि कोई दुख के प्रति समर्पण कैसे कर सकता है। जैसा कि आपने ही बताया है कि असमर्पण ही दुख है तो, असमर्पण के प्रति आप समर्पण कैसे कर सकते हैं?

कुछ देर के लिए समर्पण को भूल जाइए। जब आपका दुख-दर्द गहरा होता है तब ये समर्पण-वमर्पण की तमाम बातें बिल्कुल बेकार और बेमानी लगती हैं। जब आपका दुख-दर्द गहरा होता है तब अधिक संभावना इस बात की ही रहती है कि उसके प्रति समर्पण करने के बजाय आप उससे पलायन करें, उससे दूर होने की एक उत्कट इच्छा आपमें रहती है। जो दुख-दर्द आप महसूस कर रहे हैं उसे आप महसूस करना ही नहीं चाहते हैं। इससे अधिक आम बात और क्या हो सकती है? लेकिन, बच निकलने का, पलायन करने का कोई रास्ता नहीं होता। हां, कुछ 'दिल बहलाने वाले' पलायन अवश्य हैं-जैसे किसी काम में जुटे रहना, शराब या ड्रग्स आदि का नशा कर लेना, क्रोध में दुर्वासा बने रहना, ख़याली पुलाव पकाना, दमन करना आदि-लेकिन ये बातें आपको दुख-दर्द से मुक्त नहीं करती हैं। दुख को जब आप अचैतन्य बना देते हैं तो उसकी प्रबलता कुछ कम नहीं हो जाती है। जब आप भावनात्मक दुख को नकार देते हैं तब जो कुछ भी आप करते या सोचते हैं वह भी और आपके संबंध भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। लगता है जैसे आप उसका प्रसारण कर रहे हों, क्योंकि ऐसे में जो ऊर्जा आपमें से निकल रही होगी उसे दूसरे लोग अवचेतन रूप से ग्रहण कर रहे होंगे। अगर वे अचैतन्य हुए तो वे अपने अंदर से इतना आवेग और आवेश उठता महसूस करेंगे जैसे वे आप पर आक्रमण करने या आपको चोट पहुंचाने के लिए विवश हो गए हों, या आप ही अपने दुख के अचैतन्य आवेग में उन्हें चोट पहुंचाने की कोशिश कर सकते हैं। आपकी आंतरिक अवस्था जैसी होती है, वैसी ही स्थिति आप आकर्षित करते हैं और वैसा ही अभिव्यक्त करते हैं।

जब बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं होता है तो भी उससे पार पाने का तो कोई रास्ता होता ही है। इसलिए, दुख-दर्द से बच कर मत भागिए। उसका सामना कीजिए। उसे पूरी तरह महसूस कीजिए। उसे *महसूस कीजिए*-उसके बारे में सोचिए मत। आवश्यक हो तो उसे अभिव्यक्त कीजिए, लेकिन उसके बारे में अपने मन में कोई *स्क्रिप्ट* न रचते रहिए। उस एहसास को अपना पूरा अवधान, पूरी तवज्जो दीजिए, न कि उस व्यक्ति, उस घटना या उस स्थिति को जो कि उस एहसास के पैदा होने का कारण आपको लग रहा हो। अपने मन को उस पीड़ा का इस्तेमाल करने देते हुए खुद को उसका शिकार बनने मत दीजिए। खुद के लिए दुख महसूस करते रहने और दूसरों को अपनी व्यथा कथा सुनाते रहने से आप खुद को उस दुख में फंसाए ही रखेंगे। चूंकि उस एहसास से बाहर निकलना संभव नहीं है इसलिए बदलाव की जो केवल संभावना है वह यह है कि उसमें उतर जाइए, अन्यथा कुछ भी नहीं बदलेगा। इसलिए, जो भी आप महसूस कर रहे हैं उसे

अपना पूरा अवधान दीजिए और मन द्वारा उसके लिए दिए जाने वाले किसी भी नाम या लेबल से परहेज़ कीजिए। जब आप उस एहसास में उतरें तो अत्यधिक सचेत रहें। पहले-पहल तो वह एक अंधेरी और डरावनी जगह लगेगी, लेकिन जब भी उससे मुंह मोड़ लेने का आवेग उठे तो उस आवेग का अवलोकन कीजिए, उसे ध्यान से देखिए लेकिन उसके अनुसार कुछ करिए मत। अपने अवधान को उस पीड़ा पर टिकाए रखिए, उस दुख को, भय को, आशंका को, अकेलेपन को, या जो कुछ भी वह है उसे महसूस करते रहिए। सजग-सचेत रहिए, *प्रेज़ैंट* रहिए, अपने संपूर्ण *बीइंग* के साथ, अपने शरीर के एक-एक कोशाणु के साथ *प्रेज़ैंट* रहिए। जब आप ऐसा करते हैं तब आप उस अंधेरे में एक प्रकाश ले आते हैं। यही होती है आपकी चैतन्यता की लौ।

ऐसी अवस्था में, आपको अब और समर्पण करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। वह तो पहले ही हो चुका होता है। कैसे? पूरा अवधान पूरी स्वीकृति है, यही समर्पण है। पूरा अवधान देकर आप 'अब' की शक्ति का प्रयोग करते हैं, यह आपकी *प्रेज़ैंस* की शक्ति है। प्रतिरोध के लिए छिप कर बैठने की कोई जगह इसमें बचती ही नहीं है। *प्रेज़ैंस* समय को दूर कर देती है। समय के अभाव में किसी दुख का, किसी नकारात्मकता का जी पाना असंभव हो जाता है।

दुख को स्वीकार करना मृत्यु में जाना है। गहरा दुख-दर्द महसूस करना, उसे होने देना, अपना अवधान उसमें रखना, यह चैतन्य रहते हुए मृत्यु में प्रवेश करना है। जब आप इस मृत्यु में मर जाते हैं तब आपको यह भान होता है कि मृत्यु तो कुछ है ही नहीं-और इसमें न कुछ ऐसा है कि जिससे डरा जाए। इसमें केवल अहं मरता है। धूप की एक ऐसी किरण की कल्पना कीजिए जो यह भूल गई हो कि वह तो सूर्य का एक अपृथक्य भाग है, और इस भुलावे में खुद को डालते हुए जो यह मान बैठी हो कि जीने के लिए उसे खुद ही संघर्ष करना है, और इसीलिए वह सूर्य के बजाय किसी और को अपनी पहचान बनाकर उसके साथ लग गई हो। उस किरण के लिए, इस भुलावे और भ्रांति की मृत्यु हो जाना क्या आश्चर्यजनक मुक्ति नहीं है?

क्या आप एक सरल-सहज मृत्यु चाहते हैं? क्या आप बिना किसी पीड़ा के, बिना किसी तड़पन के मरना चाहते हैं? तो हर बीते हुए पल के प्रति मर जाइए और अपनी *प्रेज़ैंस* के प्रकाश से उस बोझिल और समय की बेड़ियों में बंधे अहं का अंधेरा दूर होने दीजिए जिसे आपने "आप" होने की ग़लत फ़हमी पाल रखी है।

सलीब वाला तरीका

ऐसे बहुत से लोग हैं जो बताते हैं कि अपने गहरे दुख के जरिए उन्हें ईश्वर की प्राप्ति हुई है, और एक ईसाई कथन भी है ''सलीब वाला तरीका'', जो कि मेरे विचार से इसी ओर इशारा करता है।

इस बात के अलावा हमारा यहां किसी और बात से सरोकार भी नहीं है।

लेकिन, सच तो यह है कि अपने दुख के जरिए से उन्होंने ईश्वर को नहीं पाया, क्योंकि दुख में तो प्रतिरोध शामिल रहता है। उन्होंने ईश्वर को समर्पण के जरिए से पाया, *जो है* को पूरी तरह स्वीकार करने के जरिए से पाया जिसमें कि वे अपने घने दुख द्वारा धकेल दिए गए थे। किसी न किसी स्तर पर उन्हें यह बोध हो गया होगा कि उनका दुख-दर्द खुद उन्हीं का बनाया हुआ है।

आप समर्पण को ईश्वर प्राप्ति के बराबर कैसे मान सकते हैं?

चूंकि प्रतिरोध को मन से अलग किया ही नहीं जा सकता है इसलिए अगर प्रतिरोध को खत्म कर दिया जाए-यानी समर्पण कर दिया जाए-तो वह मन भी ख़त्म हो जाता है जो आपका मालिक बना बैठा है, जो ''आप'' होने का ढोंग रच रहा होता है, झूठा भगवान बना बैठा होता है। तब, सारे निर्णय-निष्कर्ष, समूची नकारात्मकता भी पिघल जाती है, गल जाती है। तब, *बीइंग* का साम्राज्य, जिसे मन ने ढांप रखा था, पुनः पूरी तरह खुल जाता है। अनायास ही, एक अथाह शांति और निस्तब्धता का भाव आपके भीतर से उदित होता है। उस शांति के अंदर विपुल आनंद की अनुभूति होती है। और उस आनंद में ही वास करता है प्रेम। तब, आपके अंतरतम में अवतरित होती है वह पवित्रता, वह अपरिमेयता, जिसे कोई नाम नहीं दिया जा सकता।

इसे मैं ईश्वर को पा लेना नहीं कहता, क्योंकि आप भला उसे कैसे पा सकते हैं जिसे आपने कभी खोया ही न हो-यानी वह प्राण जो आप हैं? यह ईश्वर शब्द सीमा में बांध देने वाला हो गया है-केवल इसलिए नहीं कि हज़ारों वर्षों से ईश्वर को ग़लत समझा गया है और इस शब्द का दुरुपयोग किया गया है बल्कि इसलिए भी कि यह अपने में एक ऐसी हस्ती का भाव रखता है जो कि आपसे अलग है। ईश्वर तो *बीइंग* है, कोई एक *बीइंग* नहीं। उसमें और हममें कर्ता-कर्म जैसा कोई संबंध नहीं है, कोई द्वैत नहीं है, आप और ईश्वर जैसी कोई स्थिति नहीं है। ईश्वर-अनुभूति तो वह एकदम सहज-स्वाभाविक चीज़ है जो मौजूद रहती है। अद्भुत और अबोधगम्य तथ्य यह नहीं है कि आप ईश्वर के प्रति चैतन्य हो सकते हैं, बल्कि यह है कि आप ईश्वर के प्रति चैतन्य रहते नहीं हैं।

सलीब के जिस तरीके का आपने ज़िक्र किया है वह *एन्लाइटेनमैन्ट* का पुराना तरीका है, और हाल-फ़िलहाल तक इकलौता रास्ता भी यही था। फिर भी, इसे रद्द न करें

और न ही इसकी फलोत्पादकता को कुछ कमतर आंकें। यह अभी भी कारगर है।

सलीब वाला तरीका एक बिल्कुल उलट बांसी जैसा है। यानी, इसमें आपके जीवन की जो सबसे ख़राब, सबसे बुरी चीज़ है, जैसे सलीब, वही चीज़ किसी भी अन्य चीज़ के मुकाबले आपके लिए अब तक की सबसे अधिक हितकारी व कल्याणकारी चीज़ सिद्ध होती है, क्योंकि वही आपको समर्पण की तरफ़, "मृत्यु" की तरफ़ ठेलती है, वही आपको कुछ न बनने की तरफ़, ईश्वर हो जाने की तरफ़ धकेलती है -क्योंकि ईश्वर भी तो 'कुछ' नहीं है।

आज भी, इंसानों की अधिकांश संख्या की अचैतन्यता को देखते हुए, सलीब वाला तरीका अभी भी इकलौता तरीका है। केवल अधिक दुख द्वारा ही ऐसे लोग चेतेंगे, और इसलिए व्यापक उथल-पुथल के बाद एक सामूहिक परिदृश्य के रूप में होने वाले *एन्लाइटेनमैन्ट* की भविष्यवाणी की जा सकती है। यह प्रक्रिया कुछ ऐसे सर्वव्यापी नियमों की क्रिया को दर्शाती है जो चेतना के विकास अभिवृद्धि को संचालित करते हैं, और इसलिए कुछ मनीषियों द्वारा इसे पहले ही पहचान लिया गया था। कुछ अन्य ग्रंथों में भी इसका वर्णन किया गया है, जैसे *बुक ऑफ़ रेवेलीशन* या *एपोक्लिप्स* में, हालांकि वहां इन्हें कुछ छिपे हुए और कभी-कभी तो समझ में न आने वाले प्रतीकों के रूप में ही वर्णित किया गया है। यह दुख ईश्वर द्वारा किसी दंड के रूप में थोपा नहीं गया है बल्कि इंसानों द्वारा इसे खुद ही ओढ़ा गया है-खुद पर भी और एक दूसरे पर भी यह लादा गया है-और साथ ही उन कुछ रक्षात्मक उपायों द्वारा भी दिया गया है जो कि इस धरती ने पागलपन भरे इंसानों द्वारा की जाने वाली मारकाट से खुद को बचाने के लिए अपनाए हैं, क्योंकि यह धरती भी तो एक जीवंत और प्रज्ञावान सकारण-संरचना ही है।

लेकिन, ऐसे जीते-जागते लोगों की संख्या आज बढ़ रही है जिनकी चैतन्यता इतनी विकसित हो चुकी है कि *एन्लाइटेनमैन्ट* को प्राप्त करने के लिए उन्हें और दुख उठाने की आवश्यकता नहीं रह गई है। आप भी उनमें से एक हो सकते हैं।

दुख के जरिए *एन्लाइटेनमैन्ट* प्राप्त करना-यानी सलीब वाला तरीका अपनाना-इसका अर्थ है खुद को कष्ट देते हुए खुद को स्वर्ग में की ओर धकेलना। इसमें अंततः आप समर्पण कर देते हैं क्योंकि इतना दर्द आप सहन नहीं कर पाते हैं, लेकिन दर्द तब तक चल सकता है जब तक कि आप समर्पण की अवस्था तक पहुंच नहीं जाते। चैतन्य रूप में एन्लाइटेनमैन्ट चुनने का अर्थ है अतीत व भविष्य के प्रति अपनी आसक्ति को छोड़ देना और 'अब' को अपने जीवन का मुख्य फ़ोकस बना लेना। इसका अर्थ होता है समय में, यानी विगत या आगत समय में जीने के बजाय वर्तमान में रहना, जीना। इसका अर्थ होता है *जो है* को हां कहना। फिर आपको और अधिक दुख व कष्ट की आवश्यकता ही नहीं रहती। आपको क्या लगता है कि यह कहने के लिए आपको कितना और समय चाहिए

कि "अब मैं कोई और दुख, और पीड़ा सृजित नहीं करूंगा"? यह चुनाव करने से पहले आपको और कितने दुख, कितनी पीड़ा की आवश्यकता है?

अगर आपको लगता है कि आपको और समय चाहिए तो आपको समय मिलेगा- यानी और दुख व कष्ट मिलेगा। समय और दुख अपृथक्य रहते हैं, सदा संबद्ध रहते हैं, इन्हें अलग नहीं किया जा सकता।

चयन करने की शक्ति

उन लोगों के बारे में आप क्या कहेंगे जो लगता है कि दुख व कष्ट को सचमुच चाहते हैं? मेरी एक मित्र है जिसका पति उसके साथ दुर्व्यवहार करता है, उसका पहला पति भी ऐसा ही था। वह ऐसा ही आदमी क्यों चुनती है, और ऐसी स्थिति से बाहर निकलने से वह अब मना क्यों कर रही है? बहुत से लोग दुख-दर्द को सचमुच चुनते ही क्यों हैं?

मैं जानता हूं कि यह *चुनना* शब्द आज की नई पीढ़ी का बड़ा प्रिय शब्द हो गया है, लेकिन यह इस संदर्भ के लिए बिल्कुल भी सही नहीं बैठता है। यह कहना ग़लत होगा कि अमुक ने एक उत्पीड़क संबंध को "चुना" या अपने जीवन की किसी भी नकारात्मक स्थिति को "चुना"। चुनने में तो सजगता की आवश्यकता होती है-एक अत्यंत चैतन्यता की आवश्यकता होती है। उसके बिना तो आप कुछ चुन ही नहीं सकते। चुनने की तो शुरुआत ही तब होती है जब आप खुद को अपने मन और उसके संस्कारग्रस्त तौर-तरीकों की तादात्म्यता में से बाहर निकाल लेते हैं, जब आप वर्तमान में *प्रेज़ैंट* हो जाते हैं। जब तक आप उस बिंदु तक नहीं पहुंच जाते हैं तब तक तो आप, आध्यात्मिक भाषा में, अचैतन्य ही हैं। यानी, तब आप अपने मन की संस्कारग्रस्ता के वशीभूत रहते हुए और उसी के द्वारा निर्धारित किए गए तौर-तरीकों से ही सोचने, महसूस करने और कार्य करने के लिए विवश रहते हैं। इसीलिए तो जीसस ने कहा था: "उन्हें क्षमा कर दो, क्योंकि वे जानते ही नहीं कि वे क्या कर रहे हैं।" लेकिन, इस बात का संबंध इस शब्द के प्रचलित अर्थ से बिल्कुल नहीं है। मैं ऐसे अनेक लोगों से मिला हूं जो उच्च शिक्षित हैं, ज्ञानवान हैं लेकिन फिर भी पूरी तरह अचैतन्य हैं, यानी पूरी तरह से अपने मन के साथ तादात्म्य हैं। वास्तव में, मानसिक विकास और ज्ञान के विस्तार का प्रति-संतुलन बनाए रखने के लिए अगर चेतना का भी उतना ही विकास नहीं किया जाता है तो दुख और दुर्भाग्य की संभावना बहुत अधिक बढ़ जाती है।

आपकी मित्र एक दुर्व्यवहार करने वाले साथी को सहते हुए वहीं अटकी हुई है, लेकिन ऐसा पहली बार भी नहीं है। है न? यह कोई चयन नहीं है। अतीत द्वारा कुछ

निश्चित संस्कारों में ढाला गया यह मन हमेशा ही बारंबार उसे ही फिर-फिर रचना चाहा करता है जो इसे ज्ञात है, जिससे वह सुपरिचित है। उसे लगता है कि भले ही वह पीड़ाजनक हो लेकिन परिचित तो है। मन हमेशा ही ज्ञात के साथ चिपका रहता है। अज्ञात से उसे हमेशा ख़तरा लगता है क्योंकि अज्ञात पर इसका कोई नियंत्रण नहीं होता। यही कारण है कि मन वर्तमान को पसंद नहीं करता, उसकी उपेक्षा करता है। वर्तमान-पल के प्रति सजगता दरअसल एक अंतराल पैदा कर देती है-न केवल मन के धारा प्रवाह में बल्कि अतीत-भविष्य की सतता व निरंतरता में भी। इस संसार में जो कुछ सचमुच नया और रचनात्मक आता है वह इस अंतराल के जरिए ही आता है, अन्यथा आ ही नहीं सकता क्योंकि यह अंतराल ही अनंत संभावनाओं वाला स्वच्छ, निर्बाध, स्पष्टदर्शी व पारदर्शी रिक्त स्थान होता है।

इसलिए, हो सकता है कि अपने मन के साथ तादात्म्य रहने के कारण आपकी मित्र अतीत में सीखे हुए और जिए हुए उसी ढर्रे को बारंबार रचने में लगी रहती हो जिसमें घनिष्ठता और दुर्व्यवहार इस क़दर परस्पर जुड़े रहते हों कि उन्हें अलग न किया जा सकता हो। या, यह हो सकता है कि वह किसी ऐसे मानसिक प्रभाव के कारण कर रही हो जो कि उसके शुरुआती बचपन में पड़ा हो जिसके अनुसार वह किसी लायक नहीं है और इसलिए सज़ा की हक़दार है। यह भी संभव है कि अपने जीवन का अधिकांश भाग वह संचित-दुख के जरिए जीती हो जो कि हमेशा ही और-और दुख चाहा करता है क्योंकि वही उसकी खुराक होती है। उसका पति खुद में अपने ही एक ऐसे अचैतन्य मानसिक ढांचे रहता हो जिसके साथ इसका मानसिक ढांचा अनुपूरक सिद्ध होता हो। निश्चय ही, उसकी यह स्थिति उसकी खुद की बनाई हुई है, लेकिन वह खुद कौन है या क्या है जो इस स्थिति को रच रहा है? अतीत से लिया गया केवल एक मानसिक-भावनात्मक ढंग व ढर्रा, कुछ और नहीं। इससे एक अहम्मन्यता क्यों बन जाती है? अगर आप उसे यह बताएं कि उसकी इस दशा को, इस स्थिति को खुद उसी ने चुना है तब अपने मन के साथ कर ली गई तादात्म्यता की उसकी अवस्था को आप और अधिक बल दे रहे होंगे। लेकिन क्या जो उसके मन का ढंग-ढर्रा है वही वह खुद है? या, क्या वह अपना अहं है? क्या इसकी असल पहचान उसका अतीत ही है? अपनी मित्र को बताइए कि उसके विचारों और भावनाओं के पीछे जो है उसका अवलोकन करने वाली प्रेज़ैंस वह कैसे बने। उसे संचित-दुख के बारे में बताइए और यह भी बताइए कि उससे खुद को मुक्त कैसे किया जाए। उसे आंतरिक-शरीर को सजग रखने की कला सिखाइए। प्रेज़ैंस क्या होती है, यह उसके सामने करके दिखाइए। जब वह वर्तमान की शक्ति तक पहुंचने के योग्य हो जायेगी, और उसके द्वारा अपने संस्कारग्रस्त अतीत के बंधन तोड़ कर वह बाहर आ जायेगी, तब वह चुन *पायेगी*।

गड़बड़, द्वंद्व, टकराव, दुख, पीड़ा-इनको कोई चुनता नहीं है। पागलपन को कोई चुनता नहीं है। ये चीज़ें तो हो जाती हैं, और हो इसलिए जाती हैं क्योंकि आपमें इतनी पर्याप्त *प्रेज़ैंस* नहीं रहती है कि वह अतीत को पिघला सके, आपमें इतना प्रकाश नहीं रहता है कि अंधकार को दूर कर सके। आप पूरी तरह 'यहां' रहते ही नहीं हैं। अभी भी आप पूरी तरह जागे ही नहीं हैं। और इस दौरान आपका संस्कारग्रस्त मन ही आपके जीवन को चलाया करता है।

इसी तरह, अगर आप उन लोगों में से एक हैं जिनकी अपने माता-पिता के साथ नहीं निभ रही है, आपके माता-पिता जो करते हैं या जो वे नहीं करते हैं उसके प्रति अगर आप रोष व नाराज़गी पाले हुए हैं, तो इसका मतलब यह कि आप अभी भी यह माने हुए हैं कि उनमें चुनने की क्षमता है-कि वे इस तरह के बजाय उस तरह कर सकते हैं। *लगता* हमेशा यही है कि लोग जो कर रहे हैं वह करना उन्होंने चुना है, लेकिन यह एक भ्रम है। जब तक आपका मन अपने संस्कारग्रस्त तौर-तरीकों से आपके जीवन को चला रहा है, जब तक कि आप मन *ही हैं*, तब तक आपके सामने चुनने की नौबत ही कहां आती है? बिल्कुल नहीं आती। आप तो वहां होते तक नहीं हैं जहां आप हैं। मन के साथ तादात्म्यता वाली अवस्था एक बुरी तरह का गड़बडझाला है। वह पागलपन का ही एक रूप है। लगभग हर व्यक्ति इस अवस्था से ग्रस्त है, हर एक के पागलपन की केवल मात्रा ही कम या ज़्यादा होती है। जिस पल आपको इसका बोध हो जाता है, आपका रोष, आक्रोश और नाराज़गी समाप्त हो जाती है। किसी की बीमारी के साथ भला आप रोष कैसे कर सकते हैं? किसी की ऐसी अवस्था के प्रति किया जाने वाला उचित व्यवहार तो करुणा ही है।

इसका मतलब क्या यह हुआ कि कोई जो कुछ भी कर रहा है उसके लिए वह ज़िम्मेदार नहीं है? मुझे तो यह बात बड़ी बेतुकी लग रही है।

अगर आप अपने मन द्वारा संचालित किए जा रहे हैं, तब भले ही जो कुछ आप कर रहे हैं वह करना आपके द्वारा चुना न गया हो, तो भी खुद के अचैतन्य होने के परिणाम तो आपको भुगतने ही पड़ेंगे, और इस तरह आप और-और दुख सृजित करते जायेंगे। भय, द्वंद्व, टकराव, समस्याएं और पीड़ा-इन सबका बोझ तो आप उठाते फिर रहे होंगे। इस प्रकार से पैदा होने वाला दुख अंततः आपकी अचैतन्य अवस्था से बाहर निकलने के लिए आपको विवश कर ही देगा।

जो बात आप चुनने के बारे में कह रहे हैं, मुझे लगता है कि वह क्षमादान पर भी लागू होती है। क्षमा करने से पहले हमें पूरी तरह चैतन्य होने और समर्पण करने की आवश्यकता पड़ती है।

“क्षमा” शब्द का प्रयोग हालांकि कोई 2000 वर्षों से किया जा रहा है, लेकिन अधिकतर लोगों को एक बड़ा सीमित सा ही अनुमान है कि इसका अर्थ क्या है। आप खुद को या किसी और को तब तक सचमुच क्षमा नहीं कर सकते जब तक कि आप अपने स्व का भाव अतीत से ग्रहण कर रहे होते हैं। सच्ची क्षमा केवल ‘अब’ की शक्ति के जरिए ही की जा सकती है जो कि आपकी ही शक्ति है-आपके मन की नहीं। यह अवस्था अतीत को निर्बल कर देती है, और इसमें आपको यह गहन बोध हो जाता है कि ऐसा कुछ भी जो कि आपके द्वारा किया गया हो या आपके प्रति किया गया हो, वह उस देदीप्यमान सार तत्व को लेशमात्र भी स्पर्श कर पाता हो जो कि वास्तव में आप हैं। तब क्षमा करने की पूरी अवधारणा ही अनावश्यक हो जाती है।

लेकिन बोध के उस बिंदु तक मैं पहुंचू कैसे?

जब आप जो है के प्रति समर्पण कर देते हैं और ऐसा करने से आप पूरी तरह *प्रेज़ैंट* रहने लगते हैं तब अतीत के पास कोई शक्ति नहीं रह जाती है। आपको अतीत की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। *प्रेज़ैंस*-यानी वर्तमान में विद्यमान रहना ही महत्व रखता है। ‘अब’ ही महत्व रखता है।

मैं कैसे जानूं कि मैंने समर्पण कर दिया है?

जब आपको सवाल करने की आवश्यकता न रह जाए।

नोट्स

1. ए -कोएस्टलर, 'दि घोस्ट इन दि मशीन' (अर्काना, लण्दन, 1989) पृ. 180।
2. ज़ी. ब्रज़ैजिन्स्की, दि ग्राण्ड फेलियर (चार्ल्स सिक्रबिनर्स सन्स, न्यूयॉर्क 1989) पी.पी. 239-40।
3. ए कोर्स इन मिरेकिल्स (अन्तर-शान्ति का आधार, 1990) परिचय।
4. आर. एल. सिवार्ड, वर्ल्ड मिलिट्री एण्ड सोशल एक्सपैण्डीचर्स, 1996, 16 वाँ संस्करण (वर्ल्ड प्रायोरिटीज, वाशिंगटन डी. सी. 1996), पृष्ठ-7।

लेखक के बारे में

एक्हार्ट टॉल्ल का जन्म 1948 में जर्मनी में हुआ था। उनका बचपन वहीं बीता। यूनिवर्सिटी ऑफ़ लंदन से उन्होंने स्नातक की उपाधि प्राप्त की और फिर वे कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में शोधकर्ता और सुपरवाइज़र रहे। जब वे उन्तीस वर्ष के थे तब वे एक प्रबल आध्यात्मिक रूपांतरण में से गुज़रे जिसने उनकी इससे पूर्व की पहचान को वास्तव में विलीन कर दिया और उनके जीवन की धारा को पूरी तरह परिवर्तित कर दिया।

अपने अगले कुछ वर्ष उन्होंने बोध करने, समग्र बनने और उस रूपांतरण को गहन करने के प्रति समर्पित कर दिए जो उनकी गहन अंतर्यात्रा के शुभारंभ का संकेतक बना।

एक्हार्ट किसी विशेष धर्म या परंपरा के साथ जुड़े नहीं हैं। अपनी शिक्षाओं में वे पुरातन आध्यात्मिक गुरुओं की कालजयी व स्पष्ट व्याख्या को बड़े ही सहज लेकिन प्रभावी ढंग से बयां करते हैं: दुख से बाहर निकलने और शांति में प्रवेश करने का एक मार्ग उपलब्ध है।

एक्हार्ट हालांकि 1996 से कनाडा के वैंक्यूवर नगर में रह रहे हैं लेकिन व्यापक रूप से यात्रा करते हुए पूरे विश्व में वे अपनी शिक्षाओं का प्रसार कर रहे हैं और अपनी उपस्थिति अनुभूत करा रहे हैं।

For information on talks, satsangs, intensives, retreats, and meditations given by Eckhart Tolle see:

www.eckharttolle.com

For further details, contact:

Yogi Impressions LLP
1711, Centre 1, World Trade Centre,
Cuffe Parade, Mumbai 400 005, India.

Fill in the Mailing List form on our website
and receive, via email, information on
books, authors, events and more.
Visit: www.yogiimpressions.com

Telephone: (022) 61541500, 61541541
E-mail: yogi@yogiimpressions.com

Join us on Facebook:
www.facebook.com/yogiimpressions

ALSO PUBLISHED BY YOGI IMPRESSIONS

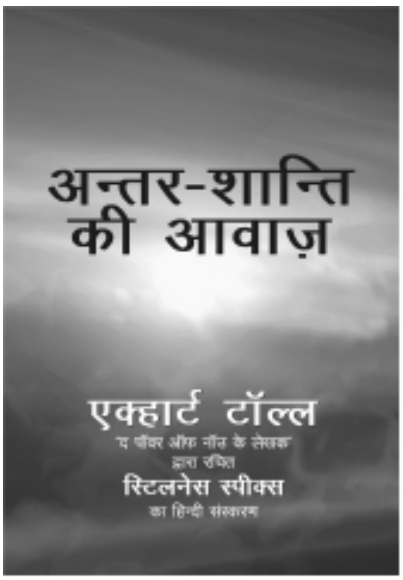

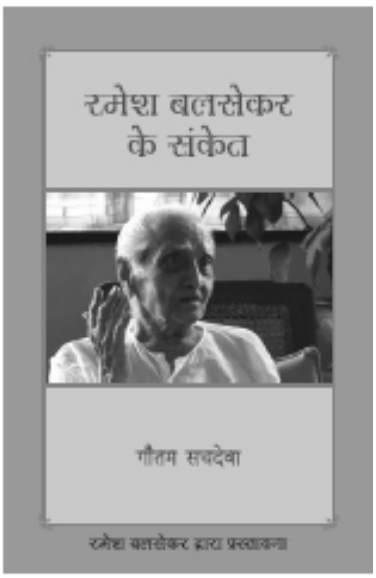

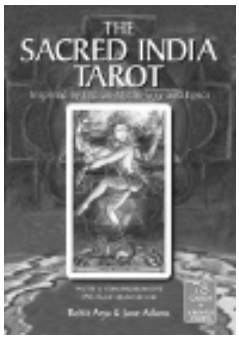

The Sacred India Tarot
Inspired by Indian Mythology and Epics
78 cards + 4 bonus cards + 350 page handbook
The Sacred India Tarot is truly an offering from India to the world. It is the first and only Tarot deck that works solely within the parameters of sacred Indian mythology – almost the world's only living mythology today.

शक्तिमान वर्तमान

"अपने जीवन में सचमुच प्रेजेंट रहने और अपने भूत व भविष्य से मुक्त होने के लिए जगा देने वाली पुस्तक। यह पुस्तक आपकी सोच को बदल सकती है। परिणाम क्या होगा? अधिक हर्ष व आनंद, अविलंब।"

– ओपरा विनफ्रे, *में ओ: द ओपरा मैगजीन*

इस पुस्तक में यात्रा करने के लिए हमें अपने विश्लेषणकर्ता मन और उससे उपजे मिथ्या स्व को, यानी अहं को छोड़ कर आगे बढ़ने की आवश्यकता होगी। हालांकि यह यात्रा चुनौती भरी है लेकिन एकहार्ट टॉल्ल इसे सरल भाषा में और सवाल-जवाब के रूप में प्रस्तुत करते हुए हमें मार्गदर्शन कराते चलते हैं। उनके शब्द ही मार्गसूचक का काम करते हैं।

इस यात्रा में चलते-चलते, हम में से बहुतों के लिए अनेक बातों से पर्दा उठता जाता है, नए-नए अन्वेषण होते जाते हैं, जैसे: हम अपना मन नहीं हैं, मनोवैज्ञानिक पीड़ा से बाहर निकलने का अपना रास्ता हम खोज सकते हैं, 'अब' के प्रति समर्पण करना ही वास्तविक मानसी शक्ति है। इसमें हमें यह भी पता चलता है कि हमारे चारों ओर व्याप्त निःशब्दता तथा आकाश की तरह ही यह शरीर भी आंतरिक शांति की अवस्था में प्रवेश करने का बाकई एक प्रमुख साधन है। दरअसल, शांति के प्रवेश द्वार सर्वत्र उपलब्ध हैं। ये सभी प्रवेश द्वार खुद को उस 'अब' में, उस वर्तमान पल में लाने के लिए उपयोग किए जा सकते हैं जिसमें कि कोई समस्या नहीं रहा करती। यहीं हम यह जान पाते हैं कि हम तो पहले से ही पूर्ण हैं, परिपूर्ण हैं।

जब से यह पुस्तक (*द पॉवर ऑफ नाउ*) प्रकाशित हुई है, तभी से इसे उन दुर्लभ पुस्तकों में से एक कहा जा रहा है जो कि पाठकों के अंदर ज्ञान जगाने वाली होती हैं – एक ऐसी पुस्तक जो इनका जीवन बेहतर बनाने के लिए इनमें आमूल परिवर्तन ला सकती है।

एकहार्ट टॉल्ल एक ऐसे समकालीन आध्यात्मिक शिक्षक हैं जो किसी विशेष धर्म या परंपरा के साथ जुड़े नहीं हैं। अपने लेखन में वे पुरातन आध्यात्मिक गुरुओं की कालजयी व स्पष्ट व्याख्या को बड़े ही सहज लेकिन प्रभावी ढंग से व्यक्त करते हैं: दुख से बाहर निकलने और शांति में प्रवेश करने का एक मार्ग उपलब्ध है। उनकी अन्य पुस्तकें हैं: *स्टिलनेस स्पीक्स, प्रैक्टिसिंग द पॉवर ऑफ नाउ, ए न्यू अर्थ*। वे विश्व भर में यात्रा करते रहते हैं लेकिन उनका निवास वैंकूवर, ब्रिटिश कोलंबिया, कनाडा में है।